में विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ क्योंकि उन्होंने मेरी इच्छा का सम्मान करके 'आत्म-विकास' को सुन्दर रूप में प्रकाशित करके यथाशीघ्र जनता के हाथों में पहुँचाने का शुद्ध प्रयास किया है। अन्त में मैं उन ग्रंथ-लेखकों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके उद्धृत वाक्यों से मेरे ग्रंथ का गौरव बढ़ा है। यथास्थान उन ग्रंथों या ग्रंथकारों का नामोल्लेख कर दिया गया है।

शीघ्र प्रकाशन के लिए मेरी व्यग्रता के कारण, इस पुस्तक में यत्र-तत्र कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। विधाता की सृष्टि भी दोषपूर्ण होती है; अतः मानव-कृति का सदोष होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

बसन्त-निवास

सुल्तानपुर

२२-३-४९

आनन्दकुमार

विषय-सूची

आत्म-विकास एक प्राकृतिक धर्म है क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही महत्त्वाकांक्षी जीव होता है। वह अपनी स्थिति से कभी संतुष्ट नहीं रहता, दूसरों से स्पर्द्धा करता है। संसार के संघर्ष-मय, प्रतियोगितामय जीवन में मनुष्य बिना आत्मोत्थान किये, बिना अपना एक निश्चित स्थान बनाये खड़ा नहीं रह सकता। सभी महत्त्वानुरागी हैं, सभी को जीविका, प्रतिष्ठा और सुख-प्राप्ति की चिन्ता रहती है, इसलिये सभी उनके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसी स्थिति में सबलता प्राप्त किये बिना जीवन में सफलता प्राप्त करना कठिन है। जगत् का यह प्राकृतिक नियम है कि अचर वस्तुएँ सचर प्राणियों-द्वारा भोग्य होती हैं और प्राणियों में कायर-प्राणी वीरों के अन्न (खाद्य) होते हैं। आत्म-विकास करना एक राष्ट्रीय-धर्म भी है क्योंकि, महात्मा गांधी के शब्दों में, यदि प्रत्येक व्यक्ति आत्मोद्धार कर ले तो सारे देश का उद्धार हो सकता है। नैतिक, भौतिक, व्यक्तिगत, सामा-जिक—सभी दृष्टियो से आत्म-विकास करना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना पूर्वज होता है। मनुष्य बाहरी साधनों की सहायता से नहीं, मुख्यतः आत्म-शक्ति-द्वारा ही आत्म-विकास करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपना विधाता स्वयं होता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर हमको जैसा बना देता है, हम वैसे ही नहीं बने रहते। हम वही हैं, जो हम अपने साधनों से

अपने को बनाते हैं। समाज हमारे ईश्वर-निर्मित रूप को उतना मान नहीं देता, जितना स्व-निर्मित रूप को। सभी द्विज हैं—एक रूप में वे मनुष्य होकर जन्म लेते हैं, दूसरे रूप में वे नर-देव, नर-पिशाच, नर-पशु या गर्दभ कहे एवं माने जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य अपने को जैसा बनाता है, उसी के अनुसार उसकी गणना होती है। मनुष्याकार का विशेष सम्मान नहीं होता, बल्कि गुण-कर्म के आधार पर मानवता, दानवता या पशुता की पहचान होती है। आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करने से भी इस सत्य को मानना पड़ेगा कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना पूर्वज होता है और अपने कर्म के अनुसार फल पाता है—विकास या विनाश को प्राप्त होता है; 'कर्मायत्तं फल पुंसा बुद्धिःकर्मानुसारिणी।'

महाजनो येन गत: स पंथाः

आत्मोन्नति कैसे की जाती है, या की जा सकती है—इस पर विचार करना चाहिए। जीवन का क्षेत्र बहुत व्यापक है; अनेक दिशाओं में लोग अनेक उपायों एवं साधनों से आगे बढ़ते हुए देखे जाते हैं। प्रतिभाशाली व्यक्ति अवसर के अनुकूल साधनों का निर्माण करते हैं। विलक्षण प्रतिभावाले प्रायः अपना मार्ग स्वयं बनाते हैं, दूसरों के मार्ग पर नहीं चलते। कहा भी है कि 'लीक छाँड़ि तीनों चलें सायर, सिंह, सपूत'—(कबीर)। ऐसी दशा में किसी एक मार्ग की ओर संकेत करके यह नहीं कहा जा सकता कि यही सफलता का मार्ग है। केवल कुछ ऐसे मूल गुणों की ओर संकेत किया जा सकता है जो सफल व्यक्तियों के मूल चरित्र में मिलते हैं। इनके आधार पर मनुष्य स्वयं साधना करके अपने जीवन-मार्ग को बना सकता है या ढूँढ़ सकता है। उचित रीति यही है कि जब तक अपने पैरों में बल और अपनी बुद्धि में स्वतंत्र विचार करने की शक्ति न आ जाय तब तक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति

महापुरुषों के मार्ग को ही अपना मार्ग माने। जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जीवन का विकास कैसे किया जाता है, इसको हम सत्पुरुषों द्वारा प्रयुक्त सिद्धान्तों के आधार पर संक्षेप में लिखेंगे।

आत्म-शक्ति का विकास

आत्म-शक्ति की दृढ़ता एवं सबलता सब जगह सफलता देती है। इसके लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

आत्म-विश्वास के बिना मनुष्य में स्वावलम्बन
आत्म-विश्वास की प्रवृत्ति ही नहीं उठती और स्वावलम्बन के
बिना वह अपने को उठाने में असमर्थ होता है।

महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को आत्म-सत्ता में सर्वाधिक विश्वास करना चाहिए। उसमें यह विश्वास होना चाहिये कि उसका जीवन निरर्थक नहीं है; उसमे कुछ विशेष शक्तियाँ हैं तभी ईश्वर ने उसको मानव-शरीर दिया है। वह तुच्छ होता तो मनुष्य का शरीर न पाकर खटमल या झींगुर का शरीर पाता। यदि आँख से देखने पर अपना शरीर मनुष्य-जैसा दिखलाई पड़ता है तो निश्चित रूप से विश्वास कर लेना चाहिये कि हम भी वही हो सकते हैं जो कि कोई अन्य मनुष्य-शरीरधारी हो चुका है और उसके साथ ही अपनी क्षण-भंगुरता पर नहीं, बल्कि अपनी ईशता पर विश्वास करना चाहिये। यह विश्वास आत्म-स्फूर्ति देता है, मनुष्य के सोये हुए बल को जगाता है।

सुप्रसिद्ध रूसी लेखक गोर्की ने एक बार अपने देश के किसानों के सामने भाषण देते हुए कहा था कि याद रखो कि तुम पृथ्वी के सबसे आवश्यक प्राणी हो—'Remember, you are the most necessary man on earth.'—कोई कारण नहीं कि कोई व्यक्ति अपने को अनावश्यक समझे। जब तक वह स्वयं अपने को आवश्यक न मानेगा, तब तक दूसरे उसको कैसे आव-

श्यक मानेंगे। अतएव, अपने साथ विश्वासघात न करना चाहिये; अपनी मनुष्यता को पहचानना चाहिये। महाकवि शेक्सपियर ने लिखा है कि सबसे बड़ी बात यह है कि अपने साथ सच्चे बनो–'This above all, to thine ownself be true.' अपने साथ सच्चे बनने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि मनुष्य अपने को धोखे में न रखे, अपने मनुष्यत्व और मनुष्य-सुलभ शक्तियों में विश्वास रखे; इस बात पर विश्वास करे कि वह शव की तरह इस भव-सागर में बहने के लिये नहीं फेंका गया है; वह जीवित प्राणी है। अतएव सजीव एवं शक्तिमान् बनकर इस भव-सागर को तैरकर पार करना उसका धर्म है।

आत्म-ज्ञान

दूसरी प्रधान आवश्यकता है आत्म-ज्ञान की। आत्म-ज्ञान का अर्थ है—अपने को पूर्ण रूप से पहचानना, अपने बलाबल को जानना, अपनी साधक और बाधक चित्त-प्रवृत्तियों को समझना। अपनी इच्छाओं, कल्पनाओं और विचार-धाराओं एवं शरीर-सामर्थ्य को तौलना ही आत्म-ज्ञान है। प्राचीन नीतिकार अप्पय दीक्षित ने लिखा है कि नीतिशास्त्र के पंडित, ज्योतिषी, चतुर्वेदी, शास्त्री और ब्रह्म-ज्ञानी बहुत मिलते हैं, परन्तु अपने अज्ञान को समझने वाले विरले ही मिलते हैं—

नीतिज्ञा नियतिज्ञा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञाः।
ब्रह्मज्ञा अपि लभ्या स्वाज्ञानज्ञानिनो विरला॥

अपने अज्ञान, अपनी अपूर्णता और असमर्थता को समझकर ही अपने को संस्कारित, ज्ञान-गुण से समर्द्धित तथा आत्म-शक्ति से समृद्ध बनाया जा सकता है।

आत्म-ज्ञानी वही हो सकता है जो सचाई के साथ स्वयं आत्म-स्वरूप को देखे। शरीर-शास्त्री डाक्टर

आत्म-शुद्धि

आत्म-ज्ञानी नहीं माना जायगा। कोई भी व्यक्ति जो अपनी समर्थता और विवशता का विवेचन कर सके, आत्म-ज्ञानी हो सकता है। आत्म-ज्ञान के बाद आत्म-शुद्ध की परम आवश्यकता होती है; क्योंकि आत्मा की दैवी-सम्पत्तियों को अनेक आसुरी सम्पत्तियाँ या प्रवृत्तियाँ उसी प्रकार घेरे रहती हैं जैसे प्राचीन ऋषि-मुनियों को दिन में भी निशाचर घेरे रहते थे। अपनी मनोव्याधियों से मुक्त होकर ही मनुष्य स्वस्थचित्त होकर आत्म-विकास कर सकता है। अतएव आत्म-शुद्धि नितान्त आवश्यक है। यह आत्म-शुद्धि रेंडी का तेल पीने से नहीं, वल्कि मन के मिथ्या विकारों को भगाने से होती है।

मानसिक व्याधियों की सेना बहुत बड़ी है। उनमें से अधिकांश भय से उत्पन्न होकर स्वयं भयोत्पादक हो जाती हैं—जैसे किसी माँ की लड़की कुछ दिनों में स्वयं माँ बन जाती है। मानसिक भीरुता जीवन की प्रगति को रोक देती है; इसलिये उसके विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है। भय मुख्यतः इन कारणों से उत्पन्न होता है—

अज्ञान—किसी विषय को जब मनुष्य नहीं समझता तो उससे डरता है। अंधेरी कोठरी में जाने से पहले जिस प्रकार भय लगता है, वैसे ही किसी काम में अनभिज्ञ होने पर उसको करने में डर लगता है। प्रकाश से भय स्वभावतः नष्ट हो जाता है—वह चाहे सूर्य-प्रकाश हो या आत्म-प्रकाश अथवा ज्ञान-प्रकाश।

संशय—किसी बात को न समझने से जो संदेह उत्पन्न होता है अथवा समझने पर भी स्वभाववश जो विचिकित्सा की भावना होती है उससे भय तत्काल उत्पन्न होता है। मन में शंका होने

पर छोटी वस्तु भी बड़ी लगती है, झाड़ी में भी भूत दिखलाई पड़ता है। सन्देह से भ्रम और भ्रम से निराशा उत्पन्न होती है।

उदासीनता—नीरसता या उदासीनता से जीवन-रथ के दो मुख्य घोड़े—आशा और उत्साह—मर जाते है और मनुष्य को संसार अंधकारमय, मायामय और भयदायक लगता है। विरक्ति से निर्भीकता की नहीं बल्कि निराशा और भय की सृष्टि होती है।

अनिश्चितता—मन की अस्थिरता या अनिश्चितता अथवा उच्छृंखलता से जो व्यग्रता उत्पन्न होती है, वह भी अन्ततः भय का कारण होती है। मनुष्य जब दृढ़मति होकर सप्रयोजन एक निश्चित दिशा की ओर नियम से चलता है तो संकटपूर्ण परिस्थिति में भी उसको भय नहीं लगता।

अनैतिकता—यह भय की बड़ी माँ है। चरित्र की निर्बलता से मनुष्य पद-पद पर डरता है। शारीरिक अपराध से ही नहीं, मानसिक अपराध से भी उसके भय का बीजारोपण होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, स्वार्थ, घृणा, प्रतिकार-भावना और अनुचित पक्षपात से भीतर-भीतर आत्मा काँपती है। मिथ्या भाषण, मिथ्या-व्यवहार अथवा मिथ्या-विश्वास या अन्ध-विश्वास से तो भय अवश्य ही बढ़ता है। हिंसा या क्रूरता से भय का भयानक संचार होता है। फ्रांस के एक महामान्य ग्रन्थ-कार ने लिखा है कि अत्याचार और भय परस्पर हाथ मिलाते हैं, एक-दूसरे के सखा होते है—'Cruelty and fear shake hands togather'-(Balzac)। भयभीत दशा में मनुष्य क्रूरता करता है और क्रूरता करने के बाद उसको भय लगता है। मनुष्य अनैतिक आचरण से भयभीत होता है और भयभीत होने पर अनैतिक आचरण करता है। नैतिक पक्ष प्रबल होने पर एक व्यक्ति में भी दस हज़ार व्यक्तियों का मनोबल आ जाता है।

अशक्तता—भय और अशक्तता भी एक-दूसरे के बाप-बेटे हैं। किसी भी प्रकार की निर्बलता में प्रतिपक्षी की चिन्ता होती है। स्वास्थ्य के निर्बल होने पर रोग का, मन के निर्बल होने पर परिस्थितियों का, और व्यक्तित्व के निर्बल होने पर शत्रु का भय मन में आता है। इसी प्रकार भय-त्रस्त रहने पर सभी बातों में अशक्तता आ जाती है। घबड़ाहट और रोगजन्य अशक्तता—दोनों से नाड़ी की गति बढ़ती है, हृदय धड़कता है। इसी से समझना चाहिये कि भय और अशक्तता का प्रभाव एक-सा होता है। जब मनुष्य अपने को अशक्त पाता है, तभी वह वेदना या वेदना की कल्पना से भयाक्रान्त होता है। छोटे बच्चे अशक्त होते हैं तभी तो वे बात-बात में डरकर चिल्लाते हैं। अशक्त होने पर दूसरों से ही नहीं, अपने से भी डर लगता है। क्षीणकाय व्यक्ति सदैव डरता है कि कहीं उसके हृदय की गति न रुक जाय। शरीर और मन से दुर्बल बच्चे कभी-कभी अपने चिल्लाने की आवाज़ से चौंकते हैं।

अयोग्यता—अयोग्यता के कारण मनुष्य को यह भय सदा बना रहता है कि कहीं कोई भूल न हो जाय और उस भय से प्रायः भूल हो ही जाती है क्योंकि मन में भय रहने से रही-सही योग्यता भी स्फुटित नहीं होने पाती, मनुष्य की बोली तक बन्द हो जाती है, वह हक्का-बक्का हो जाता है।

अकर्मण्यता—हाथ पर हाथ रखकर बैठने से भय मुँह खोलकर सामने खड़ा हो जाता है। आलस्य से पुरुषार्थ क्षीण हो जाता है और भयंकर परिस्थितियाँ मनुष्य को दबा लेती हैं। उसको चारों ओर भय के भूत ही दिखलाई पड़ते हैं। काम के साथ भय निश्चित रूप से समाप्त हो जाता है। जब मनुष्य एक दिशा में चल पड़ता है तो भय उसके पैरों के नीचे आ जाता है।

युद्ध-स्थलों में यह देखा गया है कि युद्धारम्भ के पूर्व बहुत-से सिपाही भावी संहार की कल्पना से भयभीत रहते हैं परन्तु युद्ध के प्रारम्भ होने पर भीत सैनिक भी गोलियों की बौछार में निर्भय होकर दौड़ता है। इसका कारण केवल यह है कि कर्मोद्यत होने पर भय समाप्त हो जाता है; तब मनुष्य अपनी मृत्यु से भी नहीं डरता। शारीरिक श्रम से मन का भय निश्चय ही भागता है। आलस्य में कल्पना-जन्य भय से अपनी निस्सहायावस्था का जो अनुभव होता है वह महा आत्मनाशी होता है। शारीरिक एवं मानसिक शिथिलता के कारण ही प्रायः जीवन में असफलता होती है।

दीनता—चाहे परिवार की दीनता हो या स्वभाव की अथवा साहस-उत्साह की या धन की, वह भय उपजाती है। आर्थिक दीनता से असमर्थता ज्ञात होती है। पारिवारिक दीनता से मनुष्य अपने को हीन मानकर दूसरों से डरता है। स्वभाव की दीनता से स्वामी होने पर भी मनुष्य अपने सेवकों तक से डरता है। दीन व्यक्ति सदैव हीन-चित्त एवं आकुल-व्याकुल रहता है।

परवशता—परवशता में सर्वत्र भय ही भय का सामना करना पड़ता है। परवशता हम उस परिस्थिति को कहते हैं, जिसमें मनुष्य अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को खो देता है। उस दशा में वह स्वावलम्बी न होकर पूर्णरूपेण परावलम्बी बन जाता है। पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ स्वतत्र व्यक्तित्व बना लेने पर मनुष्य निर्भय हो जाता है। अपने को किसी के आश्रित कर देने पर अथवा भीड़ का एक अंग बना देने पर आत्म-शक्ति क्षीण हो जाती है। भीड़ मे अन्धविश्वास और उसके कारण भय के भाव उठते हैं। भीड़ में मिले रहने पर यदि किसी ओर भय का संचार हुआ तो भगदड़ मच जाती है, लोगों में परिस्थिति को समझने या उसका सामना करने की योग्यता नहीं रह जाती। भीड़ में भेड़ बनने की प्रवृत्ति उठती है।

अकेले रहने पर धैर्य सबल होता है। कोई कुत्ता भी अकेले रहने पर जब विषम परिस्थिति में पड़ता है तो तनकर मुकाबला करता है। नेपोलियन का कहना था कि जो अकेले चलते है वे तेजी से बढ़ते हैं–'They walk with speed who walk alone'–और यही निर्भीक हिटलर का भी मत था कि साहसी व्यक्ति यदि अकेला रहे तो महासाहसी बन जाता है—'The strong man is stronger if he remains alone!'—इसका तात्पर्य यह है कि स्वतंत्र अधिकारी बनने से भय का निवारण होता है।

असहनशीलता—असहनशीलता से भय खड़ा होता है। असहनशील होने पर मनुष्य स्वभाववश छोटी-छोटी बातों को भी भयंकर समझता है, क्रोध करता है और अन्त में विषाद, पश्चात्ताप तथा लोक-भय से पीड़ित होता है। भावोन्माद से असहनशीलता तीव्र होती है और भावोन्माद या भावुकता से भय की भावना भी तीव्र होती है।

व्यसन—प्रत्येक व्यसन भयकारी होता है, क्योंकि बन्धन-ग्रस्त प्राणी भयभीत रहता ही है। किसी सुख से परिचित होने पर उससे आसक्ति होती है और परिणामतः दु:ख से द्वेष तथा भावी कष्ट की कल्पना से भय उत्पन्न होता है। व्यसनी या विलासी व्यक्ति भय से निर्मुक्त होता हुआ नहीं देखा जाता।

श्रद्धा-विश्वास की कमी—श्रद्धा और विश्वास की कमी से आत्म-असमर्थता का अनुभव होता है और यह भय लगा रहता है कि सारा संसार हमारे ही ऊपर आक्रमण करने को तैयार है। सुप्रसिद्ध जार्ज इलियट ने लिखा है कि अविश्वास से बढ़कर एकाकीपन और कौन होगा, अर्थात् उससे अपनी निस्सहायावस्था की कल्पना उठती है—'What loneliness is more lonely than distrust.'–गांधीजी ने भी कहा है कि विश्वास करना एक

धर्म है; अविश्वास करना दुर्बलता है–'To trust is a virtue. It is weakness that begets distrust.'–और हम जानते हैं कि गांधीजी अपने शत्रु पर भी विश्वास करके सदैव भय-निर्मुक्त रहते थे। अविश्वास से दुराशा ही जन्मती है और दुराशा के गर्भ से भय नामक आत्मज पैदा होता है।

भय को आधार मानकर हमने अनेक मनोव्याधियों का निर्देश ऊपर कर दिया है। संक्षेप मे यही जानना चाहिए कि जब तक मस्तिष्क शुद्ध एव सुव्यवस्थित नहीं होता तब तक मनुष्य विवेक-पूर्वक अपने कर्तव्य का निश्चय नही कर सकता। स्वाभाविक भीरुता, निराशा, अस्थिरता, उद्विग्नता अथवा अनभिज्ञता या अनुभवहीनता के कारण जब मन अस्तव्यस्त रहता है तो सारा जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। उस अवस्था में मन में द्वन्द्व या द्विविधात्मक भाव उठते हैं और मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। किंकर्त्तव्यविमूढ़ होने पर भयंकर परिस्थितियाँ उठ खड़ी होती हैं। जीवन के बहुत-से काम चित्त की अस्तव्यस्तता और भय के कारण बिगड़ते है। हिटलर इस मनोवैज्ञानिक रहस्य को जानता था। सन् १६३३ मे राज्य-प्रधान होने पर उसने कहा था— हम शत्रु को बाहरी साधनो से नहीं, बल्कि उसी के द्वारा जीतेंगे; भीतर-ही-भीतर हम उसको नष्ट करके उस पर विजय प्राप्त करेंगे। यही हमारी योजना है। घबड़ाहट, परस्पर-विरोधी विचारों का संघर्ष, अनिश्चितता, भयंकर त्रास की भावना—यही हमारे हथियार होंगे?

'Our strategy is to destroy the enemy from within, to conquer him through himself. Mental confusion, contradiction of feelings, indecision, panic—these are our weapons.'—Hitler.

और हम जानते हैं कि हिटलर ने कई अवसरों पर शत्रु-जनता के चित्त को डॉवाडोल एवं भय-संत्रस्त बनाकर उसको नष्ट कर दिया था। किसी पुराण में भी इस सम्बन्ध में एक कथा है। एक बार यमराज ने दूतों को बुलाकर कहा कि मुझे चार सौ मृत प्राणियों की आवश्यकता है, जाकर लाओ। दूत ४०० मनुष्यों को मारने के लिए व्याधियों आदि के संहारक अस्त्र-शस्त्र लेकर संसार में पहुँचे। चार सौ के स्थान पर वे आठ सौ मृत प्राणी लेकर यमराज के सम्मुख पहुँचे तो यमराज ने बिगड़कर अनावश्यक व्यक्तियों को लाने का कारण पूछा। दूतों ने कहा कि हम क्या करें; हम तो चार सौ व्यक्तियों को मार रहे थे, चलते समय ज्ञात हुआ कि उस हत्याकांड से भयभीत होकर चार सौ व्यक्ति अपने-आप और मर गये हैं। अतः उनके प्राणों को भी लाना पड़ा।

इस कथा के मर्म को समझिये। वह यह है कि अधिकांश लोग बिना मारे मरते हैं। उनके मन में भय का भूत समाया रहता है। वह भूत मस्तिष्क की अशुद्धता से आता है क्योंकि भूत-वादियों के भूत भी गन्दी जगहों में, खंडहरों और श्मशानों ही में रहते हुए सुने जाते हैं—देव-मन्दिरों और सज्जनों के घर में नहीं। भय से जब अपना ही पैर लड़खड़ाने लगता है तो मनुष्य जीवन-संग्राम में खड़ा नहीं रह सकता।

अतएव आत्मोत्थान करने के लिए मन को शंकारहित, स्वच्छ बनाना चाहिए; उसके कुसंस्कारों को मिटाना चाहिए। उनके मिटाने पर ही निर्मुक्त आत्मा उसी प्रकार चैतन्य होगी जैसे किसी की स्वतन्त्र मातृभूमि। यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्म-शुद्धि एक दिन में या एक बार में नहीं होती। इसके लिए दैनिक-अभ्यास करना पड़ता है कि मस्तिष्क में मैल न बैठे। कर्तव्य करते समय जहाँ मन भयभीत हो वहाँ समझना चाहिए कि

मस्तिष्क विकार-ग्रस्त है और जहाँ कर्तव्य करने की प्रेरणा या किसी काम को ठीक समझते हुए भी उसको करने का साहस न पैदा हो वहाँ मानना चाहिए कि मन में कायरता है, भय है, कापुरुपता है।

आत्म-शुद्धि का कार्य तभी ठीक-ठीक चल सकता है जब साथ-साथ आत्म-संयम का कार्यक्रम भी चलता रहे।

आत्म-संयम मस्तिष्क तो विचारों का भूखा रहता है। यदि कोई चाहता है कि वह दुर्विचारों से पोपित न हो तो उसके स्थान पर सद्विचारों का प्रबन्ध करना पड़ेगा। सद्विचारों का अर्थ है, अपनी मूल-प्रवृत्तियों को जगाना और सुव्यवस्थित करना। मूल-प्रवृत्तियों में सत्य, अहिंसा मुख्य हैं। सत्य से अधिक शुद्ध और सरल वस्तु कोई अन्य नहीं हो सकती। सत्य और अहिंसा के आधार पर ही प्रकृति का कार्य चलता है, अतएव प्रकृति के प्रधान प्रतीक—मानव के यही मूल-धर्म हैं। क्रूरता और धूर्तता आदि पशु-धर्म हैं। प्रत्यक्ष जगत् में हम देखते हैं कि सत्य की अन्त में विजय होती है। धन और मान आदि न्याय से अर्जित होने पर ही सुरक्षित एवं चिरस्थायी रहते हैं। अन्यायी अन्त में हारते है। पतंजलि ने सत्य लिखा है कि सत्य-प्रतिष्ठित होने से क्रियाफल स्वाधीन हो जाता है—'सत्यप्रतिष्ठायां क्रिया-फलाश्रयत्वम्।' सत्य ही से परम मानव-धर्म अहिंसा भी सिद्ध होता है। व्यास के मत से—'अहिंसा परमोधर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः।' अहिंसा का अर्थ है सहृदयता। उसको जीव-रक्षा के अर्थ में ही न लेना चाहिए। स्वभाव एवं चरित्र की सरलता एवं उदारता से सत्य-अहिंसा की विज्ञापना होती है। इन गुणों से पारस्परिक विश्वास बढ़ता है और यह स्मरण रखना चाहिए कि विश्वास ही लोक-जीवन का धारक है। संसार के सूत्र में बंध-

कर आगे बढ़ने के लिए विश्वासपात्र बनना परमावश्यक है।

इनके अतिरिक्त अन्य प्रमुख आत्म-विकास भाव हैं—आशा उत्साह, साहस और धैर्य। आशा मानव-आत्मा का एक विशेष गुण है, क्योंकि हम देखते है कि जब तक शरीर मे प्राण रहता है, तब तक आशा उसके साथ बँधी रहती है। अतएव उसको दबाना न चाहिए और उसको अंधकारमय न बनाना चाहिये। उज्ज्वल भविष्य की आशा रखने से आत्म-स्फूर्ति चिर-जागृत रहती हैं। उत्साह से बढ़कर संसार मे कोई बल नहीं है, ऐसा व्यास ने कहा है—'नास्त्युत्साहात् परं बल।' आदिकवि के मत से उत्साह द्वारा ससार मे कुछ भी दुष्प्राप्य नही है—'सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम्।' और उन्ही के शब्दो में हनूमान के मत से उत्साह ही सदैव सब कार्यों की सफलता का कारण होता है —'अनिर्वेदोहि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्त्तक·।' साहस से पुरुषार्थ और मनोबल सिद्ध होता है। इस वर्ग के गुणो में धैर्य का स्थान बहुत ऊँचा है। आशा, विश्वास, उत्साह और साहस आदि से उत्पन्न मनस्विता का धारक धैर्य ही होता है। धैर्य के बिना सभी मानस-शक्तियाँ अल्प-जीवी होती हैं। कैसा भी उत्साह-सम्पन्न या साहसी व्यक्ति हो, यदि वह धैर्य-स्खलित होगा तो हताश होकर कहीं-न-कहीं बैठ जायगा, विघ्न पड़ने पर कार्य-सिद्धि के पूर्व ही कर्म-घात करेगा और एक बार गरमाकर फिर ठंडा पड़ जायगा। जीवन के सभी क्षेत्रों में धैर्य सफलतादायक होता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आविष्कारकों को देखिये, बार-बार विफल होकर भी वे हार नहीं मानते। बिजली का आविष्कार करते समय एडिसन को ६०० प्रयोगों में असफलता ही मिली थी, परन्तु वह धैर्य-च्युत नहीं हुआ। अन्त में उसने बिजली का आविष्कार कर ही लिया। राजनीति के क्षेत्र में गांधीजी के प्रयासों को देखिये। बार-बार

हारकर भी वे मैदान में धैर्यपूर्वक खड़े ही मिलते थे। अन्त में वे विजयी हुए। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध भूतपूर्व प्रधानमन्त्री विलियम पिट ने एक बार कई विद्वानो से पूछा कि प्रधानमन्त्री के लिए सबसे आवश्यक गुण कौन-सा होना चाहिये ? किसी ने कहा—परिश्रम, किसी ने उत्साह, किसी ने वाक्-पटुता। पिट ने कहा कि धीरता से बढ़कर शासक के लिये अन्य गुण नहीं हो सकता। उस अनुभवी प्रधानमन्त्री का कथन सत्य था। हम भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि धीरता और बुद्धिमत्ता से सरदार वल्लभभाई पटेल ने धीरे-धीरे लगभग ६०० ऐसे महाराजाओं के राज-मुकट उतरवा लिये जिनमें से प्रत्येक महीपाल, धर्मावतार, नरेश, अन्नदाता और न जाने क्या-क्या बना हुआ था। वह शासक की बुद्धि-धीरता का ही प्रभाव है। जिस धीरता से कृष्ण ने (हिंसात्मक ढंग से कुरुक्षेत्र में हजारों राजाओं के सिर उतरवाकर) भारतीय एकता की स्थापना की थी, जिस धीरता से चाणक्य ने (कूट-नीति और शत्रु-वध का आश्रय लेकर) अखंड मौर्य-साम्राज्य की नींव डाली थी, उसी धीरता से पटेल ने (अहिंसात्मक रीति से अनेक सत्ताधिकारियों का नैतिक वध करके) भारतीय एकता को दृढ़ बनाया है।

यही कुछ मानसिक विभूतियाँ हैं जिनके संचय से पौरुष दृढ़ होता है, पराक्रम सिद्ध होता है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के भी यही विशेष गुण थे। सीता ने लंका में उनके इन्हीं गुणों का स्मरण करके हनुमान से कहा था कि उत्साह, पौरुष, बल, अक्रूरता, कृतज्ञता, विक्रम, प्रभाव—ये सब गुण राम के हैं—

> उत्साहः पौरुष सत्त्वमानृशंस्य कृतज्ञता।
> विक्रमश्च, प्रभावश्च, सन्ति वानर राघवे ॥"—रामायण।

इस स्थान पर हम फिर यही कहेंगे कि 'महाजनो येन गतः

स पंथः।' चित्तसंयम द्वारा अपनी सामर्थ्य-शक्ति को सगठित एवं प्रतीव्र बनाकर ही मनुष्य जीवन मे विजय की आशा कर सकता है। आत्म-संयम से अपने स्वास्थ्य, चरित्र, स्वभाव तथा ज्ञान—इन चारो का संस्कार करनी चाहिए। इनके सयमित होने से इच्छा-शक्ति स्वभावतः बलवती होती है।

सकल्प

अपनी इच्छाओ को जगाकर देखना चाहिये कि उनमें सबसे प्रबल इच्छा कौन-सी है? सब के मन में एक-न-एक इच्छा प्रधान होती है और उसी की ओर उनके मस्तिष्क का स्वाभाविक झुकाव होता है। साधारण मनोयोग से अपनी रुचि का पता चल जाता है। सामान्य इच्छाओं को त्यागकर एक विशिष्ट इच्छा को पकड़ना चाहिये। साहित्य, व्यापार, राजनीति, विज्ञान या कला-कौशल जो भी स्वभाव के अनुकूल जान पड़े उसी को अपना प्रमुख विषय, मानना चाहिये, उसी के पीछे मनोरथ को दौड़ाना चाहिये।

प्रबल तरंग को पकड़कर तब निश्चयात्मक-बुद्धि से विचार करना चाहिये कि क्या बनना है, कैसे बनना है? इसका दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि अपनी मनोकामना को पूर्ण करके हमें ऐश्वर्यवान् बनना है। जीवन का एक आदर्श बनाकर उसकी पूर्ति का संकल्प करने से जीवन का राज-मार्ग सामने दिखलाई पड़ने लगता है, भीतर से उद्योग करने की आत्म-प्रेरणा होती है। लक्ष्य का निश्चय करके कल्पना को दौड़ाना चाहिये। मस्तिष्क का कल्पना-तत्त्व ही उसका प्रधान शिल्पी या चित्रकार है। वह जीवन के भविष्य का सुन्दर-से-सुन्दर मानचित्र बना सकता है। उसी के अनुसार बुद्धि उपाय सोचती है, विचारों को साकार बनाने की चेष्टा करती है और जो कमी होती है उसकी पूर्ति बाहरी ज्ञान या शक्ति से करती है। अतएव कल्पना को दूर तक

दौड़ाना चाहिए, दूरदर्शी बनना चाहिये ।

निश्चित कार्यक्रम बनाकर उसके अनुसार उद्यम करने से ही सफलता मिलती है । उद्योग के बिना मनोरथ कभी सफल नहीं होते, इसको स्मरण रखना चाहिये । उद्योग ही सच्चा पुरुषार्थ है । उद्योग

उद्योग

आत्म-विकास का मूलमंत्र है । नेपोलियन ने एक बार कहा था कि मैंने कर्मोद्योग से ही अपने को बहुगुणित किया है—

'I multiplied myself by my activity.'—Napoleon.।

इस सम्बन्ध में विद्वान् कार्लाइल के इस मत को ग्रहण करना चाहिये—जीवन का एक लक्ष्य बनाओ और उसके बाद ईश्वर ने तुम्हें जितना शारीरिक सम्बल और मनोबल दिया है उसको कार्य-पूर्ति के निमित्त लगादो—

'Have a purpose in life and having it throw into your work such strength of mind and muscle as God has given you.'—Carlyle.

महाप्रतिभाशाली और महोद्योगी जार्ज बर्नार्ड शॉ ने थोड़े ही दिनों पहले अपना नब्बेवाँ (९०) जन्मदिन मनाते हुए सफलता का एक मुष्टियोग बताया था । शॉ के कथनानुसार आनन्दमय जीवन बिताने का उपाय यही है कि मनुष्य तन्मय होकर अपने को मनोनुकूल कार्य में व्यस्त रखे और सुख-दुःख की चिन्ता के लिये अपना कुछ भी समय न दे—

'The way to have a happy life is to be busy doing what you like all the time, having no time left to consider whether you are happy or not.' —G. B. Shaw.

स्वपुत्र संजय से कहा हुआ विदुला का यह वचन भी कण्ठस्थ

रखने योग्य है—उठो, आलस्य को त्यागो, कल्याण-कर्म में अपने को लगाओ। इस भाँति मन को चिन्तामुक्त करके कार्य करोगे तो अवश्य सफल होगे।

"उत्थातव्य जागृतव्य योक्तव्य भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥"—महाभारत

अनन्य अनुभवी विद्वान् व्यास का कथन भी ध्यान में रखने योग्य है—बुद्धि, प्रभाव, तेज, बल, उठने की इच्छा, उद्योग—ये सब जिस मनुष्य में हों उसको जीविका का क्या भय हो सकता है।

"बुद्धिः प्रभाव तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च।
व्यवसायश्च यस्य स्यात्तस्याऽवृत्ति भयं कुतः ॥"—महाभारत

अध्यवसाय

उद्योगारम्भ करके उसको एक लगन के साथ अन्त तक निभाने से ही कार्यसिद्धि मिलती है। कर्मयोजना के अनुसार निरन्तर परिश्रम करने को अध्यवसाय कहते हैं। कौटिल्य के मत से इसी को व्यायाम कहते हैं—'कर्मारम्भाणां योगाराधनो व्यायामः।' सावधानी के साथ एक दिशा में एकाग्रचित्त से चिन्तन, सम्पूर्ण पुरुषार्थ से कार्याभ्यास और लक्ष्य का अनुशीलन करना अध्यवसाय या व्यायाम है। यही कर्म-साधना है। यह साधना प्रतिदिन प्रत्येक क्षण करनी पड़ती है।

कर्मोपासना मे अनेक दैनिक बाधाये, विवशताये, विफलताये पग-पग पर मिलती है। उन पर विजय प्राप्त करने से ही मनोरथ सफल होता है। अतएव कर्म-मार्ग मे संकटो को झेलने के लिए तैयार रहना चाहिए। क्रिया-मदता और क्रम-हीनता से कर्म-घात न करना चाहिए। साधारण प्रलोभन मे पड़कर मुख्य व्यवसाय को न भूलना चाहिए। एक रूसी कहावत है कि जब

हल जोतने चलो तो अगल-बगल कोई चुहिया देखकर उसको पकड़ने में समय न गँवाओ। अपनी स्मृति को ठीक रखना चाहिए क्योंकि स्मृति-नाश से पीछे के अनुभव आगे सहायक नहीं होते और योजना-क्रम ठीक नहीं चलता। आत्म-विस्मृति से भी बचना चाहिये। परिश्रम से थोड़ी सफलता पाकर कार्य-गति को शिथिल बनाने से लक्ष्य-देवता दूर भाग जाते हैं। आत्म-विस्मृति से मनुष्य को समय का ज्ञान नहीं रहता। दुःख के बाद जब एकाएक सुख मिलता है तो कालज्ञ मुनि तक अपने को तथा अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं और समय को नहीं पहचानते। तपस्वी विश्वामित्र को मेनका के साथ व्यतीत किए हुए दस वर्ष एक दिन के समान प्रतीत हुए थे। ऐसे ही विष्णु-पुराण-वर्णित एक कण्डु ऋषि थे जो प्रम्लोचा नामक अप्सरा पर मुग्ध होकर जप-तप को भूल गये थे। ९०७ वर्ष, ६ महीने, ३ दिन उसके साथ गोमती तट पर रहकर वे अपने को भूले रहे। जब वह जाने लगी तो महर्षि कमण्डलु लेकर सन्ध्योपासना करने चले। इस पर अप्सरा ने पूछा कि आज इतने दिन बाद आपको सन्ध्या-वन्दन का ध्यान कैसे आया? तब मुनि ने कहा कि क्या कहती हो, अभी कल शाम को उपासना कर चुका हूँ, आज फिर जा रहा हूँ। सुख के इतने दिन उनको एक दिन ही प्रतीत हुए!

कहने का तात्पर्य यह है कि सजग होकर, समय की गति और अपने मूल प्रयोजन को ध्यान में रखकर अथक परिश्रम करना चाहिए। कहीं मार्ग भूलकर पथ-भ्रांत न होना चाहिए। उससे अध्यवसाय खंडित होता है। साथ ही, आकस्मिक घटनाओं और विपदाओं से विचलित न होना चाहिए। इंगलैंड के एक सुप्रसिद्ध भूतपूर्व प्रधानमन्त्री के इस कथन को याद रखना

चाहिये कि बहुत-सी और बड़ी ग़लतियाँ किये बिना कोई व्यक्ति महान् नहीं बनता—

'No man ever becomes great or good except through many and great mistakes.'—Gladstone.

अपनी ग़लतियों से आगे की शिक्षा लेते हुए और अपने को सुधारते हुये सतत उद्योग करने मे बुद्धिमानी है। आत्मिक विकास करने वाले को यह समझ रखना चाहिये कि कर्म त्याग प्राण-त्याग से कम भयंकर नहीं होता। इस लोक को कर्मलोक कहते हैं—'कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्'—(महाभारत)। इसमे कर्म की ही प्रधानता है—'कर्म-प्रधान विश्व करि राखा'—(तुलसी)। अतएव कर्म-नाश से आत्म-नाश होना स्वाभाविक है। आत्मिक विकास के सम्बन्ध मे यही मुख्य-मुख्य बाते हैं। जीवन-क्षेत्र में इन्हीं आत्म-साधनों से सर्वत्र सफलता मिलती है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक साधन है जिनका उपयोग आत्मोत्थान के लिये करना पड़ता है। उनका भी संक्षिप्त परिचय हम आगे देते है।

ज्ञान का विकास

ज्ञान आत्मोन्नति मे परम सहायक होता है। उससे ही बुद्धि का संशोधन होता है। ज्ञान के साथ विवाह करके बुद्धि योग्यता, प्रगल्भता व सफलता की जननी बनती है। ज्ञानोपार्जन से बुद्धिमान् व्यक्ति सहस्रधी एवं सहस्राक्ष बनता है। ईश्वर की सर्वप्रधानता का एक कारण यह भी है कि वह सर्वज्ञ है। मनुष्य छोटे-से जीवन में सम्भवतः सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता, परन्तु बहुज्ञ अवश्य हो सकता है। जो जितना अधिक जानता है, वह उतना ही स्वतंत्र एवं सामान्य होता है; उसका क्षेत्र उतना ही व्यापक होता है।

ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। प्राकृतिक ज्ञान का समुद्र

इतना अगाध है कि हज़ारों वर्षों के परिश्रम से भी मनुष्य अभी तक उसकी गहराई नहीं नाप सका है। साधारण परमाणु की शक्ति तक का अभी तक उसको पूरा पता नहीं था। कौन जानता था कि वे यम के दूत भी हैं। ज्ञान की असीमता को देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता कि अब हमें कुछ सीखने को नहीं है। जीवन को विकासशील बनाने के लिये सदैव कुछ-न-कुछ ज्ञानोपार्जन करना आवश्यक है। कुछ-न-कुछ का यह अर्थ नहीं कि जो भी सामने मिले उसी को हृदयंगम कर लिया जाय।

इस सम्बन्ध में चाणक्य का यह मत है कि शास्त्र असंख्य हैं, विद्यायें भी बहुसंख्यक हैं, समय कम है, बाधायें अनेक हैं, अतएव हंस जिस प्रकार पानी में मिले दूध को अलग करके ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो सार-रूप हो उसी को ग्रहण करना चाहिये—

अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्या,
अल्पश्च कालो बहु विघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीय,
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥—चाणक्य

उसी ज्ञान का संचय करना चाहिए जो उपयोगी हो, भ्रम-शून्य अर्थात् यथार्थ हो, जिससे मस्तिष्क का भरण ही नहीं, मुख्यतः उसका पोषण हो, जिससे जानकारी ही न बढ़े बल्कि आत्म-निर्माण भी हो। मस्तिष्क के भीतर पर्य्याप्त स्थान होता है, उसमें कौतुकालय न बनाकर कार्यालय बनाना चाहिए, जिससे लोकोपयोगी कर्म हो सके और अपना लाभ भी।

ज्ञान के विषय को ठीक से समझकर तब देखना चाहिए कि किन साधनों से उसका संचय हो सकता है। ज्ञान के दो भेद हैं—(१) ज्ञान, और (२) विज्ञान। शास्त्रीय ज्ञान को 'ज्ञान'

कहते हैं। प्रयोगात्मक, रचनात्मक या व्यवसायात्मक अनुभव-सिद्ध एवं अभ्यास-साध्य ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं। शुक्राचार्य के मत से वाणी-सम्बन्धी कर्मों को विद्या और ऐसा कर्म जो बिना वाणी के सहयोग के भी किया जा सके, कला कहते हैं। विद्या और कला को हम क्रमशः ज्ञान और विज्ञान कह सकते है। संक्षेप मे ज्ञान-विज्ञान, विद्या-कला का यही परिचय है। इनकी प्राप्ति के मुख्य साधन ये हैं—स्वानुभूति, जिज्ञासा, स्वाध्याय, शिक्षा और अनुभव तथा अभ्यास।

स्वानुभूति

बहुत-सा ज्ञान बुद्धि की चैतन्यता, एकाग्रता एवं जागरूकता से स्वयं प्रस्फुरित होता है। आत्म-तत्त्व और मानवता का मर्म स्वानुभूति से ही ज्ञात होता है। मस्तिष्क की खिड़कियो को खोल देने से आत्म-ज्ञान तो प्रकाशित होता ही है, साथ ही बाहर के ज्ञान-प्रकाश की किरणें भी अपने-आप मानस-मन्दिर में प्रवेश करती हैं। मानस-पट स्वच्छ रहने पर उस पर दूसरों के चरित्र की छाप चुपचाप अंकित होती है और उसके अनुसार मनुष्य को कर्त्तव्यज्ञान की स्वानुभूति होती है। बुद्धि को सक्रिय रखने से बहुत-सा ज्ञान आत्मा-द्वारा ही सुलभ हो जाता है क्योंकि वह (आत्मा) स्वयं कई घाट का पानी पिये रहती है।

जिज्ञासा

यदि मनुष्य अपनी बुद्धि की जिज्ञासा को सचेत रखे, अपनी प्राकृतिक ज्ञान-पिपासा को शान्त न होने दे और प्रत्येक न समझ में आने वाले रहस्य को कौतूहल की दृष्टि से देखकर समझने का सहज प्रयत्न करे तो मस्तिष्क ज्ञान-समृद्ध हो जाता है। प्रसिद्ध अंग्रेजी राजकवि रडयर्ड किप्लिंग ने लिखा है कि मैं जो कुछ जानता हूँ वह मेरे छः स्वामिभक्त सेवकों का बताया हुआ है;

उनके नाम ये हैं—कहाँ, क्या, कब, क्यों, कैसे, और कौन ?—

'I had six honest serving-men—they taught me all I know. Their names are—where and what and when and why and how and who.'

स्वाध्याय का तात्पर्य वेद-शास्त्र पढ़ना ही नहीं है। उसका अर्थ है स्वयं अध्ययन करना। वह अध्ययन पुस्तक का भी हो सकता है, परिस्थिति का भी और देश-काल या मानव-स्वभाव का भी। संस्कृत में वेदपाठी के अतिरिक्त नगर-व्यापारी को भी स्वाध्यायी कहते हैं क्योंकि वह बाजार का अध्ययन करता है, भाव के चढ़ाव-उतार को समझता है, उसको पढ़ता है और तौलता है।

स्वाध्याय

बिना पढ़े-लिखे भी मनुष्य यदि स्वाध्यायी हो तो वह व्यावहारिक ज्ञान का पंडित हो सकता है। आत्मोन्नति के लिये शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान कहीं अधिक उपयोगी होता है। सुप्रसिद्ध पत्रकार लुई फिशर ने हाल ही में स्टैलिन पर एक लेखमाला प्रकाशित की है। उसमें एक स्थान पर लिखा है कि मनुष्यों और परिस्थितियों को समझने की योग्यता ही स्टैलिन की ज्ञान-पूँजी है; वह बहुत विद्या-सम्पन्न नहीं है, परन्तु एक शासक को जो जानना आवश्यक है अर्थात् अधिकार लेकर उसको कैसे सुरक्षित रखना चाहिए—इसको उसने सीख लिया है—

'But his great asset is the ability to read men and events. He possesses no rich fund of knowledge. But he has learnt what every political boss must know, how to get and keep power.'

—Louis Fischer.

जीवन-संग्राम में खड़े और पड़े रहने से, देखने-सुनने से,

मिलने-जुलने से, देश-भ्रमण करने से और सामाजिक कार्यों में भाग लेने से निश्चय ही स्वाध्याय होता है। कम-से-कम काल-प्रगति का ज्ञान, लोकविचारधारा का ज्ञान उसी से सुलभ होता है। कभी-कभी मनुष्य परिस्थितियों का धक्का खाकर और कभी-कभी कुछ खोकर सीखता है या सचेत होता है। गाँधीजी ने एक स्थान पर लिखा है कि घोर संकटपूर्ण परिस्थिति (या मर्म-विदारक घटना) ही महापुरुषो का विद्यालय है—'Deep tragedy is the school of great men.'—प्राय: मनस्वी लोग अपनी पराजय से भी शिक्षा लेते हैं। इन सबको हम स्वाध्याय ही मानेंगे।

स्वाध्याय के इन समस्त साधनों की अपेक्षा पुस्तक-द्वारा स्वाध्याय करना निश्चय ही अधिक सरल होता है। पुस्तकों-द्वारा अनुभूत ज्ञान एक ही स्थान पर संचित मिल जाता है, इसलिये उनको स्वाध्याय का मुख्य साधन बनाना चाहिये। सामान्य ज्ञान (General knowledge) और विशिष्ट ज्ञान (Specialised knowledge) दोनों की उपलब्धि पुस्तकों से होती है। सामान्य ज्ञान के लिये ऐसे ग्रंथों को पढ़ना चाहिए जिनसे जीवन-शिक्षा, चरित्र-शिक्षा, लोक-शिक्षा मिले। महर्षि पतंजलि ने तीन विषयों का ज्ञान मनुष्य मात्र के लिये उपयोगी माना है—मानस-सम्बन्धी ज्ञान, वाणी-सम्बन्धी ज्ञान तथा शरीर-सम्बन्धी ज्ञान। इसलिये उन्होंने मन, वचन और काया के सुधार के लिये तीनों विषयों पर एक-एक ग्रंथ लिखा है—योग-दर्शन, व्याकरण-महाभाष्य और वैद्यक शास्त्र। प्रत्येक व्यक्ति को कम-से-कम साधारण मनोविज्ञान, भाषा-व्यवहार और शरीर-विज्ञान का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इनके अतिरिक्त साहित्य, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र और राजनीति को भी अपने अध्ययन का विषय

बनाना चाहिये। सभी विषयों में पारंगत होना आवश्यक नहीं, परन्तु प्रवेश तो अनेक विषयों में होना ही चाहिये। बहुज्ञता से व्यक्तित्व व्यापक बनता है, यह हम कह चुके हैं।

पुस्तक पढ़ने की एक कला होती है। विशेषज्ञों का कथन है कि धीरे-धीरे नहीं बल्कि तेज़ी के साथ पढ़ना चाहिये क्योंकि गति और ज्ञान का परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है। तेज़ पढ़ने से विचारों की धारा खंडित नहीं होती और एक-एक वाक्य का सम्पूर्ण विचार मस्तिष्क में यथास्थान बैठता जाता है। एक-एक शब्द को घोटनेवाला व्यक्ति वाक्य-गर्भित विचार को एक साथ नहीं ग्रहण करता, इसलिये वह उसको ठीक-ठीक याद नहीं कर पाता। यह स्मरण रखना चाहिये कि पूरा भाव एक शब्द या दो-चार शब्दों में नहीं समाया रहता बल्कि वह उनके द्वारा संयोजित वाक्य में मिलता है। अतएव शब्दार्थ पर अधिक ध्यान न देकर वाक्यार्थ पर ध्यान देना चाहिये, क्योंकि अभिप्राय समझने के लिये ही ग्रंथ-पाठ किया जाता है। शैली, कथा-क्रम और शब्द-जाल में न उलझकर ग्रन्थ के मर्म को समझना चाहिये। पढ़ते समय कल्पना और स्मृति दोनों को सचेत रखना चाहिये। कल्पना से वर्णित विषय को साकार करके देखना चाहिये। तब वह अधिक स्पष्ट हो जाता है। स्मृति को चैतन्य रखने से ज्ञान ठीक-ठीक गृहीत होता है। यदि स्मरण-शक्ति ठीक न हो तो पुस्तक पढ़ने से कोई लाभ नहीं होता; केवल क्षण भर का मनोविनोद होता है। स्मृतिहीन व्यक्ति की दशा जर्मनी के भूतपूर्व नाज़ी-सचिव 'हर हेस' जैसी हो जाती है। न्यूरेम्बर्ग के सुप्रसिद्ध 'ट्रायल' के दिनों में 'हेस' की स्मरण-शक्ति लुप्त हो गई थी। वह एक ही ग्रंथ को सात-आठ बार पढ़ता था और प्रत्येक बार उसको यही ज्ञात होता था कि वह उसको प्रथम बार पढ़ रहा है।

पढ़ना और विचार करना जब साथ-साथ चलता है, तभी ग्रंथ-पठन का प्रभाव पड़ता है। तोताराम बनने के लिये पढ़ना व्यर्थ होता है। हमारे पुरखे विमान पर चढ़ चुके हैं, इसको जान-कर आत्म सन्तोष कर लेने से भी पठन-परिश्रम सफल नहीं होता। सफल तब होता है जब कि इस जानकारी से हमें आत्म-प्रेरणा और आत्म-स्फूर्ति मिले। मर्म को समझकर चिन्तन करना चाहिये कि कहाँ तक लेखक का मत संग्रहणीय है। उसको तौलना चाहिये, तर्क-बुद्धि से व्यावहारिकता की कसौटी पर कसकर देखना चाहिये और यथार्थता के आधार पर अपना स्वतन्त्रमत निश्चित करना चाहिये, जो मानने योग्य हो, उपयोगी हो, उसी को धारित करना चाहिये। कंठस्थ ज्ञान अपना हो जाता है, पुस्तक-गत ज्ञान अपने किसी काम का नहीं होता। विवाहिता होने पर ही कोई स्त्री अपनी पत्नी होती है अन्यथा वह अपने बाप की बेटी ही बनी रहती है। सुगमता से यदि कोई विषय कंठस्थ न हो तो उनको उच्चस्वर से पढ़कर ध्यानस्थ करना चाहिये। उच्चारण से बुद्धि जागती है, तभी तो मास्टर की गर्जना से विद्यार्थी की बुद्धि ठिकाने आ जाती है। स्वयं उच्चारण करके पढ़ने से ज्ञान कान के द्वारा भी बुद्धि में पहुँचता है। प्राचीन आर्यों का मत था कि श्रवण से ज्ञान अधिक धारित होता है। पहले विद्यार्थी को आँखों के सहारे नहीं बल्कि कानों के सहारे ही पढ़ाया जाता था। बुद्धि-मान् व्यक्ति स्वभाव से ही कर्ण-रसिक होता है। अतएव कान की सुरंग से बुद्धि तक पहुँचना सुगम है। यह तभी हो सकता है जब ज्ञान ध्वनिमय हो। ध्वनित मंगल-स्तोत्रों से प्रातःकाल भग-वान् भी जग जाते हैं। इसलिये अपने महत् को भी ध्वनित वाणी से जगाना चाहिये। जिस तरह भी हो ज्ञान को हृदयस्थ करना चाहिये। हाँ, ध्यान रखना चाहिए कि उसके साथ निस्सार बातें भी स्मृति-देश में कुहरे की तरह छाई न रहें। बहुत तीव्र

स्मरण-शक्ति हानिकारक भी होती है क्योंकि वह अनावश्यक बातों को भी बटोरे रहती है जिनके कारण मस्तिष्क भारी हो जाता है।

साधारण ज्ञान के लिये अपने प्रिय विषयों को लेना चाहिये और प्रिय लेखकों को चुनना चाहिये। लेखकों की शैली में भिन्नता होती है, अतएव एक ही विषय पर बहुत-से लेखकों की पुस्तकें एक-सा प्रभाव नहीं डाल सकतीं। ऐसे लेखको के ऐसे ग्रंथों का अवलोकन लाभकर होता है जो अपने विचारों को उत्तेजित एवं संवेदनाओं को तीव्र बना सकें। अतएव ऐसी पुस्तकों को ही स्वाध्याय के लिये लेना चाहिये जो मनोरंजन के साथ ज्ञानवृद्धि कर सकें। ज्ञान के लिये ही सदैव न पढ़ना चाहिये। पुस्तक पढ़ने का एक उद्देश्य मन की थकावट को मिटाना भी होता है। मनोरंजक उपन्यासों और कहानियों तथा कविताओं से मस्तिष्क के कल्पना-खंड का पोषण होता है, विश्राम मिलता है। इसीलिये रात में 'स्वान्तःसुखाय' मनोरंजक साहित्य पढ़ने से नींद आती है। मस्तिष्क को सरस बनाने के लिये सरस साहित्य पढ़ना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवन-साहित्य। स्वाध्याय के लिये उपयोगी ग्रंथों के साथ मनोरंजक ग्रंथो को भी लेना चाहिये।

आजकल स्वाध्याय का सर्वोत्तम साधन है—समाचार-पत्र। समाचार-पत्रों और पत्र-पत्रिकाओं से लोक-प्रगति का सामयिक ज्ञान मिलता है। लोक-मत का विज्ञापन ही नहीं, बहुत कुछ निर्माण भी पत्रों द्वारा होता है। एक अमेरिकन पंडित ने लिखा है कि हम लोग एक ऐसी गवर्नमेन्ट द्वारा शासित होते हैं जो मनुष्यों और दैनिक पत्रों द्वारा संचालित होती है—'We live under a Government of men and morning-newspapers.'—Wendell Phillips, अपने को राष्ट्र और समाज के अनुकूल बनाए

रखने के लिये आधुनिक समय में एक-न-एक अच्छे समाचार-पत्र को पढ़ना आवश्यक है। उनको न पढ़ने से मनुष्य नवयुग के साथ नहीं चलता; उसका पुस्तक-सुलभ-ज्ञान बासी हो जाता है और वह स्वयं कई पीढ़ियों पीछे का जीव या प्रेत हो जाता है।

विशिष्ट ज्ञान के लिये अपनी मूल-प्रवृत्ति को पहचानकर और भावी वृत्ति का निश्चय करके तब किसी एक विषय का अध्ययन करना चाहिये और उसमें पारंगत बनना चाहिये। एक-न-एक विषय का विशेषज्ञ होना मनुष्य के महत्त्व को बढ़ाता है, उसके जीविकोपार्जन और यशोपार्जन मे सहायक होता है। अतएव सतर्कतापूर्वक एक उपयोगी विषय का साङ्गोपांग अध्ययन करना चाहिये और उस विषय के मूल सिद्धान्तो को समझकर उनके आधार पर अपने ज्ञान को मौलिक बनाना चाहिये। इसी प्रकार मनुष्य उस विषय का अधिकारी बन सकता है। विचार-स्वतन्त्रता के लिये ही दूसरों के विचारों का उपयोग करना चाहिये क्योंकि ज्ञान का वही प्रयोजन है।

जो भी पढ़े और जैसे भी पढ़े या सीखे, पाठक को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि ज्ञान का अजीर्ण न हो। जो ज्ञान अभ्यास में नहीं आता वह विष हो जाता है—'अनभ्यासे विषं शास्त्र।' लोकदृष्टि में ज्ञान विलासी नहीं, बल्कि कर्मशील व्यक्ति पण्डित माना जाता है—'यः क्रियावान् स पंडितः।' सुप्रसिद्ध विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर ने लिखा है कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ज्ञान नहीं, बल्कि कर्म है—

'The great aim of Education is not knowledge but action.' —Herbert Spencer

अतएव सर्वप्रथम क्रियात्मक, रचनात्मक ज्ञान का ही संग्रह करना चाहिये और संग्रह के साथ उसका प्रयोग करके, उसकी

परीक्षा करके देखना भी चाहिये कि वह कहाँ तक उपयोगी है। शिक्षा और स्वाध्याय का प्रयोजन तभी सफल होता है। अभ्यास में आने पर सिद्धान्तों की उपयोगिता, अनुपयोगिता का पता चलता है। कर्म से ही ज्ञान सार्थक होता है; अन्यथा निरर्थक।

कला-सम्बन्धी ज्ञान का स्वाध्याय, सीखने और काम करने से होता है। पुस्तकों से उनकी पूरी जानकारी नहीं होती। काम करने से अभ्यस्त ज्ञान प्राप्त होता है और वही परपक्व ज्ञान माना जाता है। इसलिये कम-से-कम व्यावसायिक ज्ञान के उपार्जन के लिये किसी विषय का दैनिक अभ्यास करना चाहिये—काम करते हुए सीखना चाहिये और सीखते हुए काम करना चाहिये। सीखना और विचार करना जब साथ-साथ चलता है तभी ज्ञान की वृद्धि होती है।

शिक्षा-अनुभव-अभ्यास

शिक्षा, अनुभव और अभ्यास के सम्बन्ध में बहुत कुछ ऊपर प्रसंगवश लिखा जा चुका है। इनके सम्बन्ध में इतना और जानना चाहिये कि मनुष्य स्वयं सभी बातें नहीं सीख सकता। वह एक ऐसा जीव है जो दूसरों-द्वारा शिक्षित बनाये जाने पर शिक्षित बनता है। अतएव निरभिमान होकर अपने से योग्य व्यक्तियों द्वारा शिक्षा लेनी चाहिये। योग्य अध्यापकों-द्वारा और सत्पुरुषों की शिक्षा से जो ज्ञान एक घंटे में मिल सकता है वह सौ ग्रंथों के पढ़ने से भी नहीं आ सकता। अनुभव से भी यही बात होती है। अनुभव से एक मुख्य बात यह होती है कि आवश्यकता का पता चलता है और आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी होती है। अभ्यास से ज्ञान सक्रिय होता है, यह हम कह चुके हैं।

इस सम्बन्ध में हम, अन्त में, फिर यही कहेंगे कि शिक्षा पा लेने मात्र से अथवा निष्प्रयोजन ढेर-की-ढेर पुस्तकों को पढ़ लेने

से कोई ज्ञानी नहीं बनता। यह स्मरण रखना चाहिये कि गीता-पाठ सुनकर अर्जुन लड़ाई नहीं जीते थे; गीता-धर्म के अनुसार आचरण करने से उनको सफलता मिली थी। 'बम-बम' का उच्चारण करने ही से शिव प्रसन्न नहीं होते। गत् युद्ध के दिनों में प्रायः सभी दिन में दस-पाँच वार बम-बम बोलते थे, परन्तु किसी को दैवी अनुग्रह प्राप्त होता नहीं दिखाई पड़ा। सप्रयोजन ज्ञानोपार्जन करके कर्मोपार्जन करना सिद्धि देता है। दान करने से ज्ञान बहुत बढ़ता है—चाहे वह किसी व्यक्ति को दिया जाय या किसी कर्म को।

सर्वप्रकार से विद्या-द्वारा अपने स्वभाव, सुपात्रत्व, धन और सुख की वृद्धि करनी चाहिये। विद्या का प्रयोजन यही है कि उससे विनय, विनय से सुपात्रता, सुपात्रता से धन, धन से धर्म और धर्म से सुख की प्राप्ति होती है—

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥—हितोपदेश।

सामाजिक जीवन का विकास

मनुष्य एक शुद्ध सामाजिक जीव है। समाज ही उसका कर्म-क्षेत्र, साधन-क्षेत्र और जीवन-क्षेत्र होता है। अतएव उसको अपने सामाजिक जीवन का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है, समाज की रीति-नीति, मर्यादा का ध्यान रखना पड़ता है और अपने को समाज के उपयुक्त बनाना पड़ता है। समाज कितना प्रबल है, इसको इन बातों से समझिये—लोक-धर्म ही सर्वमान्य धर्म है; लोकबल ही सर्वप्रधान बल है; लोक-प्रतिष्ठा ही मनुष्य की सबसे बड़ी निधि मानी जाती है; लोक-सम्मत कार्य ही कर्त्तव्य है; लोक-सेवा सर्वाधिक महत्व-प्रदायक साधन है; लोक-मत ही मनुष्य के लिए ईश्वरीय मत और ईश्वरीय शक्ति है; लोक-प्रथा

सबसे बड़ा बन्धन है, लोक-लज्जा ही उच्छृंखलता को रोकने वाली 'पुलिस' है; लोक-दृष्टि ही मनुष्योचित कर्म की कसौटी है और लोक-हित का सम्पादन मानवता है। पंच-परमेश्वर के बल को कौन अस्वीकार करेगा? कौन ऐसा बुद्धिमान् है जो अपना अप्रिय करके भी लोक-प्रिय होने का आकांक्षी न हो!

सार्वजनिक जीवन मे सफल बनने के लिये मनुष्य अपने स्वार्थ का भी त्याग कर देता है। वास्तव में, त्याग और सहानुभूति पर ही समाज स्थापित है। सब अपने-अपने स्वार्थ का थोड़ा-बहुत त्याग करके एक अंश तक अपना कृत्रिम रूप बनाकर समाज में रहते है। यदि ऐसा न हो तो सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। अतएव सब अपनी स्वच्छन्द मनोवृत्तियों को दबाते हैं, अपने स्वार्थ के साथ दूसरों का स्वार्थ भी देखते हैं, सहयोग पाने के लिये दूसरों के साथ सहयोग करते हैं और समाज के नैतिक आदर्शों के सामने सिर झुकाते हैं। सामाजिक जीवन अब मानव-स्वभाव का अंग बन गया है।

सार्वजनिक जीवन के विकास के लिये निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिये—

लोक-धर्म का पालन

धर्म से हमारा अभिप्राय किसी साम्प्रदायिक धर्म से नहीं है। मीमांसा के शब्दों मे जो मंगलजनक हो, जिससे सुख हो, वही धर्म है—'य एव श्रेयस्कर स एव धर्म शब्देनोच्यते।' मंगल ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। देश, काल और समाज के अनकूल, नैतिक आचरण ही धर्म है। इसी से समाज धारित होता है। इसलिये समाज में, शुक्राचार्य के मत से, जो स्वधर्म में निरत रहता है, वही तेजस्वी होता है—'योहि स्वधर्मनिरतः स तेजस्वी भवेदिह।'

सत्य, अहिंसा, न्याय, विश्वास, शील, सौजन्य और सच्च-रित्रता आदि ही मुख्य लोक-धर्म हैं। इन्हीं से मानव-चरित्र बनता है, कर्त्तव्य की रूप-रेखा बनती है और लोक-कल्याण होता है। संक्षेप मे, नैतिकता को लोक-धर्म मानना चाहिये। उसी से लोक-मर्यादा स्थापित होती है। अनैतिकता, निर्लज्जता या कामुकता आदि लोक-व्यवस्था को तोड़ते हैं, इसलिये समाज में इनका मान नहीं है।

लोक-सेवा

लोक-सेवा से समाज में प्रधानता प्राप्त होती है। जो निस्वार्थ भाव से जनता की, मुख्यतः पीड़ितों की सेवा करता है, वही धीरे-धीरे 'जनगणमन-अधिनायक' बन जाता है। ईसा ने कहा है कि जो तुम में सबसे बड़ा होगा, वह तुम्हारा सेवक होगा।

'He that is the greatest among you shall be your servant.' —Christ.

इसमें सन्देह नहीं कि जो महापुरुष होता है, वह जनता का सेवक होता है और जो जनता का सेवक होता है, वह महापुरुष। लोक की प्रवृत्ति ऐसी है कि यदि आप सबकी सेवा करें तो सब आपकी सेवा को तैयार मिलेंगे। यदि आप उसके लिये आत्म-बलिदान कर दें तो समाज भी आपके स्थान को संसार में चिर-स्थायी बना देना चाहता है। लोक-सेवा से मनुष्य की एक सर्व-प्रमुख आकांक्षा की पूर्ति होती है—वह है यशोपार्जन की। सच्ची कीर्ति इसी से मिलती है और विद्वानों के मत से जो कीर्तिवान् होता है, वही जीवित होता है—'कीर्तिर्यस्य स जीवति।'

लोक-सेवा के अनेक रूप हैं, जैसे देश-सेवा, समाज-सेवा, साहित्य-सेवा आदि। कोई भी रचनात्मक कार्य जिससे सार्वजनिक हित हो, वह लोक-सेवा है। आत्म-विकास के लिये मनुष्य

को ऐसा ही कर्म करना चाहिये जिससे अन्त में यश और सुख मिले—

'तत्कर्म पुरुषः कुर्यात् येनान्ते सुखमेधते ।'—नैषध

गुण-कर्म का मान

समाज में गुण और कर्म से ही सम्मान मिलता है और आत्मोत्थान होता है। कारण यह कि जगत् में सब कुछ गुणमय एवं कर्ममय हैं। सभी वस्तुएँ अपने गुणों का विज्ञापन करती हुई एक-न-एक कर्म में लगी हुई हैं। गुण एवं कर्म से मनुष्य की उपयोगिता सिद्ध होती है। विष्णु पुराण में लिखा है कि गुणहीन पुरुष में बल-शौर्य आदि सभी का अभाव हो जाता है और निर्बल तथा अशक्त पुरुष सभी से अपमानित होता है—

'बल शौर्याद्यभावश्च पुरुषाणां गुणै. विना ।
लंघनीय समस्तस्य बल-शौर्य-विवर्जितः ॥'

व्यास ने लिखा है कि संसार में मनुष्य कर्म से ही प्रधान बनता है, धन या विद्या से नहीं—

'वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया ।'

शौर्य-पराक्रम का मान

वीरों का संसार में सदा से ही मान होता आया है। कहा भी है—'वीरभोग्या वसुन्धरा ।' शुक्राचार्य ने लिखा है कि शौर्य और पराक्रम से मनुष्य को जैसा सम्मान मिलता है, वैसा कुल से नहीं—'न कुले पूज्यते यादृग बल शौर्य-पराक्रमः ।' लोग स्वभाव से ही वीर को अपना नायक बना लेते हैं। दबने वाले को सज्जन भी नहीं पूछते। वेदकालीन ऋषि भी इन्द्र को प्रभु बनाते समय कहते थे कि तू किसी से न दबता हुआ हमारा नेता बन—'अदब्धः सुपुरएता भवानः'—ऋग्वेद ।

जिसमें लोक-संग्रह या लोकमत के संगठन की शक्ति होती है, वह समाज में सबल माना जाता है। दुर्गा-सप्तशती में लिखा है कि संघ में ही शक्ति है—'संघे शक्तिः।' संघ-शक्ति की दृढ़ता से एक मनुष्य बहुतों की सम्मिलित शक्तियों को एक कार्य में जोड़ सकता है। सहयोग या एक-सूत्रता से असाध्य भी साध्य हो जाता है। संघ-शक्ति दृढ़ करने के लिये योग्यता, चातुर्य, विश्वास-पात्रता और आत्म-वीरता की आवश्यकता होती है।

संगठन का महत्व

संघ-शक्ति का यही अर्थ नहीं है कि मनुष्य कोई सेना खड़ी करे या संघ स्थापित करे। राष्ट्रीय जीवन का सबसे बड़ा संघ तो गवर्नमेन्ट है, जिसको दृढ़ बनाने से जन-शक्ति दृढ़ होती है। व्यक्तिगत जीवन का सबसे बड़ा संघ मित्र-मंडल है। यह स्मरण रखना चाहिये कि मित्रबल मनुष्य का एक बड़ा भारी बल है जो उसके जीवन को विकासशील बनाता है।

सम्पत्ति और पद-प्रतिष्ठा से भी समाज में गौरव बढ़ता है। धन से इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती, बल्कि सम्पूर्ण जीवन की पूर्ति होती है। रिक्त होने से सर्वत्र लघुता मिलती है और पूर्णता से गौरव मिलता है, ऐसा महाकवि कालिदास ने मेघदूत में लिखा है—'रिक्तः सर्वो भवतिहि लघु, पूर्णता गौरवाय।' पुरुष को धनकामधाम कहते ही है। धन न रहने से पुरुषार्थ खंडित हो जाता है।

धन और पद का मान

पद से मनुष्य का स्थान उच्च होता है और वह अपने अधि-कारी नाम को सार्थक करता है।

पारिवारिक जीवन का विकास

पारिवारिक जीवन का विकास करना भी आत्म-विकास का

एक अंग है। समाज तो मनुष्य के जीवन का संग्राम-क्षेत्र होता है, घर या परिवार शिविर होता है। जीवन-संग्राम के थके सैनिक का वह रैन-बसेरा होता है। घर वही स्थान है जहाँ मनुष्य के स्वार्थ की पूर्ति होती है, जहाँ वह पूर्णतया मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति करता है। समाज में मनुष्य की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ दबी रहती हैं क्योंकि वहाँ उसको दूसरों के अनुकूल बनकर रहना पड़ता है। परिवार में उन प्रवृत्तियों को तृप्त होने का अवसर मिलता है।

इसमें सन्देह नहीं कि सर्व-साधारण के लिये अपने पारिवारिक जीवन का विकास करना नितान्त आवश्यक है। गृह की सुख-समृद्धि से आत्म-समृद्धि होती है, अपनी नींव मजबूत होती है। इसलिए सफल गृहस्थ बनना सबके लिए कल्याणकारी है। गार्हस्थ्य जीवन का आरम्भ विवाह से होता है। विवाह मानव-जीवन का एक मधुरतम प्रसंग है। दो अपरिचित परिचित बनते हैं। लोक-जीवन में एकात्मता होती है। मनुष्य की एक हार्दिक कामना रहती है कि कोई वस्तु ऐसी हो, जिसको वह अपनी कह सके, कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उपभोग वह, और केवल वही, स्वच्छन्दतापूर्वक कर सके। पति को पत्नी के रूप में और पत्नी को पति के रूप में वह वस्तु प्राप्त होती है। पत्नी पति के पुरुपार्थ और पति पत्नी की मोहनी-शक्ति से, जो स्त्रियों में स्वाभाविक होती है, परस्पर प्रभावित होते हैं। इस प्रकार संघर्षमय जीवन-क्षेत्र में सरसता की धारा बहती है। इसका प्रभाव चरित्र पर और सम्पूर्ण जीवन के विकास पर पड़ता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि बहुत-से पुरुष स्त्रियों की प्रेरणा से उद्यमशील बनकर महापुरुप या सफल व्यवसायी बने हैं। स्त्री के सामने पुरुष अपना पुरुपार्थ स्वाभा-

वतः प्रमाणित करना चाहता है, इसलिये इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। स्त्रियों की प्रेरणा से ही नहीं उनके लात मारने से भी कालिदास मूर्ख से महाकवि हो गये थे। स्त्री के दुर्व्यवहार से तंग होकर कितनों ही ने परमार्थ के बड़े-बड़े काम किये हैं।

विवाह से ही सदा जीवन का विकास होता है- ऐसा नहीं कहा जा सकता। सुप्रसिद्ध भारत-भक्त फ्रेंच लेखक रोम्याँ रोलाँ का मत था कि विवाहित व्यक्ति अर्द्ध-पुरुष या खण्डित पुरुष है—'A married man is no more than a half-man.' अँग्रेज़ी में पत्नी को अपना उत्तम अर्द्ध-भाग (better-half) कहते हैं। इस प्रकार पुरुष बेचारा तो हीनांग हो ही जाता है। ख़ैर, हम रोम्याँ रोलाँ के मत की पुष्टि के लिये यह सब नहीं लिख रहे हैं। हमारा अभिप्राय यह है कि स्वतन्त्र रहकर भी मेधावी मनुष्य आत्मोत्थान कर सकता है। विलायती पण्डितों का यह मत सर्वमान्य नहीं है कि पत्नियाँ ही पति को काम के मैदान में खड़ा करती हैं। हमारे यहाँ राम को सीता से, कृष्ण को राधा से और बुद्ध को यशोधरा से क्या प्रेरणा मिली, पता नहीं। चाणक्य और पटेल को तो निश्चय ही कोई प्रेरणा नहीं मिली। ऋषि-मुनियों के तो हज़ारों उदाहरण इस प्रकार के हैं।

सत्य बात यह है, संयमित और आनन्दमय सांसारिक जीवन बिताने के लिये विवाहित जीवन परमावश्यक है। जो लोक सेवा के पीछे अपने जीवन को लगाना चाहता है, उसके लिये यह उतना आवश्यक न है। परन्तु सुन्दर पारिवारिक जीवन से उसको सहायता अवश्य मिलती है। यदि स्त्री दुर्मुखा मिली तो आत्म-विकास तो दूर रहा, वहाँ आत्म-नाश होने लगता है। एक संस्कृत कवि ने कहा है कि दुर्विनीता स्त्री से वेश्या पत्नी

ही अच्छी है—'वरं वेश्या-पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः।' पारिवारिक जीवन आनन्दमय भी हो सकता है और घोर विपत्तिमय भी। प्रयत्न यही करना चाहिये कि वह सुखमय हो क्योंकि उससे आत्म-सुख के अतिरिक्त समाज का संगठन होता है। अँग्रेज़ी की इस कहावत को ध्यान में रखना चाहिये कि प्रसन्न परिवार तात्कालिक स्वर्ग है—'A happy family is an earlier heaven,'

व्यक्तित्त्व का विकास

अपने संपूर्ण व्यक्तितत्व का विकास करना ही सच्चा आत्म-विकास है। समाज या परिवार का एक अंग होकर भी प्रत्येक व्यक्ति अपना एक स्वतन्त्र रूप, एक स्वतन्त्र स्थान रखता है, उसी को उसका व्यक्तितत्व या अपनापन कहते हैं। व्यक्तितत्व का साधारण अर्थ है—व्यक्ति-विशेष का सहज स्वरूप, स्वत्व, स्वास्थ्य, स्वाभाविक रूप। परन्तु इसका व्यावहारिक अर्थ अधिक व्यापक है। शारीरिक या स्वाभाविक भिन्नता तो सब में जन्म से होती है। उनके ही आधार पर सब के व्यक्तितत्व का निर्णय नहीं होता। शरीर एवं स्वभाव की भिन्नता होते हुए भी जिनमें कोई विशेषता नहीं होती उनकी गणना सर्व-साधारण में होती है। वे मुण्ड-मण्डली या भीड़ की संख्या बढ़ाने वाले, समाज, जाति या किसी कुल के अंगमात्र गिने जाते हैं। समाज, जाति या कुल के नाम से परिचित होनेवालों का स्वतन्त्र व्यक्तितत्व नहीं माना जाता।

व्यक्तितत्व वह है जिससे किसी की स्वतन्त्र सत्ता, आत्म-योग्यता, प्रभावता, श्रेष्ठता और असाधारणता प्रकट हो। व्यक्ति-विशेष की व्यक्तितता में जब मौलिकता होती है, निरालापन होता है, तभी उसका स्वरूप जनसाधारण से भिन्न माना जाता है। दूसरे शब्दों में, लौकिक जीवन में किसी की अलौकिकता की

व्यक्तता या विलक्षणता अथवा विशिष्टता ही उसको स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है। इस सम्बन्ध में दर्शन-शास्त्र का यह सिद्धान्त ध्यान में रखने योग्य है कि किसी वस्तु की महानता ही उसके प्रत्यक्ष या व्यक्त होने का कारण होती है। अणु-परमाणु सूक्ष्म होने के कारण ही अव्यक्त रहते हैं। मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। किसी का असाधारण विकास उसको व्यक्तित्व और स्वतन्त्र व्यक्तित्व देता है। तुच्छ बने रहने से मनुष्य अव्यक्त, अप्रसिद्ध एवं सत्ता-महत्ता-विहीन होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में प्रभाव, आकर्षण, तेज, आत्मबल, और गुण-चरित्र का विकास होता है उसी के व्यक्तित्व की रजिस्ट्री समाज में होती है।

अतएव हमें यह मानना चाहिये कि जिस रूप मे मनुष्य अपने नाम से पहचाना जाय, समाज-जाति या वर्ग विशेष के नाम से नहीं, वही उसका व्यक्तित्व है। यह रूप कुछ अंशों में जन्म से प्राप्त होता है और विशेष अशों में अपने बनाने से बनता है। बहुत-से लोग जन्म से ही विशेष लक्षण-सम्पन्न होते है, उनकी आकृति से तेज झलकता है, उनके आचार-विचार से उनकी प्रतिभा, स्वभावज सद्गुणों की आभा टपकती है और वे सर्वसाधारण से अधिक निर्मुक्त एवं ऊँचे लगते हैं। जन्म-जात व्यक्तित्व का आगे के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बहुत-से लोग जन्म से विलक्षण न होते हुए भी स्वाध्याय, गुणों के संचय और कर्म से अपने को संस्कारित करके अपने को दूसरों की दृष्टि में महान् बना लेते है। बहुत-से लोग ऐसे है जो जन्म से सतेज, प्रभावशाली होते हुए भी अपने को बिगाड़ लेते हैं। इसलिये स्थायी व्यक्तित्व उसी को मानना चाहिये जो अपने बनाने से बनता है। सक्षेप में उन बातों को जान लीजिये

जिनसे व्यक्तित्व बनता या बिगड़ता है।

स्वभाव

स्वभाव से मनुष्य के आत्म-स्वरूप का सच्चा विज्ञापन होता है। स्वभाव से मनुष्य, प्रिय-अप्रिय, मान्य या हेय बनता है। स्वभाव से दूसरे लोग ही नहीं, अपना शरीर भी प्रभावित होता है। आकृति व्यवहार, वाणी, अंगचेष्टा—सभी पर उसकी छाप पड़ती है। प्राचीन काल से विद्वान् लोग इसको मानते आये हैं। भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त यूनानी विद्वान भी इसको मानते थे कि शारीरिक बनावट में स्वभाव की झलक मिलती है और उसके अनुसार मनुष्य का व्यक्तित्व-निरूपण हो सकता है। प्रसिद्ध कवि होमर इसका समर्थक और विशेषज्ञ था। दार्शनिक पण्डित सुकरात भी इस रहस्य को मानता था और महत्व देता था। अद्वितीय पाश्चात्य दर्शन-शास्त्री अरस्तू ने अपने एक प्रसिद्ध ग्रन्थ में आकृति, वर्ण, अंग-प्रत्यंग, वाणी, केश आदि के आधार पर मानव स्वभाव की परीक्षा का वर्णन छः अध्यायों में किया है। बाद के अनार्य द्विजों में हर्बर्ट स्पेन्सर, डारविन आदि ने इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण करके इसकी सत्यता को सिद्ध किया है। सब का यही मत है कि प्रत्येक मनोभाव का एक विशेष लक्षण होता है जो शरीर पर प्रकट होता है। और उसके अनुकूल अंग-चेष्टायें होती हैं। जब कोई मनोभाव स्वभाव के रूप में स्थायी हो जाता है तो उसके स्थायी लक्षण शरीर पर और शारीरिक चेष्टाओं में मिलते हैं।

प्रत्येक दशा में स्वभाव आकृति से प्रतिबिम्बित होता है। इस विषय में प्राचीन यूनानी ग्रन्थों में एक घटना का उल्लेख है। एक बार एक मनोवैज्ञानिक ने सुकरात को देखकर कहा कि यह आकृति और लक्षणों से विषयी, मूढ़ और आलसी प्रकट होता

है। सुननेवालों ने मनोवैज्ञानिक की बातों पर विश्वास नहीं किया, परन्तु सुकरात ने कहा कि 'इसका कथन सत्य है—ये बातें मेरे स्वभाव में जन्म-गत थीं। मैंने दर्शनशास्त्र के अध्ययन से अपने को संस्कारित कर लिया है।'

सारांश यह है कि स्वभाव की सरलता, कुटिलता या जटिलता से मनुष्य के आकार-प्रकार, पारस्परिक व्यवहार और सम्पूर्ण व्यक्तित्व में भेद पड़ता है। अतएव स्वभाव को सरल एवं उन्नत बनाना चाहिये। उससे व्यक्तित्व का स्वाभाविक आकर्षण बढ़ता है। मनस्विता से पुरुषार्थ प्रदीप्त होता है। सरल स्वभाव से ही सरल व्यक्तित्व प्रकट होगा अन्यथा मनुष्य गोरख-धन्धा-जैसा लगता है। जब तक व्यक्तित्व सरल न हो, तब तक वह स्पष्ट कैसे होगा। कुटिल व्यक्तियों को कोई नहीं पूछता। खारे समुद्र के पास चिड़ियां अपनी प्यास बुझाने नहीं जातीं।

गुण और चरित्र

गुण और चरित्र से व्यक्ति को विशेष प्रधानता मिलती है। गुणों से वह गुणित, गण्य-मान्य होता है। गुणवान् एवं चरित्रवान् व्यक्ति कुरूप, निर्धन, अकुलीन होकर भी प्रभावशाली तथा लोक-मान्य होता है। जाति और कुल की महत्ता इनके आगे क्षीण हो जाती है। जाति-कुल व्यक्तित्व को बनाने में सहायक अवश्य होते हैं, परन्तु इतने नहीं। जाति-कुल के कारण ही किसी का बड़प्पन या छोटापन सिद्ध नहीं होता। चीनी का मान इसलिये नहीं होता कि वह गुड़ की बेटी है। अग्नि-जात होने पर पर भी राख राख ही रहती है। गुण-चरित्र के प्रभाव से हीन-जात व्यास पण्डित समाज में वंदित होते हैं। व्यास अविवाहित मत्स्यगंधा की पाप-सन्तान थे। पराशर ऋषि ने उसको योजन-

गंधा (अर्थात् जिसके शरीर की सुगन्धि एक योजन तक जाय) बनाकर उसके द्वारा व्यास को पैदा किया था। व्यास ने अपनी विद्वत्ता, तपस्या और श्रेष्ठ आचरण से कुल-कलंक को धोकर अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठाया। साधारण लोक-जीवन में देखिये तो यही ज्ञात होगा कि गुणी और चरित्रवान् की ही लोक में प्रतिष्ठा है। किसी चित्र में जिस प्रकार हम उसके रंगों के मेल को नहीं बल्कि उसकी कला को महत्व देते हैं, किसी कविता में जैसे शब्द-योजना को नहीं उसके भाव को महत्व देते हैं और पुष्प में उसके आकार और बाह्य-सौन्दर्य को नहीं उसके प्राकृतिक रूप-गन्ध को मान देते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के सम्बन्ध में उसके शारीरिक रूप को नहीं, बल्कि उसके गुण, चरित्र को विशेष स्थान दिया जाता है। वेश्या शरीर से रूपवती हो सकती है, परन्तु समाज उसके व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं करता। यद्यपि उसमें कुछ गुण होते हैं, परन्तु चरित्र नहीं होता। गुण के साथ नैतिकता होने से ही मान बढ़ता है। उन्हींसे मनुष्य का लोकरंजक रूप बनता है। नैतिकता-नाश से वह स्वपतित बन जाता है। नेपोलियन ने कहा है कि बड़े-बड़े लोग भी अपनी चारित्रिक दुर्बलता के कारण पथ-भ्रष्ट, मान-भ्रष्ट हो जाते हैं। स्त्रियों के पीछे कितने ही लोग अपने को नष्ट कर देते हैं।

कार्य-दक्षता

किसी भी विषय में कार्य-पटु, प्रवीण, सिद्धहस्त, विशेषज्ञ होने से मनुष्य की आत्म-समर्थता, उपयोगिता व्यक्त होती है और उसके कार्य-क्षेत्र में उसकी सत्ता स्वीकार की जाती है। कोई भी रचनात्मक कार्य सुचारु रूप से करके मनुष्य अपने को ऊँचा उठा देता है, इसमें संशय नहीं।

वाणी-बल के विकास से व्यक्तित्व का अत्यधिक विकास

होता है। वाणी की सिद्धि से मनुष्य लोकनायक बन जाता है। उसी मे मनुष्य का अन्तर्बल, प्रभाव-बल प्रकट होता है। अतएव आत्मोत्थान के लिये इस श्रेष्ठ साधन का आश्रय लेना चाहिये।

वाणी-बल

जीवित होने का लक्षण है, बोलना। वाणी बन्द होने पर प्राणी मृतक, या मृत-तुल्य माना जाता है। मनुष्य होकर जीवित होने का लक्षण है सार्थक वाणी बोलना; क्योंकि जीवों में मनुष्य ही एक ऐसा जीव है जो भावों को भाषामय बनाकर सार्थक कर सकता है। अतएव अपनी इस विलक्षण शक्ति के विकास से विलक्षणता प्राप्त करनी चाहिये।

वाणी-प्रयोग के कई रूप है। सबसे प्रभावक रूप है, भाषण। अपने भाषणों से लोग जनता को वश मे कर लेते हैं। अच्छा भाषण वह होता है जो विचारोत्तेजक हो, मर्मस्पर्शी हो और जिससे सार्वजनिक हित का सम्पादन हो। भाषण का प्रयोजन देर तक ज़ोर से चिल्लाना नहीं होता। एक योजना पर, धैर्य-विश्वास के साथ, सप्रमाण और संक्षिप्त दिया हुआ भाषण ही प्रभावोत्पादक होता है। वक्ता बनने के लिये व्यापक दृष्टिकोण रखना चाहिये, एक लक्ष्य रखना चाहिये, एक सिद्धान्त और नैतिक मत व्यंजित करना चाहिये। सक्षेप मे सप्रभाव कहा हुआ छोटा-सा सारगर्भित भाषण लम्बे-चौड़े व्याख्यान से कहीं अधिक हृदय-आन्दोलक होता है। अफ्रीका की कुछ जातियो में एक विचित्र प्रथा है। वहाँ वक्ता को एक पैर पर खड़े होकर ही व्याख्यान देना होता है। उठे हुए पैर के गिरते ही उसको अपना भाषण समाप्त कर देना होता है। इस प्रथा के आविष्कारकों का प्रयोजन यह लगता है कि कम-से-कम समय में अधिक सारयुक्त बात कहनी चाहिये; श्रोता के समय का अपव्यय न

करना चाहिये। दूसरी बात यह प्रकट होती है कि 'विचलित हुए तो गये।' अतएव दृढ़ होकर भाषण करना चाहिये, निश्चयात्मक बुद्धि से आशा-धैर्य-विश्वास का देश-दूत बनकर बोलना चाहिये। मूर्ख जनता हो तो उसको हाँकना चाहिये, भीरु हो तो उसका हाथ पकड़कर खींचना चाहिये, समझदार हो तो उसको आगे का मार्ग बतलाना चाहिये—नेतृत्व करना चाहिये, संकट से पूर्व सचेत करके उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करना चाहिये। तर्क-सम्मत न्याय-युक्त वाणी बोलने से लोकमत अपने पक्ष में होता है और इस प्रकार कुशल वक्ता का व्यक्तित्व लोक-दृष्टि में ऊँचा उठता है।

वाणीबल का दूसरा उपयोग लिखने में होता है। लेखन-शक्ति से मनुष्य महाशक्तिशाली बन जाता है। उससे वह देश-समाज में क्रान्ति-शान्ति कुछ भी कर सकता है। सुन्दर सारगर्भित शैली में जीवन-साहित्य, आदर्श साहित्य एवं मौलिक साहित्य प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति अपनी रचनाओं से लोक में अपना एक विशेष स्थान बना लेते हैं। उनकी आर्थिक, पारिवारिक, शारीरिक और चारित्रिक विवशताएँ भी उनकी साहित्यिक कीर्ति के पीछे छिप जाती हैं। बर्नार्ड शॉ कुरूप थे, परन्तु अपने ग्रन्थों में महारूपवान् लगते हैं; उनकी प्रतिभा साकार होने पर उनकी कुरूपता को ढँक देती है। उनके जीवन की एक घटना है कि एक बार उनके एक नाटक के अभिनय के उपरान्त उसकी प्रधानपात्री, एक अनिन्द्य सुन्दरी, शॉ की योग्यता के कारण उन पर मुग्ध हो गई। उसने कहा कि यदि हमारा आपका विवाह-सम्बन्ध हो जाय तो उसके फलस्वरूप जो सन्तान होगी वह अभूतपूर्व होगी क्योंकि उसमें आप-जैसी विलक्षण प्रतिभा और मेरे-जैसा आकर्षक रूप होगा। विनोदी शॉ ने कहा कि ठीक है, परन्तु दैवयोग से यदि

उलटा हुआ तो क्या होगा, अर्थात् मेरे-जैसा कुरूप हुआ और तुम्हारी-जैसी दुर्बुद्धि हुई तो वह सन्तान कैसी होगी !

तात्पर्य यह है कि लेखन-शक्ति से व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ जाता है। आकर्षण ही नहीं बल भी बढ़ जाता है। आजकल पत्रकार होने से एक बड़ा लाभ यही है कि लोकमत हाथ में आ जाता है। अच्छे पत्रकार से सभी डरते हैं। नेपोलियन-जैसा महावीर भी समाचार-पत्रों से डरता था। उसने एक बार कहा था कि मैं १००००० संगीनों की अपेक्षा ३ समाचार पत्रों से अधिक डरता हूँ—

'I fear three newspapers more than a hundred thousand bayonets.' —Napoleon.

लेखक या पत्रकार होकर भी अपनी महिमा निश्चय ही प्रकट की जा सकती है। दिग्गज विद्वान् को सब दिग्गज जैसा ही महान् मानते है। आलोचक को छोटा कौन मानता है ? गवर्नमेन्ट भी उससे शंकित रहती है।

वाणी-व्यवहार मे इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि कहीं सत्य की हत्या न हो। सत्य को दबाने से वाणी का प्रभाव कम हो जाता है। निर्भीकता, विचार-स्वतन्त्रता और सतर्कता से उसके शरीर में आत्मा, बुद्धि और मन की स्थापना होती है, वाणी जीवित हो जाती है।

गम्भीरता

विचार, वाणी, कर्म तीनों की गम्भीरता से व्यक्तित्व का मान बढ़ता है। चंचलता से हलकापन प्रकट होता है। गम्भीर रहने से मनुष्य सब में घुलता-मिलता नहीं, यह सत्य है, परन्तु वह औरों से अधिक ठोस प्रतीत होता है। लोग उसका सम्मान करते हैं, समझते हैं कि इस अगाध समुद्र में न जाने कितने रत्न और

मगर-मच्छ हो सकते है ! कोई लोक नेता या उच्च पदाधिकारी जब तक गम्भीर रहता है, तभी तक उसके नीचे वाले उसका सम्मान करते है। सर्वसुलभ होते ही उसका व्यक्तित्व पानी मे चीनी की तरह गल जाता है। गम्भीर और शान्तचित्त होना शासकों और लोकनायकों का एक असाधारण गुण माना गया है। फ्रांस के बहुप्रसिद्ध भूतपूर्व मन्त्री कार्डिनल रिचलू का कथन है कि उचित रीति से राष्ट्र-शासन करने वाले के लिये अधिक सुनना और कम बोलना नितान्त आवश्यक है—

'One must listen a great deal and speak little to govern a nation properly.' —Richeleu.

एक सुप्रसिद्ध लेखक ने लिखा है कि शासक के लिये अव्यग्रता सबसे आवश्यक गुण है —

'Coolness is the most important quality for a man destined to rule.' —Andre Mauris.

अस्थिरता, असहनशीलता और क्रोध से चित्त की शान्ति और गम्भीरता नष्ट हो जाती है। और कम-से-कम क्रोध का यह परिणाम होता है कि अधिकारी व्यक्ति मर्य्यादाभ्रष्ट होकर अपने आश्रितों के अधीन हो जाता है। इसीलिये विद्वानों का मत है कि क्रोध आने पर गम्भीर हो जाना चाहिये क्योंकि क्रोध को व्यक्त करने से बिलम्ब करना ही उसके नाश की एकमात्र अमोघ औषधि है।

अलौकिकता

लौकिक जगत् में अलौकिक लगने से मनुष्य का व्यक्तित्व विलक्षण बनता है, यह हम कह चुके हैं उस अलौकिकता का तात्पर्य यह नहीं है कि अप्राकृतिक कार्य करो। उसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य सर्वसाधारण की पहुँच से बाहर रहे। सर्वसाधारण स्वार्थ-ग्रस्त रहते है, अतएव स्वार्थ-त्याग अलौकिक गुण है।

सर्वसाधारण वासनाओं में फँसे रहते हैं, अतएव वासनामुक्त होना अलौकिकता है; प्रलोभनमुक्त होना तथा मोहमुक्त होना अलौकिकता है। जब किसी के चरित्र में साधारण मानवीय दुर्बलताओं का आभास नहीं मिलता तभी हम उसको अलौकिक प्राणी मानकर उसके व्यक्तित्व का सम्मान करते हैं। ऐसे अनेक वृत्तान्त हैं, जिनसे प्रकट होता है कि मनुष्य जब तक असाधारण बना रहता है तब तक लोग उसको देवता की तरह पूजते हैं। यदि वह किसी स्त्री के प्रेम में फँसकर आचरणभ्रष्ट हो जाता है अथवा कोई अन्य चारित्रिक दुर्बलता दिखलाता है तो लोग समझते हैं कि यह तो हमारी ही कोटि का दुर्बल प्राणी है। वहीं उसके प्रति आदर-श्रद्धा समाप्त हो जाती है। इसलिये साधारण व्यक्तियों-जैसी कोई भूल न करनी चाहिये। उच्च पद पर रहकर किसी को यह समझने का अवसर न देना चाहिए कि आप केवल लौकिक प्राणी हैं—अर्थात् वही हैं जो दूसरे भी हैं। इसके लिये कुछ अंशों तक अपने व्यक्तित्व को रहस्यमय बनाना पड़ता है। अपना एक रूप रखना चाहिये जो बारबार देखने पर भी वैसा ही लगे, जो दूर से भी उतना ही प्रभावशाली हो, जितना निकट से। 'नाम बड़े और दर्शन छोटे' की उक्ति चरितार्थ नहीं होनी चाहिये। व्यक्तित्व को सरल रखकर भी उसको गम्भीरता से, चतुराई से रहस्यमय बनाया जा सकता है। आकाश निर्मल होने पर भी रहस्यपूर्ण है।

संगति

संगति का प्रभाव भी व्यक्तित्व के निर्माण पर पड़ता है। तुलसी के शब्दों में 'सत्संगति महिमा नहिं गोई।' अर्थात् सत्संगति की महिमा छिपी नहीं है। और उन्हीं के शब्दों में 'को न कुसंगति पाइ नसाई।'—कुसंगति से कौन नहीं नष्ट होता। यह प्रभाव तो

अपने चरित्र पर पड़ता है; अपने व्यक्तित्व के विकास पर और भी अधिक पड़ता है। इसको इन पक्तियों से समझिये—'गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगू।' (तुलसी) तथा 'गो गर्दराह हैं मगर आँधी के साथ हैं।'—अकबर। बड़ों की संगति से छोटे भी बड़े बन जाते हैं या बड़ों जैसे लगते हैं। बड़ों के नाम ही में बड़ी सिद्धि होती है। उनके दर्शनमात्र से हृदय में सत्प्रेरणायें उठती हैं, मनुष्य प्रत्यक्ष जीवन का एक आदर्श देखता है। सब दृष्टियों से सत्पुरुषों के सम्पर्क में रहना आत्म-विकासक होता है। महात्मा व्यास ने लिखा है कि महापुरुषों का दर्शन कभी निष्फल नहीं जाता। द्वेष, अज्ञान, प्रमाद या प्रसंगवश भी लोहा यदि पारसमणि से छू जाये तो वह सोना हो ही जाता है—

"महता दर्शन ब्रह्मन् जायते नहि निष्फलम् ॥
द्वेपादज्ञानतोवापि प्रसङ्गाद्वाप्रमादतः ।
अयसः स्पर्श संस्पर्शो रुक्मत्वायैव जायते ।"—महाभारत

स्वावलम्बन

व्यक्तित्व के विकास के लिये सर्वदा स्वावलम्बन का ही आश्रय लेना चाहिये। सहायकों की प्रतीक्षा में बैठने से अपनी प्रगति रुकी रहती है। इस विषय में टैगोर का 'एकला चलो रे' उपदेश मान्य है। कर्त्तव्य का निश्चय करके और आत्मशक्ति को संतुलित करके एक मार्ग पर चल निकलना चाहिये। जो अपनी रुचि का विषय हो उसको मौलिक बनाकर उसकी साधना में अपने को लगाना चाहिये। जहाँ कठिनाइयाँ मिलें वहाँ 'त्राहि माम्, त्राहि माम्' न चिल्लाकर पूर्ण मनोबल और पुरुषार्थ के साथ अपनी परीक्षा देनी चाहिये। अग्नि-परीक्षा के बाद ही स्वर्ण कुन्दन होता है। हीरा खरादे जाने के बाद ही मूल्यवान् होता है। यह सोचकर साहस के साथ कठिनाइयों में कूद पड़ना

चाहिये। संकट को पार कर जानेवाला लोकपूज्य होता है।

क्रमशः विकास

व्यक्तित्व का जब क्रमशः विकास होता है तभी वह स्थायी रहता है। विकास तब होता है जब सफलता के बाद सफलता की शृंखला बँधी रहे, जब कीर्ति अखण्डित रहे। अंग्रेजी के किसी विचारक ने कहा है कि प्रसिद्ध होने का यह एक दण्ड है कि मनुष्य को निरन्तर उन्नतिवान् बने रहना पड़ता है—

'It is the penalty of fame that a man must ever keep rising.'

क्रम खण्डित होने पर उसको पुनः जोड़ना कठिन होता है। साख उखड़ने पर फिर नहीं बैठती। इसलिये अपने प्रभाव को प्रतिदिन बढ़ाते रहना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब कि कहने से अधिक करके दिखाया जाय। कहने-मात्र या बड़प्पन का अभिनय करने-मात्र से धाक नहीं जमती। सिनेमा में राम का अभिनय करने वाले महापात्र की उतनी प्रतिष्ठा कभी नहीं हो सकती जितनी मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की। वास्तविकता का ही मान होता है। आत्मोत्थान करनेवाले का ध्येय सदैव यह होना चाहिये कि वह साधिकार अनुपम, अनन्य, सर्वाग्रणी बनकर दिखला देगा। 'मनसा वाचा कर्मणा' एक होकर उसको आत्म-विज्ञापन करना चाहिये और यथाशक्ति कीर्ति, धन और स्वास्थ्य का संचय करना चाहिये।

सारांश

मनुष्य एक घड़ी की तरह है, जिसका संचालन-यंत्र गुप्त रहता है, काम करनेवाले हाथ बाहर रहते हैं। दोनों जब ठीक रहते हैं तो मनुष्य घड़ी की तरह समय के साथ चलता हुआ विकास करता है। अतएव मनोबल और पुरुषार्थ को सयुक्त करके निश्चित गति से बढ़ना चाहिये।

मस्तिष्क-बल मनुष्य का प्रधान बल है

अथर्ववेद के शब्दों में मनुष्य का मस्तिष्क एक 'हिरण्यमय कोष' अर्थात् स्वर्ण से भरा हुआ कोष है। इसका स्पष्ट प्रमाण एक तो यही है कि शुद्ध शारीरिक परिश्रम करनेवाला व्यक्ति (मजदूर) दिन भर में अधिक-से-अधिक एक रुपया कमाता है, परन्तु एक बुद्धि-व्यवसायी उतने ही समय में लाखों-करोड़ों रुपये कमा सकता है और कमानेवाले कमाते ही हैं। दूसरा प्रमाण यह है कि शरीर के हड्डी-मांस एवं रासायनिक तत्वों का मूल्य चार या पाँच रुपये तक हो सकता है, परन्तु मानव-मस्तिष्क से निकली हुई एक तत्व की बात कभी-कभी लाखों रुपये की हो जाती है।

'हिरण्यमय कोष' का अर्थ यह नहीं है कि मस्तिष्क एक रुपया बनाने का यन्त्र है। उसका व्यापक अर्थ यह है कि मस्तिष्क मानव-जीवन की प्रधान सम्पदा है। मनुष्य की सभी सम्पत्तियों एवं विलक्षणताओं का वही उत्पादक है। वही उसकी प्रधानता का मूल आधार है। कहा भी है कि 'सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्'—सब अंगों में सिर प्रधान है। मस्तिष्क-बल का विकास ही मनुष्यता का प्रथम लक्षण माना जाता है।

शरीर से मनुष्य एक बहुत साधारण कोटि का जीव है। शरीर-सम्बन्धी कोई भी ऐसा बल और कर्म नहीं है जिसमें कोई-न-कोई पशु उससे श्रेष्ठ न हो। सिंह-जैसा पराक्रम और नाद,

हाथी-जैसा आकार-प्रकार, गृद्ध जैसी दृष्टि, पक्षियों-जैसी गमन-शक्ति, घोड़े-गधे-जैसी भार-वहन करने की शक्ति मनुष्य को कहाँ सुलभ है ! वह तो जन्म से ही शारीरिक असमर्थता लेकर, जकड़ा हुआ, रोता-चिल्लाता, अर्द्ध-विक्षिप्त-सा पृथ्वी पर आता है; बिना सिखाये अपने पैरों पर न तो खड़ा हो सकता है और न कोई काम ही कर सकता है। पशु-पक्षियों के बच्चे जन्म से ही समर्थ और शारीरिक क्रियाओं में स्वावलम्बी होते हैं। इन असमर्थताओं के होते हुए भी मनुष्य केवल अपने मानसिक बल की श्रेष्ठता से सर्व-समर्थ एवं सर्व-प्रधान प्राणी बन जाता है। ईश्वर के बाद सर्वशक्ति सम्पन्न वही माना जाता है। मस्तिष्क-बल से साधनों का आविष्कार करके वह पशुवर्ग पर विजय प्राप्त करता है, प्रकृति से अतिरिक्त शक्ति लेता है और संसार के भीतर अपने एक नये संसार का निर्माण करता है। वायुयानों पर बैठकर वह सैकड़ों-हजारों पक्षियों की सम्मिलित गति से आकाश में गमन करता है। ध्वनिविस्तारक यंत्र से वह ऐसी आकाश-वाणी सुनाता है कि वह पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक गूँज जाती है। मनुष्य-निर्मित यन्त्रों में सहस्रों घोड़ों की शक्ति समाई रहती है। उसकी एक मालगाड़ी पर लाखों गधों का भार ढोया जाता है। दूरदर्शक यन्त्रों से वह दूर के ग्रहों के भीतर भी झाँक लेता है। जो उनसे भी नहीं दिखलाई देते, उनको ज्योतिष-गणित से देख लेता है। अपनी ज्ञान-दृष्टि से वह भूत-भविष्यत्-वर्तमान सबको देखने की क्षमता रखता है। उससे वह प्रत्यक्ष को ही नहीं, अप्रत्यक्ष को भी देखता है। संसार-व्याप्त अनन्त शक्ति-तरंगों का अनुभव करता है और उनको पकड़ता है।

शारीरिक सम्बल की सीमा है परन्तु मानस-सम्बल की कोई

सीमा आज तक देखी नहीं गई। पैरों से मनुष्य एक सीमा तक ही दौड़ कर जा सकता है, और शरीर से मृत्यु तक दौड़ सकता है परन्तु मस्तिष्क के विचार जहाँ तक दौड़ कर जा सकते हैं, वह सीमा आज तक निर्धारित नहीं हो सकी। शरीर-नाश के बाद भी मस्तिष्क भविष्य की शताब्दियों में समाया रहता है और कई युगों तक उसके विचार सजीव रहते हैं। मस्तिष्क-बल से मनुष्य जितना ऊँचा उठ सकता है, उसकी नाप भी नहीं हो सकती। एक-से एक बढ़कर कवि, विचारक, आविष्कारक, राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ पैदा होते ही रहते हैं। उनकी विशालता का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। एक छोटा-सा प्राणी भी एक विशाल जगत् को अपने मस्तिष्क के एक कोने में डाले रहता है। यही नहीं, वह तो विराट्रूपधारी परमेश्वर को भी अपने अन्तस्तल में बैठने के लिये निमंत्रण देता रहता है। उसका पेट सेर-दो-सेर भोजन से भर जाता है; जेब, तिजोरियां कुछ लाख रुपयों से भर जाती हैं परन्तु चित्त तो संसार की समस्त सम्पत्तियों से भी नहीं भरता और कभी-कभी दो-चार बातों से ही भर जाता है।

वास्तव में, मस्तिष्क-बल असीम है। उसकी असीमता के कारण मानव-शक्ति भी असीम है। लोग भ्रमवश अपने मन में अपनी समर्थता की एक कल्पित सीमा बना लेते है। वह उनकी व्यक्तिगत सीमा होती है। मस्तिष्क के विकास की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती. यह असंख्य प्रमाणों से सिद्ध है। सारी बातों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य का मस्तिष्क ही उसका कल्पतरु, सर्वसिद्धदायक कवच, महत्त्व का महत्तत्त्व और अपना सर्वस्व है। जिस प्रकार १००० की संख्या में से यदि १ को निकाल लिया जाए तो उसके आगे के तीनों शून्य, शून्य—अर्थात् मूल्य-रहित

हो जाते हैं, उसी प्रकार मानव-जीवन से उसके मस्तिष्क को अलग कर देने से उसकी 'एकता' या महत्ता और सारी मनुष्यता ही समाप्त हो जाती है। किसी पागल की दशा को देखकर यह बात ठीक से समझी जा सकती है। जीवित रहते हुए और शरीर के सबल होते हुए भी ऐसा व्यक्ति पशु से भी अधिक निर्बल, निस्सहाय और बेकार हो जाता है। मानसिक बल की महत्ता पर एक दृष्टि से और विचार कीजिये। शरीर से निर्बल होकर भी बुद्धिमान् व्यक्ति करोड़ों बलवानों पर अपना आधिपत्य स्थापित करता हुआ देखा जाता है। शरीर-बल पर मस्तिष्क-प्रसूत उपाय-बल की सर्वदा विजय होती आई है। मनुष्य को संसार में ऐश्वर्य, अर्थात् देवत्व देनेवाला उसका मस्तिष्क ही है। भीतर से ही नहीं, बाहर से भी वह मानव की महिमा का प्रतीक है। सिर उठाने से मनुष्य की मनुष्यता उठती है, उसके झुकाने से दीनता प्रकट होती है। वैभवसूचक वस्तुएँ मस्तक पर ही रखी जाती हैं—जैसे पगड़ी, टोपी। मस्तक पर ही पुरुषों का विजय-तिलक और स्त्रियों का सौभाग्य-बिन्दु लगता है। महान् की महत्ता कहाँ नहीं पूजी जाती।

मस्तिष्क का साधारण परिचय

मानस-बल के प्रभाव को समझते हुए भी स्वयं मस्तिष्क के स्वरूप को समझना कठिन है। सत्य बात यह है कि कोई भी ठीक-ठीक यह नहीं बता सकता कि वह (मस्तिष्क) क्या है और कैसा है? स्थूल रूप से वह कपाल के भीतर सुरक्षित एक छोटा-सा चेतना-यंत्र है, जो सम्पूर्ण शरीर के चेतना-चक्र (Nervous system) से संयुक्त होकर इन्द्रियों को चैतन्यता देता है और उनके द्वारा विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। यह उसका अंग-रूप है। उसका एक अनंगरूप भी है, जो अधिक शक्तिशाली

एवं स्वतन्त्र रहता है। अग-अनंग दोनों मस्तिष्क के पर्यायवाची हैं। मस्तिष्क का अंगरूप तो वही है, जिसको सभी शरीर-शास्त्री जानते हैं और जिससे शरीर का समस्त चेतना-कर्म सम्पादित होता है। अनंगरूप भावनामय है, तत्त्वमय और अनुभवगम्य है, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं। वह शरीर-रहित और भाव-शरीर-धारी है। उस रूप में वह कैसा है, कितना बड़ा है, इसको कोई नहीं बता सकता। अतएव मस्तिष्क के विषय मे इतना ही ज्ञात है कि वह क्या करता है और कैसे करता है तथा किस प्रकार व्यक्त होता है। उसकी जिन शक्तियों या प्रवृत्तियों से स्वयं उसका चेतना-भाव संचालित होता है, उनकी अनुभूतिमात्र होती है। एक बात का अनुभव और होता है कि मस्तिष्क का शारीरिक रूप ही उसके क्रिया-तत्त्वों का धारक होता है। वह विकृत हो जाता है, तो चेतना-शक्ति स्वयं शरीर को प्रभावित नहीं कर सकती।

मनोवैज्ञानिकों ने मस्तिष्क की क्रिया-प्रणाली का अध्ययन करके उसको दो भागों में विभाजित किया है। सामने के उन्नत भाग को वृहत् मस्तिष्क या चेतन मन कहते है और पीछे के भाग को लघु मस्तिष्क या अन्तर्मन। इन्हीं दोनों से भाव, विचार या संज्ञा-सम्बन्धी शारीरिक कार्य होते है। ज्ञान-तन्तुओं के यही केन्द्रस्थान होते हैं। दूसरे शब्दों में, चित्त-प्रवृत्तियों और सवेदनाओं के यही चेतना-स्थान होते हैं। मन नामक तत्त्व से ये दोनो अंग संचालित होते हैं। 'मन' चित्त, अन्तःकरण, हृदय और मस्तिष्क के अर्थ में भी व्यवहृत होता है। प्राचीन तत्वज्ञों ने हृदय के भावनासम्बन्धी जो गुण-धर्म बताये है, उनसे उनका अभिप्राय मस्तिष्क है। इस तथ्य को स्वर्गीय विद्वान् महामहोपाध्याय डाक्टर गणनाथ सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रत्यक्ष शरीर' में तर्क-सहित प्रमाणित किया है। अतएव हमें मन को

मस्तिष्क का क्रियातत्व मानकर उसके दोनों अंगों के सम्बन्ध में कुछ जान लेना चाहिये।

चेतन मानस ज्ञान एवं विचार का स्रोत होता है। यही अंग कल्पना करता है, मनन करता है, चिन्तन-विवेचन और विवेक करता है। इस खण्ड पर मनुष्य का पूर्ण अधिकार रहता है। विद्या, अभ्यास, ज्ञान, व्यायाम और पौष्टिक तत्वों से इसको विशेष सक्रिय, कुशाग्र तथा प्रबुद्ध बनाया जा सकता है। इसको इच्छानुसार केन्द्रित और नियंत्रित किया जा सकता है। इसी भाग के विकास से ज्ञान और सम्पूर्ण मनुष्यत्व का विकास होता है। यही मनुष्य का भविष्य-निर्माता या भाग्य-विधाता होता है। तभी लोग कहते हैं कि ललाट में मनुष्य का भाग्य लिखा रहता है। यह अनुभवी होने के साथ-साथ विचारक और आविष्कारक भी होता है।

चेतन मानस

चेतन मन स्वभाव से स्वच्छन्द, चंचल और शीघ्रगामी होता है। संसार का अन्य कोई वस्तु इतनी स्वेच्छाचारिणी और तीव्र-गामिनी नहीं होती। यह स्वर्ग तक दौड़ता है और पल-मात्र में। शरीर खाट पर पड़ा रहे, तो भी मन हजार-दो-हजार मील की दूरी पर किसी के बन्द शयनागार में पहुँच सकता है। उसके आने-जाने की कहीं रुकावट नहीं, वह अपने ही रथ पर चलता है, जिसको मनोरथ कहते हैं। ब्रह्म के विषय में कही हुई तुलसी की यह उक्ति उसके विषय में भी चरितार्थ होती है—

"पग बिनु चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥"—मानस।

यह मन कभी खो जाता है, कभी चोरी हो जाता है, कभी जल-भुन कर राख हो जाता है, कभी फूल जाता है, कभी छोटा

हो जाता है और कभी किसी रस में मग्न होकर डूब जाता है। कभी यह कटाक्ष-मात्र से घायल हो जाता है, कभी केवल बातों से। और कभी गालियों को भी बड़े प्रेम से सुनता है—जैसे विवाह में। जिसमें यह रम जाता है, वही मनुष्य के लिए मनोरम हो जाता है, चाहे वह कितना ही कुरूप क्यों न हो। जहाँ से यह टूट जाता है, वहाँ से जीवन का सम्बन्ध टूट जाता है। चेतन मन का यह वर्णन कवित्वपूर्ण नहीं बल्कि यथार्थ है। जब यह मन मन-मोदक खाता है, तो मुख से अनायास लार टपकती है। मानसिक दुराचार की अवस्था में इन्द्रियाँ अकारण चचल हो जाती है। कल्पित कोप से शरीर उत्तप्त हो जाता है। शरीर पर ही नहीं, संपूर्ण जीवन पर कल्पना-क्रिया का प्रभाव पड़ता है।

संक्षेप में यही समझना चाहिये कि चेतन मानस का क्षेत्र अत्यन्त उर्वर है। उसमें प्रत्येक क्षण विचारों की सृष्टि होती रहती है। वह केवल इन्द्रियों की सहायता से ही विषयोपलब्धि नही करता बल्कि स्वतन्त्ररूप से भी कार्य करता है। किसी कार्य में लगे रहने पर वह उसी के सम्बन्ध में विचार करता है, परन्तु कार्य न होने पर वह स्वभाववश बाहर दौड़ने लगता है और यह समझ लेना चाहिये कि किसी कार्य में चेतन मन के लग जाने का अर्थ है, उस कार्य में सम्पूर्ण शारीरिक शक्ति का एक साथ लग जाना; क्योंकि वही शरीर का चेतनाधार होता है।

अन्तर्मन

अन्तर्मन चेतन-मन का ज्ञान-कोष होता है। अगरूप में यह गोलाकार होता है और इसको काटने पर इसमें पुस्तक के पन्नों-जैसे छोटे-छोटे दल मिलते है। इस खण्ड में ज्ञान-विचार के तन्तु नहीं होते। चेतन मानस की तरह न तो यह स्वतन्त्र होता है और न बाह्य जगत् से सम्बद्ध। बाहर से चेतन-मन द्वारा जो अनुभूति होती है,

वही यहाँ पर स्मृति रूप सञ्चित रहती है। देखी, सुनी अथवा विचार की हुई प्रत्येक बात यहाँ बैठती है और आगे विचारो की आवश्यकता के अनुसार उनसे संयुक्त होती है। एक ही बात को बारम्बार देखने-सुनने या सोचने से उसकी गहरी छाप इस मन पर पड़ जाती है और समय पड़ने पर चेतन-मन उन आकृतियों, ध्वनियों आदि के अनुरूप व्यक्ति को तत्काल पहचान लेता है। प्रायः ऐसा होता है कि किसी को देखकर आप उसको पहचान तो लेते हैं परन्तु उसका नाम, पूर्व परिचय का स्थान ध्यान में नहीं आता। बहुत-सी बाते मन मे रहती है परन्तु वे ठीक-ठीक याद नहीं आतीं, या जीभ पर नहीं आतीं। इसका कारण यह है कि उनकी छाप अन्तर्मन पर गहरी नहीं रहती, पर रहती अवश्य है। होता यह है कि अन्तर्मन में बहुत-सी बाते बैठती हैं और खो जाती है। कभी-कभी वे अनायास प्रकट हो जाती हैं और कभी-कभी बहुत-सी बातो के साथ उलझी हुईं। स्वप्नावस्था मे कभी-कभी जो विचित्र दृश्य दिखलाई पड़ते हैं, उसका मुख्य कारण एक यह भी है कि मनुष्य के अन्तर्मन में कल्पित, पठित या प्रत्यक्ष घटित घटनाओं के क्रम उलझकर एक विचित्र रूप में प्रकट होते हैं। उन स्वप्नों से मनुष्य की आन्तरिक स्थिति का पता चल जाता है। स्वप्नों से यह पता चलता है कि चेतन मन किस प्रकार के विचारों से अपने घर को भर रहा है और मनुष्य की भीतरी स्थिति कैसी है।

अन्तस्तल विचारों का सरक्षक या धारक ही नहीं, उनका संचालक एवं उत्पादक भी होता है। जीवन की इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ यहीं उत्पन्न होती हैं और वे चेतन मानस की विचारधारा को चुपचाप प्रभावित करती हैं। असंख्य चित्त-प्रवृत्तियाँ, भावनायें, वासनाये, जो स्वभाव के रूप में होती हैं, इसी खंड में

सोती रहती हैं। आशा, विश्वास, मान, मद, श्रद्धा-भक्ति, प्रेम, भय, ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, क्रोध और मोह आदि के भाव-दुर्भाव यहीं उत्पन्न होते हैं। मनोज का तो वह पिता ही होता है। इन वासनाओं का या भावों का विचारों पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। मन में भूत रहने से झाड़ी मे भी भूत दिखलाई पड़ता है, स्वभाव में वासना रहने से सती की आकृति में भी कामिनी का रूप प्रतीत होता है और सद्भाव रहने से वेश्या में भी बहन की छाया दिखाई पड़ती है। अन्तर्मन मे कपट की भावना होती है तो कल्पनाकार मन हाथ को माला पकड़ा कर बैठा देता है और दान-दक्षिणा की कामना करता है। उसमें ग्लानि होती है, तो विचारक मन आत्महत्या का विचार करता है। उसमें वैराग्य होता है, तो मनुष्य लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति को कौड़ी-बराबर समझता है। वास्तव में अन्तःकरण में जैसी भावना रहती है, उसी के अनुसार हमारा बाहरी दृष्टिकोण बनता है। किसी मन्दिर की मूर्त्ति में एक व्यक्ति देवता का आभास देखता है, दूसरा व्यक्ति उसीको एक निर्जीव पत्थर का टुकड़ा मानता है। क्यों?—क्योंकि पहले व्यक्ति के हृदय में देवता की भावना-मूर्त्ति रहती है, जिसके अनुसार वह उसी की छाया पत्थर की मूर्त्ति में देखता है। देवता पत्थर में नहीं रहते, हृदय मे रहते हैं। दूसरे के हृदय में वह भावना नहीं रहती, इसलिए वह बाहर देवता को कहाँ से देखेगा! किसी को एक व्यक्ति परम आदर-श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, दूसरा व्यक्ति उसी को घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। इसका भी कारण वही है—प्रद्वेष या अति सम्मान की भावना मन के संकल्पों के अनुसार ही उत्पन्न होती है—'प्रद्वेषोबहुमानो वा संकल्पादुपजायते।'—(स्वप्नवासवदत्ता)।

तुलसी के शब्दों में—

"जाकी रही भावना जैसी।
तिन्ह देखी प्रभु-मूरति तैसी॥"—मानस

एक पाश्चात्य विचारक ने भी लिखा है कि हम किसी वस्तु को उसके यथार्थ रूप में नहीं बल्कि उस रूप मे देखते है, जिस रूप में हम स्वयं होते हैं—'We see things not as they are but as we are' अंग्रेजी मे कहा भी है कि सौन्दर्य देखनेवाले की आँख मे (पहले से ही) रहता है—'Beauty lies in the eye of the beholder.' यह सर्व-अनुभूत सत्य है कि विचारों को सरस या नीरस, आशामय या निराशामय बनानेवाला हमारा अन्तर्मन ही होता है, जिसमे हमारे स्वाभाविक एवं उपार्जित गुण संचित होकर हमारे दृष्टिकोण को बनाते है। वही हमारे सम्पूर्ण चरित्र और व्यक्तित्व का आधार होता है। वही हमारा साधन-क्षेत्र है।

इस प्रसग मे यह स्मरण रखना चाहिये कि अंतःकरण बाह्य-जगत् के सम्पर्क मे नहीं रहता। उसमें मनुष्य की कुछ सहजात वृत्तियाँ रहती है, जो चेतन मन को प्रेरित करती है। सद्भाव और दुर्भाव दोनो उसमे रहते है। प्रत्येक व्यक्ति मे इनमे से एक की प्रबलता होती है। उनका पोषण या निराकरण मनुष्य स्वेच्छा से नहीं कर सकता। यदि दुर्भाव है, तो वे आसानी से हृदय-प्रदेश से निर्मूल नहीं किये जा सकते। उनको निर्मूल करने का एक ही उपाय है। यदि चेतनमन द्वारा हम लम्बे अर्से तक सद्विचार करे तो अन्तर्मन की सद्भावनाएँ पोषित होगी। उनके प्रबल होने से दूषित मनोवृत्तियाँ दब जाती है। कल्याण के विचार करने से, सद्गुणो का अभ्यास करने से तथा शिक्षा-द्वारा अन्तर्मन संस्कारित हो जाता है। अन्य किसी उपाय से अन्तस्तल में सद्वृत्तियों की सृष्टि नहीं हो सकती। यदि इसके प्रतिकूल क्रिया

जाए तो धीरे-धीरे भीतर दुर्भावनाओं का विकास होता है, मनुष्य व्यसनी, विषयी और आदतों का गुलाम हो जाता है। साररूप में यही समझना चाहिये कि सद्विचारों, दुर्विचारों तथा सत्कर्मों-दुष्कर्मों से हमारी आदतें बनती हैं, स्वभाव बनता है, मनोदशा बनती है और मनोदशा के अनुसार सम्पूर्ण जीवन बनता है। स्वभाव या मनोदशा के दुष्ट होने पर विचार निर्बल हो जाते हैं और इन्द्रियाँ दुराचरिणी हो जाती हैं। यदि मनुष्य मन से क्लीव होता है, तो उसका सारा पुरुषार्थ निष्फल हो जाता है। उपनिषद्कारों ने सत्य ही लिखा है कि मन ही मनुष्य के बन्धन एवं मोक्ष का कारण होता है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।' मनोयोग से कोई तो मनोबल संचित करके अधिक समर्थ एवं स्वतन्त्र बन जाता है और कोई अपनी आदतों की गुलामी से बंधनग्रस्त हो जाता है। एक बार जो स्वभाव बन जाता है, वह कठिनाई से बदलता है, इसलिये नीति का वचन है कि 'स्वभावो दुरतिक्रमः।'

अन्तर्मन के सम्बन्ध में दो-चार अन्य बातें भी जानने योग्य हैं—

१—शरीर के अंगों की जो स्वभाविक चेष्टाएँ होती हैं, उनका संचालक अन्तर्मन ही है। कोई विचार मस्तिष्क में आते ही यह मन शरीर के अंगों को तत्काल संचालित कर देता है। इसमें जैसी दुर्भावनाएँ जगती हैं, या उठती हैं, उनका प्रभाव शारीरिक चेष्टा और मुख-मुद्रा से तत्काल लक्षित होता है।

२—सबके मस्तिष्क का भावना-अंग चेतना-अंग से अधिक सबल होता है। सब विचारक भले ही न हों परन्तु एक अंश तक भावुक अवश्य होते हैं। सब में कुछ प्राकृतिक भावनाएँ होती हैं। इसलिये हृदयस्पर्शी या मर्म-स्पर्शी बातों का प्रभाव अधिक पड़ता है। भावों को आन्दोलित करने से किसी की

विचारधारा उनके अनुकूल चल पड़ती है परन्तु शुद्ध ज्ञान क्षेत्र मे भावुकता का प्रदर्शन सूर्योदय में चन्द्र जैसा होता है। दोनों के अलग-अलग अवसर होते हैं। जहाँ ज्ञान-प्रयोग निष्फल होता है, वहाँ भाव की सजगता कार्य कर जाती है।

३—अन्तर्मन की दो प्रवृत्तियाँ सबमें प्रबल होती हैं—एक आर्थिक, दूसरी मनोवैज्ञानिक। पहली के अन्तर्गत क्षुधा या जीवीकोपार्जन सम्बन्धी वृत्तियाँ होती हैं; दूसरी के अन्तर्गत प्रेम-प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति की भावनाएँ। इनको विचारो के वेग से उखाड़ा नहीं जा सकता। अतएव विचारों को इस रूप में ढालना पड़ता है, जिससे क्षुधा और मान आदि की तृप्ति हो सके।

४—विचारों या संवेदनाओं की अधिक उत्तेजना से पहला आघात अन्तर्मन पर पड़ता है। वह निर्बल हो जाता है। इस स्मृति-अंग के निर्बल होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योंकि धारक-यंत्र ही निर्बल होगा तो विचार ठहरेंगे कहाँ, विचार-शृंखला कैसे बँधेगी। पागलों की स्मृति ही पहले नष्ट होती है। क्रोध में भी पहले स्मृतिनाश होता है, जिससे मनुष्य भला-बुरा कुछ नहीं पहचान सकता और बे-सिर-पैर के काम करता है। बहुत-से लोगों के व्यक्तित्व में जो विभिन्नता दिखलाई पड़ती है, उसका मुख्य कारण उनकी स्मृतिदुर्बलता है। विचारों या संवेदनाओं की शिथिलता अथवा अकर्मण्यता से मस्तिष्क मे जड़ता आ जाती है। अतएव छोटे-बड़े मन का कार्यक्रम तभी ठीक रह सकता है, जब कि दोनों में परस्पर आदान-प्रदान होता रहे। मनुष्य उन्नति तब करता है, जब उसके विचार उसकी भावुकता पर शासन करते हैं। इसलिये चेतन मन को गृहपति और अन्तर्मन को गृह-स्वामिनी मानकर उनको उनकी मर्यादा में रखने से सफलता मिलती है।

मस्तिष्क की क्रियाप्रणाली के आधार पर उसका साधारण परिचय ऊपर दिया जा चुका है और इसका भी संकेत किया जा चुका है कि उसका संचालक मन नामक तत्त्व है। उसके अतिरिक्त मस्तिष्क का एक और अंग है, जिसको बुद्धि कहते हैं।

मस्तिष्क का प्रधान तत्त्व

बुद्धि वह तत्त्व है, जो मानस को प्रकाशित करता है। वह मानस से संयुक्त रहता है। ज्ञान, विवेक और स्मृति-सम्बन्धी जिन कार्यों का उल्लेख ऊपर हुआ है, वे बुद्धि के सहयोग से ही होते है। या यों कहिये कि मानस-खंडों की सहायता से बुद्धि ही कल्पना, मनन आदि करती है। बुद्धि का हम अलग से वर्णन केवल उसकी कुछ विशेषताओं को व्यक्त करने के लिये कर रहे है।

बुद्धि मस्तिष्क की प्रधान शक्ति है, जिसका अधिकांश सबको जन्म से ही सुलभ होता है। उसका केवल एक विशेष रूप है, जो सर्वसुलभ नहीं होता, वह है प्रतिभा। प्रतिभा उस बुद्धि को कहते है, जिसमें मौलिक विचारों की सृष्टि करने की क्षमता हो। ऐसी विलक्षण बौद्धिक शक्ति विलक्षण व्यक्तियों को जन्म से प्राप्त होती है; वह बनाने से नहीं बनती। बुद्धि-प्रयोग से कोई भी व्यक्ति बुद्धिमान् और विद्या-अभ्यास से विद्वान् हो सकता है परन्तु सब प्रतिभाशाली नहीं हो सकते।

न्यायशास्त्र के मत से साधारण बुद्धि के दो भेद हैं—अनुभूति और स्मृति। इनका विवरण चेतन और अन्तर्मन के अन्तर्गत आ चुका है। उपयोग के अनुसार शास्त्रकारों ने उसके कुछ और भी भेद किये हैं। उनका भी संक्षिप्त परिचय जान लेना आवश्यक है। एक प्रकार की बुद्धि को आसक्त बुद्धि कहते है। वह किसी विषय मे आसक्त होकर, तब स्वार्थभावना से उस पर विचार करती है। इसलिये वह अपने प्रधान धर्म—न्याय या

विवेक—को भूल जाती है और विषय के यथार्थ रूप का निरूपण नहीं कर पाती। उत्तम बुद्धि निरासक्त होती है, जो न्यायपूर्वक किसी वस्तु का याथातथ्य निरूपण करती है। निरासक्त और आसक्त बुद्धि के आधार पर ही ज्ञानी-अज्ञानी का भेद किया जाता है।

एक प्रकार की बुद्धि संशयात्मक होती है, जो भ्रमपूर्ण, मलिन और द्विविधाग्रस्त रहती है। अल्पज्ञ, अपराधी और चचल स्वभाव के मनुष्यो की बुद्धि संशयात्मक अतएव अस्थिर होती है। दूसरे प्रकार की बुद्धि निश्चयात्मक होती है, जो स्थिर, गम्भीर, स्वच्छ और ज्ञान से प्रकाशित रहती है।

इसी प्रकार बुद्धि के सदुपयोग, दुरुपयोग और अनुपयोग के आधार पर उसके अनेक भेद किये जाते है। मर्मज्ञता, कुशाग्रता दूरदर्शिता, सूक्ष्मदर्शिता, प्रत्युत्पन्नता आदि उसके विशेष गुण माने जाते है और दीर्घ-सूत्रता, जड़ता, मुग्धता आदि आत्मनाशी अवगुण। सरलता, विचारों की स्पष्टता, 'सुव्यवस्थित ढंग से भावो की अभिव्यंजना, प्रगल्भता, सक्रियता, एकाग्रता और परिणामदर्शिता—ये उत्तम बुद्धि के गुण है। जो बुद्धि क्रियात्मक होती है, सप्रयोजन विचार करती है और विचारों को कार्यरूप मे परिणत करने के लिये मनुष्य को प्रेरित करती है, वही बुद्धि विशेष गुणवती कही जाती है। सबसे निकृष्ट बुद्धि वह है, जो मन्द होती है और शृगाल की तरह भीरु रहती है। ऐसे बुद्धिवालों या बुद्धिहीनो को क्रमशः मन्दबुद्धि और शृगालबुद्धि कहते हैं।

बुद्धि की महत्ता

विस्तार-भय से हमने सूक्ष्म-रूप में ऊपर बुद्धि का साधारण विवरण दे दिया है। उसके सदुपयोग के सम्बन्ध में हमें सर्वप्रथम यही कहना चाहिये कि बुद्धि की उपयोगिता से ही मनुष्यता की प्रतिष्ठा

होती है। इस अध्याय के आरम्भ में हम मस्तिष्क-बल की प्रधानता के सम्बन्ध में जो कुछ लिख चुके हैं, वह वस्तुतः बुद्धिबल की श्रेष्ठता का वर्णन है। बुद्धि-प्रधान जीव होने के कारण मनुष्य सर्वप्रधान जीव है। हितोपदेश में सत्य ही कहा है कि जिसके पास बुद्धि है, वही बलवान् है—'बुद्धिर्यस्य बल तस्य।' मानव जगत् में हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि जो बुद्धिमान् हैं, वे ही स्वतंत्र, समृद्ध एवं शक्तिमान् हैं। बौद्धिक-स्वतंत्रता से मनुष्य बन्दी-गृह मे भी स्वतंत्र रहता है। गाँधीजी उस समय भी सर्व-स्वतंत्र थे, जब सारा देश पराधीन था क्योंकि वे बुद्धि से स्वतन्त्र थे। गाँधीजी निःशस्त्र होते हुए भी सर्वशक्तिमान् थे और कौन नहीं जानता कि उस क्षीणकाय मनुष्य ने केवल बुद्धि-साधना से अकेले खड़े होकर दिग्विजेता अंग्रेज़ों को सात समुन्दर पार खदेड़ दिया। अपने साधारण जीवन में देखिए—किसी कर्म के सम्पादन में एक बुद्धिमान् और एक मूर्ख की शारीरिक क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं होता, केवल बुद्धि का अन्तर होता है, जिसके कारण बुद्धिमान् का कार्य सफल होता है और मूर्ख का विफल—

'प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्य्य-योगे।
समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः॥'—भास

बुद्धिमान् से कहीं अधिक कठोर परिश्रमी होकर भी मूर्ख केवल इसलिये नहीं सफल होता कि वह कार्य-कुशल नहीं होता। अपनी बुद्धिहीनता और विचारों की दासता के कारण वह परतंत्र तथा बुद्धिमानों का आश्रित बना रहता है। हितोपदेश में लिखा है कि बुद्धिहीनों से बुद्धिमानों की जीविका चलती है—'विदुषां जीवनं मूर्खः।'

बुद्धि की उपयोगिता पर एक दृष्टि से और विचार कीजिये—समय सबके लिये एक-सा रहता है, परन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति उसीको कामधेनु बनाकर दूहता है और बुद्धि-रंक उसको व्यर्थ

गँवा देता है। ऐसे व्यक्ति के हाथ से समय जब तीर की तरह निकल जाता है, तब वह सचेत होकर खोये हुए अवसर के पीछे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर दौड़ता है। वही अवस्था नरक है। एक अंग्रेजी विचारक ने लिखा है कि अवसर का हाथ से निकल जाना और समय बीतने के बाद यथार्थता का ज्ञान होना ही नरक है—

'Hell is opportunity missed and truth seen too late.'

इस नरक से बचने के लिए बुद्धि का समयानुकूल उपयोग आवश्यक होता है। विदुर की जिह्वा पर बैठकर व्यास की सरस्वती ने ठीक ही कहा है कि सद्बुद्धि द्वारा ही देवताओं का अनुग्रह प्रकट होता है, देवता लोग चरवाहे की तरह डडा लेकर किसी की रक्षा नहीं करते, वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसको बुद्धि-बल से संयुक्त कर देते हैं—

"न देवा दडमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यन्तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या विभजन्ति तम्॥"—महाभारत

इसके विपरीत, बुद्धि का दुरुपयोग होने से मनुष्य की मनुष्यता का नाश हो जाता है—'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।' इसका प्रत्यक्ष प्राकृतिक प्रमाण यह है कि मृत्युकाल के निकट होने पर मनुष्य की बुद्धि एकाएक परिवर्तित या विपरीत हो जाती है और वह अपने हित-अहित को पहचानने में असमर्थ हो जाता है। तुलसी की यह उक्ति उल्लेखनीय है—

"जा कहँ प्रभु दारुन दुख देहीं।
ताकर मति पहिलेहिं हर लेहीं॥"—मानस

जिस दृष्टि से भी हम देखें, यही सत्य प्रतीत होता है कि मनुष्य के उत्थान-पतन का कारण उसकी बुद्धि होती है।

बौद्धिक विकास से मानव-शक्ति का विकास होता है और उसके ह्रास से शक्ति-विनाश। यही नहीं, बुद्धि के दुरुपयोग से मनुष्यता का दुरुपयोग होता है। बुद्धि इतनी प्रभावशालिनी शक्ति है कि वह कुटिल होकर अपना ही नहीं, बहुतों का सर्वनाश कर देती है। अतएव उसके उपयोग में उतनी ही सावधानी की आवश्यकता होती है, जितनी बन्दूक या पिस्तौल के उपयोग में।

बुद्धि का सदुपयोग क्या है?—वाल्मीकि के अनुसार उसके ये गुण हैं, जिनसे उसके उपयोग का पता चल सकता है—सुनने की इच्छा, सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, तर्क-द्वारा सिद्धांत का निश्चय करना, विज्ञान और तत्व-ज्ञान—

"शुश्रूषा, श्रवणश्चैव ग्रहणं, धारण तथा।
उहोपोहाऽर्थ विज्ञान तत्त्व-ज्ञानं च धीगुणाः॥"—रामायण

सार-रूप में इसमें सभी-कुछ आगया परन्तु इस पर विस्तार पूर्वक भी विचार करना चाहिए। बुद्धि का प्रधान कार्य है, सत्य को खोजना, उसको प्रकाशित करना। जीवन के रहस्यों और प्रकृति के रहस्यों को जानना, उसका विशेष धर्म है। वह एक दीपक है, जिसको लेकर मन घोर अन्धकार में अपना मार्ग देखता है। बुद्धि जीवन का नेतृत्व करती है, अतएव जब वह सत्य को देखने में प्रवीण होती है, तभी नेतृत्व कर सकती है।

बुद्धि-चक्षु से बुद्धिमान् प्राणी पहले जीवन-सत्य को देखता है, जिसको आत्म-ज्ञान कहते हैं। वह अपने को पहचानता है, अपनी आत्म-शक्तियों को देखता है, वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को समझता है और अपनी सर्वप्रधान मूल प्रवृत्तियों को पकड़ता है। वह देखता है कि उसके मस्तिष्क का स्वाभाविक झुकाव किधर है। वह यह देखता है कि उसकी पशु प्रवृत्तियाँ कितनी प्रबल हैं और आत्मसंयम द्वारा इनके संस्कार का उपाय

सोचता है। बुद्धि-द्वारा ही वह आत्मज्ञान प्राप्त करता है और आत्मज्ञान ही परमज्ञान है, ऐसा प्राचीन पण्डितों का मत है—'आत्मज्ञानं परं ज्ञानम्।' पाश्चात्य दार्शनिक भी आत्माज्ञान को दर्शनशास्त्र का मूल सिद्धान्त मानते हैं और कहते हैं कि अपने को पहचानो—'Know Thyself.' यह ज्ञान बुद्धि के उपयोग से ही सुलभ होता है। आत्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरों को पहचानना भी बुद्धि का ही कर्त्तव्य है। अपने तथा दूसरे को पहचानकर ही मनुष्य अपने कर्त्तव्य का निश्चय कर सकता है। इस प्रकार बुद्धि का कार्य है—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित को जानना और जीवन के सत्य को, प्रयोजन को, समझकर उसका विकास करना।

बुद्धि का दूसरा प्रधान उपयोग है, सृष्टि के सत्य को समझकर, मानव-जीवन को उसके अनुरूप बनाना। 'सृष्टि का सत्य क्या है? 'शतपथ ब्राह्मण' में लिखा है कि यह सभी विश्व एक छन्द है—'छन्दांसि वै विश्व रूपाणि।' छन्द उस गति को कहते हैं, जो ताल-ताल में नृत्य करती है। किसी छन्दोबद्ध रचना में जिस प्रकार बहुत-से शब्द यथास्थान संयुक्त होकर एक भाव को अभिव्यक्त करते हैं, उसी प्रकार इस विश्व-रचना के सभी साधन अलग-अलग रहते हुए और परस्पर संघर्ष करते हुए भी एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार शब्दों को यथास्थान संयुक्त करके कोई कवि उनको काव्य का रूप दे देता है, उसी प्रकार समस्त प्राकृतिक शक्तियों को किसी 'कविर्मनीषी' ने क्रम से संयोजित किया है, तभी सृष्टि का कार्य-क्रम नियमपूर्वक चलता है। काव्य के पीछे कवि की प्रतिभा और किसी चित्र के पीछे चित्रकार की कला की तरह सृष्टि-रचना के पीछे किसी कुशल रचनाकार की रचनात्मक बुद्धि

और उसके अस्तित्व का आभास मिलता है। उसकी भावना अथवा योजना के अनुसार सब तत्त्व सप्रयोजन अपनी-अपनी मर्यादा में सीमित होकर, अपने-अपने निश्चित धर्म के अनुसार ही चलते हैं और इस व्यवस्था से सम्पूर्ण सृष्टि नियमित गति से चलती रहती है। उसके भावुक, कलाकार या नियामक को ईश्वर, परमात्मा आदि नामों से पुकारते है। यही सांसारिक जीवन का सब से बड़ा सत्य है, जिसको बुद्धि से ही समझा जा सकता है। इस सत्य के आधार पर ही मानव-जीवन की समस्त रूप-रेखा बनती है, मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है और मनुष्यता की एक मर्यादा बंधती है। मनुष्य समझता है कि वह संसार में अकेला नहीं है, उसका एक साथी भी है जो उसको प्रेरित करता है। वह उसको जीवन का पथ-प्रदर्शक और जीवन-संध्या का अन्तिम दीपक मानकर धैर्यपूर्वक आगे बढ़ता है। और सब से प्रमुख बात यह है कि इसी सत्य-विश्वास के आधार पर मानव-जीवन की नैतिकता की प्रतिष्ठा होती है, जिसके द्वारा जीवन में सफलता मिलती है। समाज में जो अनेकता में एकता दिखलाई पड़ती है, वह जीवन के इसी नैतिक पक्ष की प्रबलता के कारण है।

लोक-जीवन का एक और प्रधान सत्य है जिसको समझने के लिये बुद्धि की आवश्यकता होती है। उपनिषद् के शब्दों मे वह यह है—"आनन्द ही ब्रह्म है, यह जान; आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होने पर आनन्द से ही जीवित रहते है और मृत्यु से आनन्द ही मे समा जाते है।"—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्—आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते—आनन्देन जातानि जीवन्ति—आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति।"

इसको जानने की आवश्यकता इसलिये है कि जीव मात्र सुख का इच्छुक होता है, या दूसरे शब्दों मे, आनन्द-कुमार होता है। संसार आनन्दमय तभी हो सकता है, जब सभी सृष्टि के नियमानुसार आचरण करें। यह तथ्य बुद्धि ही से जाना जा सकता है।

संक्षेप में यह समझना चाहिये कि बुद्धि द्वारा चित्त की भ्रमणशील वृत्तियों को रोका जाता है अर्थात् चित्त को एकाग्र किया जाता है। उसी को योग कहते हैं। उससे कुप्रवृत्तियों का दमन करके मानसिक विभूतियों को उद्दीप्त किया जाता है, जीवन के मर्म को समझा जाता है और आवश्यकतानुसार बाहर से ज्ञान का संचय करके सद्विचारों का निर्माण किया जाता है। सुकरात के मत से ज्ञान ही धर्म है–'Knowledge is Virtue.' और पाश्चात्य दर्शन के अनुसार ज्ञान ही शक्ति है—'Knowledge is Power.'—भारतीय दर्शन के मत से ज्ञान द्वारा किया हुआ कर्म ही प्रधान बल है। क्रियात्मक ज्ञान ही बुद्धि का असली धन है। महाकवि गेटे के शब्दों में विचारो का कार्यरूप में परिणत करना संसार में सबसे कठिन कार्य है—"To put one's thought into action is the most difficult thing in the world.' अतएव बुद्धि का काम किसी ज्ञान को प्राप्त करना ही नहीं, बल्कि उसका उपयोग करना है; और उपयोग भी इस तरह करना कि उससे मानव-चरित्र की मर्यादा बनी रहे। गाँधीजी ने लिखा है कि चरित्र के बिना ज्ञान एक नाशकारी बल है, जैसा कि संसार के बहुसंख्यक सिद्धहस्त चोरों और धूर्त-भलेमानुसों के उदाहरण से प्रकट होता है। चरित्र के लिए बाहर की अपेक्षा बुद्धि को अपनी आत्मा का आश्रय लेना पड़ता है।

मानस-तत्त्वों के इस विवरण को समाप्त करने से पूर्व आत्मा के विषय मे भी कुछ लिख देना आवश्यक है क्योंकि वही प्राण-प्रदायक तत्त्व है और तत्त्वज्ञों के मत से, उसी से उसके स्वभाव का 'महत्' (बुद्धि) उत्पन्न होता है, जिससे मनुष्यता का विकास होता है। बहुत-से लोग आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और जीवन के भौतिक पक्ष को ही सर्वस्व समझते है। वे लोग आत्मिक शक्ति को इतना महत्त्व नहीं देते, जितना ऐटम की शक्ति (Atomic energy) को। यद्यपि इसी युग मे गाँधीजी सिद्ध कर चुके है कि आत्मिक शक्ति ही संसार की प्रधान शक्ति है। जो लोग आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, वे अपनी चेतनता की अपेक्षा अपनी जड़ता में अधिक विश्वास करते है।

आत्मा

आत्मा के होने में इससे बढ़कर कोई प्रमाण क्या होगा कि वही एक तत्त्व है, जिसके संयोग से पार्थिव शरीर मे चैतन्यता आ जाती है और उसी के वियोग से मिट्टी का शरीर फिर मिट्टी मे मिल जाता है। मरने पर भी शरीर ज्यों-का-त्यों बना रहता है, पर उसमे कोई एक अज्ञात वस्तु नही रहती, जिसके कारण वह निर्जीव हो जाता है। दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह महा संकट-ग्रस्त, महारोगी या अबोध बालक क्यों न हो, मृत्यु से डरता है, अपने को बचाने की चेष्टा करता है। जीवन के अन्तिम क्षण तक जर्जरकाय वृद्ध भी मृत्यु-यंत्रणा से बचना चाहते हैं, यद्यपि सभी मानते हैं कि मृत्यु से शारीरिक व्यथा का अन्त हो जाता है। इस स्वाभाविक भय का कारण यह है कि यद्यपि कोई मनुष्य मृत्युकालीन वेदना का अनुभवी नहीं होता परन्तु कोई ऐसी वस्तु शरीर में रहती है, जो उस घोर वेदना से परिचित रहती है और पुनः उसको भोगने से

घबराती है। वह वस्तु या तत्त्व आत्मा ही है। वह वस्तु बुद्धि नहीं हो सकती क्योंकि जीवात्मा से बुद्धि की भिन्नता अनुभूत ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाणित भी होती है। पागलपन में बुद्धि पूर्णतया नष्ट हो जाती है, फिर भी शरीर जीवित रहता है। योग की मनोलया अवस्था मे अथवा मूर्च्छितावस्था में सम्पूर्ण मानसिक क्रियाएँ स्थगित हो जाती हैं, परन्तु प्राणी जीवित रहता है। इससे उस अतिरिक्त शक्ति का आभास मिलता है।

कभी-कभी कोई अनैतिक आचरण करने पर मनुष्य को आत्मग्लानि होती है और कभी-कभी अकेले मे भी कोई अपकर्म करते समय उसको अपने से ही भय लगता है। ये बातें आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। ये बौद्धिक क्रियाएँ नहीं हो सकतीं क्योंकि बुद्धि के सहयोग से ही कर्म होता है और अपराधी स्वयं न्यायाधीश नहीं बन सकता। कोई और है, जिससे मन, बुद्धि दोनों डरते हैं और मन जब उच्छृंखल होने लगता है, तो सावधान बुद्धि उसको सचेत कर देती है कि भीतर कोई बाहरी देखनेवाला झाँक रहा है। मनुष्य को अनुभूति होती है कि भीतर एक द्रष्टा है, साक्षी है। सबके साथ ईश्वर का एक गुप्तचर लगा है। बड़े-से-बड़ा आततायी भी निरपराध व्यक्ति को सताते समय भीतर से निर्बल हो जाता है, क्योंकि ईश्वर का वह राजदूत अनैतिक कार्यों मे सहयोग नहीं देता। नैतिक कार्यों मे आत्मशक्ति स्वभावतः बढ़ जाती है क्योंकि समस्त शरीर को जीवन-पर्यन्त सतेज रखने वाली महाशक्ति का तेज स्फुटित होता है। यह वही प्रकाश है, जिसको नोआखली में महात्मा गाँधी अपने भीतर ढूँढ़ते थे। स्वानुभूति से उस तेजोमय तत्त्व का आभास मिलता है। बीज के बिना वृक्ष की तरह, आत्मा-हीन जीवन की कल्पना नहीं हो सकती।

जीवात्मा के अस्तित्व को मान लेने पर भी उसके स्वरूप का ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है। उसका स्वरूप-जैसा भी हो, इतना निश्चित है कि वह परम चैतन्य, आनन्दमय, तेजस्वी, ज्ञानमय; निर्विकार और अक्षय है। आत्मशक्ति की दृढ़ता से उसकी इन विशेषताओं की अनुभूति होती है। मानव-जीवन के आदर्श और ध्येय इन्हीं गुणों के आधार पर बने हुए प्रतीत होते हैं। यदि आत्म-तत्व में ये बातें न होतीं, तो स्वभाव और विचारों में यह बातें कैसे आतीं। प्रकृति में ईश्वरीय कार्यों को देखकर मनुष्य ईश्वर में भी इन्हीं गुणों की कल्पना करता है। आत्मसंयम से वह स्वयं अपने भीतर विशेष चेतनता, आनन्द, स्फूर्ति, ज्ञान-प्रकाश, शुद्धता और अमरता का अनुभव करता है। निश्चय ही आत्मा का वही स्वरूप है, जो सर्व भूतान्तरात्मा ब्रह्म का है। तभी तो शास्त्रकारों ने निर्णय किया है कि आत्मा ही ब्रह्म है या आत्मा परमात्मा का अंश है, अथवा महाकवि तुलसीदास के शब्दों में—'ईश्वर अंश जीव अविनाशी।' वही कर्त्ता है, जो चरित्र, स्वभाव, कर्त्तव्य और जिज्ञासा की उत्पत्ति करता है। वह क्षेत्रज्ञ है, जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के क्षेत्र में भावों का आरोपण करता है।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा ब्रह्ममयी है, इसको दो-एक अन्य प्रमाणों से भी समझना चाहिये। वेद में लिखा है कि आदि में केवल ब्रह्म था। उसने संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ; इस संकल्प के बाद उसने सृष्टि-रचना आरंभ की और स्वयं उसी में समा गया। ईश्वर ने सचमुच ऐसा संकल्प किया या नहीं, इस पर तर्क करने की अपेक्षा इसके सत्य को इस रूप में देखना चाहिये कि एक ही प्राण सर्वभूतों में समाया है, तभी सब शक्तियाँ एक

धुन में काम कर रही हैं। बिना संकल्प या योजना के ईश्वर यों-ही गिरकर चकनाचूर हो गया होगा। 'एकोऽहं बहुस्याम्' की भावना को दृढ़ करके उसने आत्म-विकास किया होगा। ध्यान से देखने पर एक से अनेक होने की यह भावना मानव-स्वभाव में भी दिखलाई पड़ती है। कर्म से, सहानुभूति से, प्रतिष्ठा-प्राप्ति से मनुष्य अपने को व्यापक बना देना चाहता है और हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जो व्यक्ति अपने को जितना व्यापक बना लेता है, वह उतना ही ऐश्वर्यवान् बन जाता है। विश्व-कवि रवीन्द्र ने सत्य लिखा है कि "देश और काल में, जो मनुष्य जितने अधिक मनुष्यों के अन्दर अपने को मिलाकर देख सका है और प्रकाशित कर सका है, वह उतना ही महान् पुरुष है।" आत्म-विकास की ईश्वरीय भावना प्रत्येक मनुष्य के हृदय में रहती है।

दूसरी बात यह है कि साधारण-से-साधारण प्राणी भी स्वभाव से महत्त्वाकांक्षी होता है। वह प्रभु होना चाहता है, अधिकारी एवं ऐश्वर्यवान् होना चाहता है। धनोपार्जन तथा यशोपार्जन से मनुष्य दूसरों पर ईश्वरता प्राप्त करना चाहता है; जो बाहर सफल नहीं होता, वह घर में स्त्री-बच्चों का ही प्रभु बनकर रहना चाहता है। जो किसी पर अधिकार प्राप्त नहीं कर पाता, वह घर के पशुओं पर ही अपना प्रभुत्व दिखा कर आत्म-सतोष करता है। प्रभु होने की यह सार्वजनिक आकांक्षा मनुष्य के हृदय में किसी प्रभु के अंश से ही आती है। इसी के साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि सभी स्वभावतः स्वाधिकार-प्रेमी है, इसलिए कोई किसी के अधिकार को छीनकर, उसकी सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सकता। ईश्वर का एक और विचित्र गुण मानव-मनोवृत्ति में समाया हुआ है। वह यह है कि शक्ति या धन को बटोरने से नहीं बल्कि उनका वितरण करने से ऐश्वर्य

की प्राप्ति होती है। ईश्वर ने प्रकृति में अपनी विभूतियों को फैला दिया है, इसीसे उसकी ईश्वरता का भान होता है। मानव-समाज में भी देखिये तो यही बात मिलेगी। जो दूसरों को दे सकता है—चाहे अधिकार या धन या पद—और जो दूसरों के लिए त्याग कर सकता है, उसीको लोग स्वभाव-वश, (बुद्धि-वश नहीं) सामर्थ्यवान् या महान् मानते है। सेवा, त्याग और परोपकार से ही ऐश्वर्य या अधिकार की प्राप्ति होती देखी जाती है। इसको देखते हुए स्कंद-पुराण की ईश्वर-द्वारा कथित यह उक्ति ठीक समझ में आ सकती है—'ददामि च सदैश्वर्यं ईश्वरस्तेन कीर्त्यते।'—अर्थात्, मैं सदैव ऐश्वर्य प्रदान करता हूँ, इसलिये ईश्वर माना जाता हूँ। कुबेर धनाधीश कहे जाते हैं, परन्तु लोक में उनको कोई नहीं पूजता। लक्ष्मी की पूजा सर्वत्र होती है; उनकी पूजा के लिए त्योहार हैं, उनकी मूर्तियाँ हैं और उपासकों में उनके प्रति श्रद्धा मिलती है। कारण यह है कि लक्ष्मी दूसरों को समृद्ध बनाने में प्रसिद्ध है; कुबेर की तरह बटोरती नहीं। इस प्रवृत्ति को धारण करनेवाली शक्ति आत्मा ही है, जो ब्रह्मस्वरूपिणी है। जो ऐश्वर्य नहीं प्रदान करता, उसके प्रति मानव-आत्मा विद्रोह करती है। जनता की इसी प्रवृत्ति ने उन देशी नरेशों को नीचे गिरा दिया, जो दूसरों को ऐश्वर्य न देकर, उनका ऐश्वर्य छीनकर स्वयं ऐश्वर्यशाली बने रहना चाहते थे। उनकी ईशता कृत्रिम थी, अतएव असह्य थी। उन्होंने ईश्वर की पदवी तो ले ली थी पर कभी यह चेष्टा नहीं की कि वे एक से अनेक हो जाएँ अर्थात् प्रजातन्त्र स्थापित करके अपने को प्रजा में व्यापक बना दें।

ब्रह्म और आत्मा समानधर्मा हैं, इसका एक प्रबल प्रमाण और भी है। लौकिक दृष्टि से मनुष्य अपने से अधिक अन्य किसी को नहीं चाहता; वह स्वार्थी होता है और उसके अधिकांश

काम स्वार्थ की प्रेरणा से होते हैं परन्तु स्वार्थ पर ही उसका सारा संसार नहीं बनता। मनुष्य के भीतर एक और प्रबल भावना रहती है, जो स्वार्थ को दबा लेती है। यह भावना प्रबल होती है, तो मनुष्य उस जीवन तक को सहर्ष बलिदान कर देता है, जिसके लिए वह स्वार्थ-संचय करता है और जिसकी रक्षा के लिये वह अपना सर्वस्व लुटाने को तैयार रहता है। वह नैतिक भावना है। मनुष्य अपने आदर्शों की रक्षा के लिये जीवन का मोह नहीं करता। देश-प्रेम, जाति-प्रेम, धर्म-प्रेम के लिये वह सहर्ष आत्म-त्याग करता देखा जाता है और उसकी आत्मा तभी उद्दीप्त होती है, जब नैतिक जीवन की रक्षा, मानवता की मान-रक्षा का प्रश्न उपस्थित होता है। उस दशा में लोक-सेवा के लिये वह अपने को भूल जाता है। तभी प्रकट होता है कि मनुष्य अपने लिये ही नहीं, दूसरों के लिये भी जीता है। वह समाज में अपना नाम, अपनी कीर्ति छोड़ जाना चाहता है--शरीर चाहे रहे या न रहे। आदर्शों के पालन की यह भावना और अमरता की आकांक्षा ही प्रकट करती है कि आत्मा में ईश्वर-रूपी अग्नि की चिनगारी है। और यह बात सत्य मालूम होती है कि मनुष्य को ईश्वर ने अपने-जैसा ही बनाया है, उसको अपनी जैसी रचनात्मक एवं महत्त्वाकांक्षी बुद्धि दी है। आत्मा द्वारा ही ये ईश्वरीय तत्त्व शरीर में आते हैं।

आत्मा की कुछ विशेषताएँ

आत्मा के रूप मे मनुष्य को दैवी तत्त्व सुलभ होता है, इसमें सन्देह नहीं। भौतिक शरीर में ज्ञान, चेतना और समस्त मूल वृत्तियो का बीजारोपण वही करती है, इसमे भी संशय नहीं हो सकता। वह शक्तिशालिनी है, इसको कौन न मानेगा? जिसमें जीवन देने की और जीवन लेने की क्षमता है, उसकी

शक्ति-सत्ता को न मानना मूर्खता है। उसका स्वरूप जैसा भी हो, इतना निश्चित है कि वह ब्रह्ममयी है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमें आत्मा-सम्बन्धी कुछ अन्य बातों को भी समझ लेना चाहिये।

पुनर्जन्म

पुनर्जन्म भारतीय तत्त्व-ज्ञान का मौलिक सिद्धान्त है। इससे आत्मा का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होता, बल्कि जीवन की बहुत-सी पहेलियाँ भी सुलझ जाती हैं। जीवन की बहुत-सी विचित्रताओं को आजकल के बड़े-बड़े पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक नहीं समझ पाते; जहाँ बुद्धि से कार्य-कारण समझ में नहीं आता, वहाँ वे प्रकृति या स्वभाव का आश्रय लेकर छुट्टी पा जाते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त से सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है।

संक्षेप में पुनर्जन्म की व्याख्या यह है। शरीर के विनाश के साथ उसमें धारित आत्मा का विनाश नहीं होता। एक शरीर से निकल कर वह दूसरे शरीर में धारित होती है। एक शरीर में रहते हुए वह निर्लिप्त रहती है। शरीर-नाश के बाद वह उस जीवन के अर्जित कर्मों को लेकर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। उन कर्मों को ही संस्कार कहते हैं। यह क्रिया वैसी ही है, जैसे वायु का एक कुंज की गन्ध लेकर दूसरे कुंज या स्थान में जाना।

इस रहस्य को समझने के लिये मनुष्य के जन्म-मरण पर ध्यान दीजिए। पुरुष के मस्तिष्क-संस्थान (Nervous-system) की उत्तेजना से कामोत्तेजना होती है, कामाग्नि प्रदीप्त होती है। कामाग्नि से प्रेरित प्राण-वायु के वेग से शरीर का तेज शुक्राणु-रूप में उग्र एवं गतिमान् होकर स्त्री-रज से संयुक्त होता है। उस प्राण-वायु में, जिसकी प्रेरणा या प्रचोदना से शरीर का तेज गमन करता है, बाहर से जीवात्मा धारित होकर शुक्र के साथ

जाती है। वह उसी प्रकार धारित होती है, जैसे वायु में गन्ध। इस प्रकार रज-वीर्य के साथ आत्मा के संयोग से नए शरीर की नींव पड़ती है।

शिशु की आत्मा उसके पिता की आत्मा नहीं होती, इसके कई प्रमाण हैं। यदि एक ही आत्मा होती, तो दोनों के आचार-विचार, रूप-रंग में भी समानता होती। पर ऐसा नहीं होता। एक ही माता-पिता के दो पुत्र भिन्न-भिन्न स्वभाव के होते हैं—कोई बुद्धिमान् एवं आनन्द प्रिय स्वभाव का होता है, कोई घोघाबसन्त या मूर्खराज। बहुतों में ऐसी रुचियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनका लेशमात्र भी उनके पूर्वजों में नहीं होता। कोई जन्म से ही साहित्य की रुचि लेकर आता है और कोई प्रपंच-रचना की। इन सब से पिता की आत्मा से सन्तान की आत्मा की भिन्नता प्रकट होती है और यह भी पता चलता है कि प्रत्येक आत्मा अपने साथ भिन्न भिन्न जन्मगत संस्कार लेकर आती है। तभी तो लोगों मे रुचि-विभिन्नता और बुद्धि विभिन्नता होती है। इसके अनेक प्रमाण हैं कि बहुत-सी सन्तानें कुछ वयस्क होने पर अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त बता देती हैं और खोज से उनकी बताई बाते सत्य निकलती हैं। अतः यही मानना पड़ता है कि पुत्र की आत्मा एक सर्वथा स्वतन्त्र आत्मा होती है, उधार ली हुई नहीं।

हाँ, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि आत्मा अपने पूर्व-जीवन के सस्कार ही नहीं, बल्कि माता-पिता के संस्कार भी लेकर नवजीवन मे पदार्पण करती है। पिता के प्राण-मार्ग से जाने के कारण वह उसके वातावरण से अवश्य ही प्रभावित होती होगी। इसके अतिरिक्त शुक्राणु भी कुलज-प्रवृत्ति-वाहक होते हैं, जिनका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। माता के गर्भ में

शरीर के नौ महीने के निवास के कारण आत्मा मुख्यतः माता के संस्कारों-विचारों से प्रभावित होती है। उन संस्कारों का प्रभाव इतना रहता है कि पुत्र के कष्ट से माता-पिता को स्वाभाविक कष्ट होता है। वह कष्ट शरीर-द्वारा नहीं, आत्मा द्वारा अनुभूत होता है। एक के शारीरिक कष्ट से दूसरे को शारीरिक कष्ट नहीं होता। इस आत्मीयता को देखकर ही 'आत्मा वै जायते पुत्रः' कहा जाता है। यह आत्मीयता संस्कारों के कारण या आत्मा के समान धर्मी होने के कारण ही नहीं उत्पन्न होती। आत्मा जिस शरीर में जाती है, उसकी प्रकृति के अनुसार आचरण करने को बाध्य होती है। शरीर की प्रकृति माता-पिता-द्वारा ही प्राप्त होती है। शरीर की बनावट पर उनके अंगों का प्रभाव पड़ता है। सुश्रुत के मत से शरीर के स्थिर तत्व अर्थात् केश, अश्रु, रोम, अस्थि, नख, दाँत, शिर, धमनी, स्नायु तथा रेत पितृज होते हैं और मृदु तत्व अर्थात् मांस, रक्त, मेद, मज्जा, हृदय, नाभि, यकृत, प्लीहा तथा आन्त्र मातृज होते हैं। (पुष्टि, बल, वर्ण, स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य को उन्होने रजजन्य और इन्द्रिय, ज्ञान, विज्ञान, आयुर्मान, सुख, दुःख को आत्मज माना है।) इस बनावट का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है और मुख्यतः रक्त का प्रबल आकर्षण होता है। रजवीर्य के रक्तसार से ही शरीर बनता है; अतएव समान गुणधारी रक्त में स्वाभाविक एकता होती है। अनेक परम्परागत बीमारियाँ रक्त-सम्बन्ध की सत्यता को प्रमाणित करती हैं। आत्मा पर रक्त-सम्बन्ध की दृढ़ता का प्रभाव प्रायः अन्य जन्मो में भी दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि कुछ लोग किसी के प्रति स्वाभाविक प्रीति रखते है—'प्रीति पुरातन लखै न कोई।'—तुलसी।

आत्मा पर जीवन-गत संस्कारों का प्रभाव कैसे पड़ता है? इसका उत्तर यह है। किसी विचार या कर्म का लक्षण हमारे

अंगों पर तत्काल प्रकट होता है। दैनिक चरित्र का वैसा ही प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। सद्गुणों-दुर्गुणों का प्रभाव जैसे शरीर पर पड़ता है, वैसे ही आत्मा पर भी। जिस प्रकार आज के कर्मों का परिणाम कल या दस साल बाद मिलता है, अथवा युवावस्था की भूलों का फल वृद्धावस्था में भोगना पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा के साथ लगे हुए गुणो या कर्मों का परिणाम एक जीवन में या उसके बाद भोगना पड़ता है। यह गुण-परम्परा शरीर-नाश के बाद भी चलती रहती है। पूर्व जन्म या इसी जन्म का सुकृतफल हमें जब आगे प्राप्त होता है, तो हम उसी को पुण्य या भाग्य का उदय कहते है। बुद्धिमान् व्यक्ति उन गुणों का आभास पाकर उनको और विकसित करता है। पूर्वगत या इसी जीवन के विकार आत्मा की आग को धूमाच्छादित रखते हैं। तब आत्मा का प्रकाश नहीं फैलता और वे विकार समय पाकर फोड़े की तरह फूट निकलते हैं। उसी अवस्था को हम पाप या दुर्भाग्य कहते हैं। मूर्ख व्यक्ति उसी धुएँ में साँस लेता रहता है। चतुर व्यक्ति उन कुसंस्कारों को पहचान कर, उनसे आत्मा को मुक्त करता है और तप, संयम से शुद्धात्मा बन जाता है। आकस्मिक घटनाओं और पाप-पुण्य का बहुत कुछ भेद आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धान्तों से खुल जाता है। और यह भी पता चल जाता है कि बहुत से लोग स्वभाव से ही क्यों प्रतिभाशाली, विलक्षण, भाग्यवान् या सरल लगते है और दूसरे लोग क्यों मन्द, चिड़चिड़े या चोर होते हैं। यह संस्कारों का प्रभाव है। जिस प्रकार कुञ्ज की वायु पुष्पो का सौरभ लुटाती हुई आती है और श्मशान की वायु शव-गन्ध, वैसे ही आत्मा पूर्व जीवन के गुणों का विस्तार करती आती है। संस्कारो का प्रभाव न होता, तो सब बालक एक-से बुद्धिमान् होते। एक ही गुरु पचास शिष्यों को पढ़ाता है परन्तु सब का विकास एक-सा

नहीं होता क्योंकि संस्कारों का प्रभाव अलग-अलग होता है।

संस्कारों का यह परिचय हमने इस प्रयोजन से दिया है कि पाठक यह जान जाएँ कि भाग्य-दुर्भाग्य कोई दैवी घटना नहीं है। संस्कार आत्मा के स्थायी गुण नहीं हैं, वे बदले जा सकते हैं, या प्रबल हों तो और प्रबल बनाये जा सकते है। आत्मा को आप पारे की तरह एक वस्तु मान लीजिये। पारा भी निर्लिप्त रहता है, परन्तु उसके साथ अनेक दोप लगे रहते हैं। योग्य वैद्य उस पारद को संस्कारित, संशोधित करके शुद्ध एवं कल्याणकारी बना लेता है। योग्य व्यक्ति भी ठीक उसी तरह आत्मा को शुद्ध करके उसको उपयोगी बना सकता है और इच्छानुसार उससे लाभ ले सकता है।

आत्मा शरीर में रहकर स्वयं इन्द्रिय-संचालन नहीं करती।

आत्मा का धर्म

उसकी बहुसंख्यक वृत्तियाँ मूर्छितावस्था में रहती हैं। बुद्धि द्वारा वे जगती हैं। जब बुद्धि आत्मा से संयुक्त होती है, तभी उसको आत्मा की स्फूर्ति या प्रेरणा मिलती है। घोर विपत्ति में या साधना से जब आत्मा उद्दीप्त होती है, तो वह अपने महातत्त्व से अतिरिक्त शक्ति लेकर अधिक सबल हो जाती है। वह सहानुभूति के लिये अपने सजातीय तत्त्व की ओर सहज रीति से दौड़ती है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि पुत्रोत्पत्ति के समय जब स्त्री को असह्य वेदना होती है, और बुद्धि तथा मन व्याकुल हो जाते हैं, तो स्त्री की आत्मा माँ, बाप या राम को पुकारती है। वह प्राणपति या प्राणाचार्य (वैद्य) को संकट-निवारण के लिये नहीं भजती। तप और कष्ट में इसीलिये शुद्ध आत्मा की पुकार सुनाई पड़ती है।

आत्मा का दूसरा मुख्य धर्म यह है कि वह प्राणिवर्ग में बन्धुत्व-भावना, सत्य-अहिंसा की भावना जगाती है। वही

प्रेरित करती है कि सब एक ही वृक्ष के फल हैं। एकात्मता वही जगाती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना वही पैदा करती है। इस मर्म को समझकर लोग पराये को भी अपना बना लेते हैं, हिंसक पशुओं तक को वश में कर लेते हैं। जो इस मर्म को नहीं पहचानते, वे मिथ्या व्यवहार और क्रूरता से अपने कुटुम्बियों तक को पराया बना लेते हैं।

आचरण-शुद्धता से आत्मा पुष्ट होती है

आत्मा की तीसरी विशेषता यह है कि वह ब्रह्मचर्य, शारीरिक शुद्धता, सद्विचार से निश्चय ही अधिक कान्तिमयी होती है। बच्चों मे जो स्वाभाविक सरलता, शुद्धता, निष्कपटता मिलती है, उसका रहस्य यह है कि उस अवस्था तक उनका आचरण शुद्ध रहता है, आत्मा जगमगाती है और मन-बुद्धि इतने बलवान् नहीं रहते कि वे उसकी स्वाभाविक आभा को रोक कर खड़े हो सकें। बालकों के भोलेपन में उनकी शुद्ध आत्मा प्रतिबिम्बित होती है।

आत्मा के सम्बन्ध में यही कुछ मुख्य बातें हैं। उसमें महाशक्ति है, इसमें सन्देह नहीं परन्तु वह लारी की तरह वरदानों की धूलि उड़ाती हुई नहीं चलती। वह माँगने से ही वरदान देती है और माँगने वाली भी जब उसकी आत्मजा (कन्या) बुद्धि हो। रत्न जिस प्रकार पहाड़ों पर नहीं, बल्कि समुद्र के अन्तराल में मिलता है, उसी प्रकार जीवन का रत्न अन्तस्तल में मिलता है।

सारांश

१—मनुष्य भ्रमवश अपने को जितना साधारण समझता है, वह उतना साधारण नहीं होता। असंख्य अलौकिक शक्तियाँ

उसको प्रत्येक क्षण घेरे रहती हैं। उन शक्तियों को संयोजित करके मनुष्य महाशक्तिशाली बन सकता है, यह अनेक महापुरुषों के अलौकिक चरित्रों से प्रमाणित होता है। अंग्रेजी मे एक बहुप्रसिद्ध लोकोक्ति है, जिसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपने अनुमान से अधिक शक्ति-सम्पन्न होता है—"Man is stronger than he knows." मानस-बल की असीमता इसकी सत्यता को सार्थक करती है।

२—जहाँ इतनी शक्तियों का मेला लगा होता है, वहाँ यदि ठीक शासन-व्यवस्था न हो, एकता और क्रमबद्धता न हो, तो 'हिन्दू-मुसलमान दंगा' हो ही सकता है। उसी के लिये आत्म-संयम की आवश्यकता होती है। यह तभी संभव है जब बुद्धि आत्मा के प्रकाश में विवेक करे, उपाय या चतुराई से कार्य संचालन करे। आत्मायुक्त बुद्धि-बल को दैव-बल कहते हैं और सफलता तभी मिलती है जब कि दैव-बल और पुरुषकार (पुरुषार्थ) साथ-साथ रहते हैं। पुरुषार्थ के न होने से दैव-बल व्यर्थ जाता है और बेकारी से मन भयाक्रान्त हो जाता है। उसी तरह दैव-बल के बिना पुरुषार्थ निष्फल होता है।

३—बुद्धिप्रधान प्राणी होने के कारण मस्तिष्क का विकास करना मनुष्य का पहला कर्त्तव्य है। वह विकास ज्ञानोपार्जन से होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि ज्ञान की कोई सीमा और आयु नहीं होती। किसी की आयु से उसकी मानसिक वृद्धता की नाप नहीं होती। कभी-कभी शरीर से मनुष्य तीस-चालीस वर्ष का हो जाता है; किन्तु उसका मस्तिष्क उसी अवस्था में रहता है, जैसा वह १०-१२ वर्ष की आयु में रहा होगा। उसको अपरिपक्व मस्तिष्क कहते हैं—'Undeveloped mind'-प्रायः थोड़ी आयु में ही कुछ लोगों का मस्तिष्क

शरीर की आयु के अनुपात से अधिक बढ़ जाता है। मस्तिष्क के घटने-बढ़ने से लोग वैसा ही आचरण करते हैं। खैर, ये तो प्राकृतिक विषमताएँ हैं। यहाँ हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि अल्प आयु में भी मनुष्य ज्ञानी हो सकता है, जैसा कि राम के अनुसार भरत थे—'ज्ञान वृद्ध वयो बालो।' कालिदास ने भी लिखा है कि तेजस्वियों की आयु नहीं देखी जाती—'तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते'—रघुवंश।

बौद्ध ग्रंथों में इस सम्बन्ध में एक छोटी-सी कथा है—जीवक नाम का एक दरिद्र बालक था, जिसको धनाभाव के कारण बचपन में बड़े कष्ट भोगने पड़े थे। एक बार बीमार पड़ने पर वह पैसे की कमी से अपनी चिकित्सा भी न करा सका। उसने सोचा, ऐसे ही निर्धन कष्ट-भोगी लाखों होंगे। अतएव लोगों को मुक्त करने का संकल्प करके उसने तक्षशिला में जाकर चार वर्ष तक चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया और वहाँ से उत्तीर्ण होकर वह लोक-यात्रा को चला। अयोध्या में उसको एक विधवा मिली, जिसको वर्षों से भयंकर शिरोरोग था। जीवक जब उसकी चिकित्सा करने चला, तो बुढ़िया ने कहा कि तुम अभी बालक हो, क्या करोगे; बड़े-बड़े वृद्ध और अनुभवी वैद्य भी मेरे रोग का इलाज नहीं कर सके हैं। इस पर युवक ने उत्तर दिया कि 'विज्ञान बालक भी नहीं और न वृद्ध ही है।' उसने उसके रोग पर विजय प्राप्त की। एक बार जब बुद्ध बीमार पड़े और अन्य चिकित्सक कोई उपचार न कर सके, तो उनके सर्वप्रिय शिष्य आनन्द ने इस नवयुवक की प्रसिद्धि सुनकर इसको बुलाया। निर्धनपुत्र जीवक ने भव-व्याधि-हर्त्ता के व्याधि-हर्त्ता होने का गौरव प्राप्त किया! इस कथा से और अपने ही समय के सैकड़ों उदाहरणों से जाना जा सकता है कि

ज्ञान की कोई आयु नहीं है। संकल्प के साथ अभ्यास करने से थोड़े समय में भी मस्तिष्क को प्रखर एवं ज्ञान-वृद्ध बनाया जा सकता है—

"करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।"

सबका सार यह है:—गागर में सागर की तरह मस्तिष्क एक छोटी-सी खोपड़ी में भरा हुआ ब्रह्माण्ड है। एक प्रकार से हमारे शरीर-शैल पर महा-वरदानी शिव का मन्दिर जन्म से ही बना रहता है। वरदान के लिये केवल साधना की आवश्यकता होती है।

स्वास्थ्य

अन्न ही प्रजापति है

शास्त्रों ने अन्न अर्थात् आहार को ही विधाता कहा है— "अन्नं वै प्रजापतिः"—प्रश्नोपनिषद् । अन्न से ही रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से वीर्य और वीर्य से जीवन । इस प्रकार आहार से ही शरीर का धारण, पोषण और नव-निर्माण होता है । चरक ने भी लिखा है कि देह अन्न से ही बनती है—'देहोह्याहार सभवः ।' यह तो एक साधारण समझ की बात है कि शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि मनुष्य के भोजन पर अवलम्बित रहती है । शरीर के जीवन और स्वास्थ्य का सर्वप्रमुख साधन आहार ही होता है । स्थूल शरीर को दार्शनिक भाषा में अन्नमय-कोष कहते ही हैं । कोई इस तथ्य को अस्वीकार न करेगा कि शरीर में जो बल, तेज और वर्ण का विकास होता है, उसका उत्पादक आहार ही होता है ।' आहार ही आरोग्य और आयुर्बल देता है, जिसको स्वास्थ्य कहते हैं । वैद्यक के मत से अन्न तत्काल चैतन्यता देने वाला, इन्द्रियों का पोषक, बुद्धि, स्मृति एवं ओज-तेज वर्द्धक होता है ।

आहार के महत्त्व को मानकर हमें संक्षेप में इस बात पर विचार करना चाहिये कि किस प्रकार के आहार से शारीरिक स्वास्थ्य का विकास होता है । यह सर्वज्ञात है कि भोजन का उद्देश्य पेट भरना ही नहीं, मुख्यतः शरीर का पोषण करना

है। पेट भरने से ही आहार का प्रयोजन नहीं सफल होता है। वही भोजन स्वास्थ्य-वर्द्धक होता है, जो शरीर के अनुकूल होता है। प्रतिकूल होने पर वह प्रजापति नहीं बल्कि शरीर के लिये प्राणपति (यमराज) अर्थात् भारस्वरूप एवं नाशक होता है। कौन-सा आहार शरीर के अनुकूल पड़ता है, इसको समझने के लिये हमें सर्वप्रथम शरीर की रचना सम्बन्धी निम्नलिखित बातों को ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिये।

१—एक-एक ईंट से बने हुए मकान की तरह शरीर असंख्य सूक्ष्म परमाणुओं (Cells) से निर्मित होता है। ये भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के होते हैं और भिन्न-भिन्न समूहों में संगठित होकर धातु (Tissues) के नाम से पुकारे जाते है। भिन्न-भिन्न जाति की इन्हीं धातुओं से मॉस, रक्त, अस्थि और नाड़ियों आदि का निर्माण और संचालन होता है।

२—धातुओं सहित सम्पूर्ण शरीर का संगठन पाँच मूल तत्वों से होता है अर्थात् पाँच मुख्य तत्व है, जिनके आधार पर शरीर की रचना होती है। वही परमाणुओं या धातुओं अथवा उनके द्वारा संयोजित शरीर के मूलाधार माने जाते हैं। आयुर्वेद के मत से वे पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु हैं। आधुनिक रसायनशास्त्रियों की वैज्ञानिक भाषा में वे पाँच मूल पदार्थ ये हैं-(क) प्रोटीन अर्थात् मांस जातीय (पौष्टिक) पदार्थ, (ख) चर्बी, (ग) खनिज या पार्थिव पदार्थ, (घ) कार्बोहाइड्रेट अर्थात् शर्करा जातीय पदार्थ, (ङ) जल। इन्हीं के अन्तर्गत सम्पूर्ण शरीर में कुल केवल २३ तत्व मिलते हैं, जिनमें से ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन, फासफोरस, चूना, गंधक, क्लोरीन, सोडियम, लोहा और पोटैशियम मुख्य है। ऑक्सीजन के अतिरिक्त अन्य सभी यौगिक (Compounds) रूप में मिलते

हैं और सबको उक्त पाँच श्रेणियो में विभाजित किया जाता है। वैज्ञानिक परीक्षा से ज्ञात होता है कि शरीर में जल का अंश ५७%, खनिज पदार्थो का अंश २०%, चरबी, प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट का अंश २३% रहता है। इसका अर्थ यह है कि जब ये मूल तत्त्व इन्हीं परिमाणो मे शरीर में रहते है तभी धातुएँ सक्रिय होती हैं और शरीर अपनी प्राकृतिक अवस्था में अर्थात् स्वस्थ रहता है। आयुर्वेदोक्त पंच महातत्त्वो का सम्मिश्रण भी जब उनकी उचित मात्रा में रहता है, तभी शारीरिक क्रियाएँ ठीक चलती है। दोनो मे से जिस मत को भी मानिये, इतना निश्चित है कि शरीर पंचतत्त्वात्मक है। इस विषय को सामयिक दृष्टि से समझने के लिये हम इस स्थान पर आधुनिक मत के अनुसार विचार करेगे।

३—ये रासायनिक द्रव्य सदैव उपर्युक्त परिमाणों मे नहीं रहते क्योंकि शारीरिक क्रियाओं से प्रत्येक क्षण लाखो परमाणु नष्ट होते रहते है। रक्त ही के स्वास्थ्य-धारक लाल परमाणु प्रतिदिन १०,००,००,००,००,०००, की सख्या मे नष्ट होते हैं। शरीर स्वतः इस क्षति की पूर्ति नहीं कर सकता और जब नहीं कर सकता तो धातुओं का स्वयं सम-परिमाण में रहना संभव नहीं है। इसके लिये यह आवश्यक है कि बाहर से कुछ ऐसे पदार्थ लिये जाएँ, जो नष्ट हुए परमाणुओ के स्थान में नये परमाणुओं का उत्पादन कर सके और इस प्रकार धातुओं को संतुलित रखकर शारीरिक क्रिया को स्थिर एवं संचालित रखे। ये पदार्थ आहार के रूप में ही लिये जा सकते है।

ऊपर के विवरण से एक बात स्पष्ट होती है; वह यह कि आहार का संगठन वैसा ही होना चाहिये जैसा कि स्वयं शरीर का संगठन है। दूसरे शब्दों मे—भक्ष्य पदार्थों के चुनाव में इस

बात का ध्यान रखना चाहिये कि उनसे शरीर के मूल तत्त्वों के लिये उचित मात्रा में आवश्यक सार-सामग्री मिलती रहे। पंच-तत्त्वात्मक शरीर के लिये पचतत्त्वात्मक आहार ही उपयुक्त हो सकता है। उनकी प्रचुरता अथवा न्यूनता से धातुओं का संगठन नष्ट हो जाता है। शरीर में वे क्या कार्य करते हैं और किन पदार्थों से उपलब्ध होते है, इन पर भी हम संक्षेप में विचार करेंगे।

प्रोटीन

प्रोटीन शरीर के परमाणुओं के जीवन का मुख्य तत्त्व होता है। धातु वृद्धि और धातु की स्वाभाविक क्षति की पूर्ति इसी से होती है। प्रोटीन के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ से धातु-तन्तुओं का उत्पादन नहीं हो सकता। यह नाइट्रोजन-प्रधान द्रव्य—मांस, दाल, अंडा और फल तथा वनस्पितियों के यौगिक पदार्थों से पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। यदि ये पदार्थ आवश्यता से अधिक मात्रा मे लिये जाते हैं, तो सार-रूप में जो अधिक प्रोटीन निकलता है, वह चरबी के रूप मे शरीर में संचित हो जाता है।

चरबी

चरबी के रूप मे शरीर के लिये स्थायी शक्ति अधिक मात्रा में संचित होती है। उससे उष्णता और शक्ति उत्पन्न होती है। जीवों की चरबी, वनस्पतियों के तैल, मक्खन, घी और पिस्ता, बादाम आदि मेवों की गिरी से यह प्रचुर मात्रा में मिलती है। चरबी की शक्ति कार्बोहाइड्रेट की शक्ति से १॥ गुना अधिक होती है।

खनिज द्रव्य

खनिज द्रव्यों से धातु-निर्माण में सहायता मिलती है। हड्डियाँ इन्हीं से बनती है। इनका प्रभाव शारीरिक शक्ति पर कम या बिल्कुल नहीं पड़ता किन्तु शरीर के पोषण, पाचन-क्रिया और धारक धातुओं पर

इनका विशेष प्रभाव रहता है। हड्डी में १/२ भाग खनिज द्रव्यों का ही रहता है। रक्त के लाल कणों में, दाँत, केश, पाचन-रस और मस्तिष्क में खनिज द्रव्य प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं और उक्त अंगो का पोषण इन से विशेष रूप से होता है। दूध, अंडा, हरे साग और अनाज आदि द्वारा ये पर्याप्त मात्रा मे सुलभ होते हैं।

कार्बोहाइड्रेट

शारीरिक शक्ति, स्फूर्ति और उष्णता का उत्पादक और सामर्थ्य-दाता द्रव्य कार्बोहाइड्रेट ही होता है। शारीरिक परिश्रम की क्षमता इसी से प्राप्त होती है। उचित मात्रा मे रहने पर यह शरीर की क्रियात्मक शक्ति को चैतन्य रखता है; आवश्यकता से अधिक होने पर चरबी के रूप में संचित हो जाता है। चावल मे कार्बोहाइड्रेट प्रचुर मात्रा में होता है। फल, शहद, गुड़, शक्कर, गेहूँ, आलू आदि का मुख्य पोषक पदार्थ कार्बोहाइड्रेट ही है। यह स्मरण रखना चाहिये कि वनस्पतियों द्वारा ही इस महातत्त्व की प्राप्ति होती है। मांस-आहार से प्रोटीन और चरबी के तत्त्व अवश्य अधिक मिलते है, परन्तु कार्बोहाइड्रेट अन्नाहार और फलाहार से ही मिलता है।

जल

जल शरीर का एक मुख्य तत्त्व है। सारे तत्त्व उसी की सहायता से शरीर मे प्रवाहित होते है और उनका साम्यीकरण भी उसी के आधार पर होता है। आहार को शरीर मे ग्रहण करने और निस्सार पदार्थों को शरीर से बाहर निकालने में वही सहायक होता है। उससे शरीर मे कोई शक्ति नही उत्पन्न होती, परन्तु उसके बिना परमाणु न तो जी सकते हैं और न शरीर में फैल-कर अपना कार्य ही कर सकते है।

भोजन के रूप में जो पदार्थ पेट में जाते हैं, वे पाचन रस के संयोग से पाक-स्थान में पचते हैं। पाचन-यन्त्र स्वाभाविक रीति से आहार-परिवर्त्तन करते हैं। वे भक्षित पदार्थों में से उनके प्रोटीन, मेद, खनिज, जल और पिष्टमय (कार्बोहाइड्रेट) अंशों को सार-रूप में ग्रहण करके रस-रक्तादि धातुओं में परिवर्तित करते हैं। उनके द्वारा नष्ट हुई धातुएँ पुनः शरीर को प्राप्त होती हैं और शरीर की स्थायी शक्ति में क्षति नहीं होने पाती। आहार-परिवर्तन से ही शरीर की स्वाभाविक उष्णता उत्पन्न होती है। भोजन के आवश्यक तत्त्वों को अर्थात् आहार-सार को ग्रहण करने के अतिरिक्त भीतरी यंत्र एक दूसरा कार्य भी करते हैं। वे आहार-मल को अलग करते है। शरीर के अनुपयुक्त पदार्थों के जो अनावश्यक अंश होते हैं और जो आहार-परिवर्तन की प्रक्रिया मे भीतर-ही-भीतर उत्पन्न होते हैं, उनको वे मल, मूत्र और प्रश्वास से बाहर निकालते हैं। आहार-परिवर्तन के समय आहार के रचनात्मक और विनाशात्मक कार्य साथ-साथ ही होते हैं। इसको जान लेना इसलिए आवश्यक है कि जब शरीर-यन्त्रों को सारयुक्त पदार्थ पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, तो उनकी शक्ति का अपव्यय नहीं होता। वे अधिक-से-अधिक आवश्यक तत्व उनमें से निकाल लेते हैं। जब निस्सार पदार्थ मिलते है तो उनका परिश्रम त्याज्य पदार्थों को अलग करने में ही व्यय होता है।

सामने के पृष्ठ पर एक तालिका दी है, जिससे कुछ आवश्यक खाद्य पदार्थों के आवश्यक अनावश्यक अंशों की साधारण जानकारी प्राप्त होगी—

इस प्रसंग में अन्य जाति के पदार्थों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। आधुनिक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध किया है कि यद्यपि ये पाँचों तत्त्व शरीर के लिये परमावश्यक हैं, फिर भी इनके द्वारा सम्पूर्ण स्वास्थ्य की रक्षा और वृद्धि नहीं होती। ये

पदार्थ	निस्सार अंश %	जल अंश %	प्रोटीन %	चरबी %	शर्करा अंश %	खनिज अंश %
अण्डा	११.२	६५.५	१३.१	९.३	—	०.९
मक्खन	—	११	१	८५	—	३
चावल	—	१२.३	८	०.३	७९	०.४
शक्कर	—	—	—	—	१००	—
टोमैटो	—	९४.३	०.९	०.४	३.९	०.५
सेब	२५	६३.३	०.३	०.३	१०.८	०.३
केला	३५	४८.९	०.८	०.४	१४.३	०.६
अंगूर	२५	५८	१	१.२	१४.४	०.४
नारंगी	२७.०	६३.४	०.६	०.१	८.५	०.४
बादाम	४५.०	२.७	११.५	३०.२	९.५	१.१
अखरोट	५८.१	१	६.९	२६.६	६.८	०.६
दूध	—	८७	३.३	४	५	०.७
गोभी	१५	७७.७	१.४	०.२	४.८	०.९

पंच तत्त्व शरीर को भले ही स्थिर रख लें किन्तु वे रोग के आक्रमण से उसको नहीं बचा सकते। शारीरिक विकास और स्वास्थ्य-रक्षा के लिये एक अन्य द्रव्य की आवश्यकता भी होती है जिसको विलायती वैज्ञानिक भाषा में 'विटैमिन' और अनुवादित भाषा में जीव-द्रव्य कहते हैं।

विटैमिन

जीव-द्रव्य के सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि वे भोजन के सजीव अंश होते है और पंचतत्त्वों को अधिक क्रियात्मक बनाते हैं। वे मुख्यतः वनस्पतियों से उपलब्ध होते हैं। विटैमिनों की पाँच मुख्य जातियाँ अभी तक निर्धारित हो पाई हैं। वे शरीर की जीविनी-शक्ति के लिये नितान्त उपयोगी हैं, इसलिये संक्षेप में उनका परिचय दिया जाता है—

विटैमिन 'ए'

शारीरिक वृद्धि और संक्रामक रोगों से बचाव के लिये शरीर में इस जीव-द्रव्य का होना आवश्यक है। इसकी कमी से शरीर रोगाक्रान्त, दुर्बल एवं क्षीण होता है और फेफड़े, पाचन-यंत्र आदि निर्बल होते हैं। बच्चों की वृद्धि इसके अभाव में रुक जाती है। रात्रि-अंधता (रतौंधी) इसी की कमी से होती है। विटैमिन 'ए' हरे शाकों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। दूध, दही, मक्खन के अतिरिक्त अंडों, जानवरों के यकृत और मछली के तेल (Cod Liver Oil) में यह विशेष रूप से रहता है।

विटैमिन 'बी'

विटैमिन 'बी' के कई उपभेद हैं। सबकी उपयोगिता में अन्तर है। यह जीव-द्रव्य त्वचा और नाड़ी-संस्थान के पोषण के लिये आवश्यक होता है। इसकी प्राप्ति, उड़द, मटर, गेहूँ, चावल के भीतरी अंश, मूंगफली और अडे आदि से होती है। गेहूँ, जौ के चोकर

और अनाजों के ऊपरी पर्त मे यह अधिक मिलता है।

विटैमिन 'सी'

शरीर की जीवन-शक्ति बढ़ाने के लिये, दाँतों के पोषण और रक्षण तथा शरीर की वर्ण-वृद्धि के लिये विटैमिन 'सी' आवश्यक होता है। दूध, आम, नींबू, सतरा, हरे शाक, गोभी, आलू, गाजर, प्याज, टोमैटो, शलगम और अकुरित अनाज इसके उत्पादक होते है।

विटैमिन 'डी'

विटैमिन 'डी' से अस्थियों का पोषण होता है और रक्त मे गाढ़ापन आता है। दाँतों में इसके कारण शक्ति आती है। इसके अभाव में बच्चों को सूखा रोग होता है, क्योंकि उनकी हड्डियाँ दृढ़ नहीं होतीं। यह द्रव्य मुख्यत सूर्य की किरणों से मिलता है। गाय की अपेक्षा भैस के दूध मे इस जीव-द्रव्य की मात्रा अधिक रहती है। मक्खन, अंडा और मछली के तेल-द्वारा भी यह प्राप्त होता है।

विटैमिन 'ई'

यह द्रव्य पुरुषार्थ-शक्ति का धारक माना जाता है। इसके सेवन से जन-शक्ति प्रबल होती है। जिन माता-पिताओं के शरीर मे यह जीव-द्रव्य नहीं होता, उनकी सन्तानोत्पादन-शक्ति क्षीण होती है और उनके बच्चे या तो होते नहीं या बहुत दुर्बल होते है। यह द्रव्य दूध, मक्खन, बीजो या उनके तेल, गेहूँ तथा हरे शाकों मे पाया जाता है।

जीवनीय द्रव्यों के सम्बन्ध मे जो सबसे आवश्यक बात ध्यान मे रखनी चाहिये, वह यह है कि वे प्रायः कच्चे पदार्थों मे और ताज़े फलों और हरी तरकारियों ही मे सुरक्षित रहते है। उबालने से अथवा बासी हो जाने से उनकी शक्ति कम हो जाती है या बिल्कुल नष्ट हो जाती है। फलों और शाकों से जो स्वास्थ्य-सुधार होता है, उसका यही रहस्य है। फल, अनाज और

शाक आदि अपनी जीवनीय शक्ति सूर्य-प्रकाश से पाते हैं। इसलिये ऐसे पदार्थों में, जो सूर्य किरणों के सम्पर्क में रहते हैं, कन्दों की अपेक्षा, अधिक विटैमिन होते हैं। ये तत्त्व अनाजों के ऊपरी पत्तों में विशेष रूप से मिलते हैं। इसलिए पॉलिश किये हुए चावल निस्सार होते हैं। अनाजों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि उनके अंकुरित होने पर उनके पौष्टिक तत्त्वों के अतिरिक्त उनमें विटैमिन बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं।

विटैमिनों के आविष्कार के बाद से शरीर-शास्त्र और कम-से-कम रोग-विज्ञान के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण ही बदल गया है। अभी तक लोग एक-एक पदार्थ को कीटाणुओं से मुक्त करने के लिये उन्हें नाना प्रकार के साधनों से उबालकर, रासायनिक द्रव्यों से धोकर—स्वच्छ बनाकर, खाने के पक्षपाती थे। वे समझते थे कि शरीर को रोग से बचाने का यही उपाय है। परन्तु अब वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि इन अप्राकृतिक उपायों से पदार्थों के प्राकृतिक सत्त्व ही नष्ट हो जाते हैं। और यही कारण है कि जो बच्चे ग़रीबी के कारण प्राकृतिक आहार लेते हैं, वे उन बच्चों से अधिक स्वस्थ एवं दीर्घजीवी होते हैं जो बड़े यत्न से शोधित आहार पर पाले जाते हैं। पहले की अपेक्षा अब लोगों को पाचन-विकार अधिक होते हैं, दाँतों की शिकायत अधिक होती है और गठिया आदि रोग भी बहुत होते है यद्यपि अब खान-पान मे पहले की अपेक्षा लोग अपने को अधिक सभ्य मानते हैं। इसका कारण यह है कि अब प्राकृतिक आहार को प्राकृतिक ढंग से नहीं लिया जाता। और हम यह भी देखते हैं कि पुरानी कोष्ठबद्धता में, जब हरे शाक और फल आदि प्राकृतिक ढंग से लिये जाते हैं, तो वे रोग निर्मूल भी हो

जाते हैं क्योंकि तब विटैमिन जीवित रूप में शरीर में पहुँचते है। इन बातों पर विचार करके हम एक निर्णय पर पहुँचते है, वह यह है कि दुनिया कम-से-कम आहार के विषय में घूम-फिरकर फिर वहीं पहुँच रही है, जहाँ प्राचीन आयुर्वेदज्ञ लोग पहुँच चुके है। प्राचीन शास्त्रज्ञों ने धारोष्ण दूध पीने का जो विधान बताया था उसको अब तक लोग अस्वास्थ्यकर मानते थे और तीन बार उसको उबालने का विधान बताते थे, जिससे कि उसके जन्तु मर जाएँ। अब विटैमिन शास्त्री लोग प्रमाणित करते है कि दूध को उबालने से उसका जीवन-तत्त्व ही नष्ट हो जाता है।

सारांश यह है कि कल्पित जन्तुओं के भय से लोग खाद्य-वस्तुओ के उस सार-अंश को नष्ट कर देते हैं, जो शरीर में रहने पर उनसे भी प्रबल जन्तुओं के आक्रमण से शरीर को बचा सकते हैं। एक प्रकार से वे उस बन्दर के जैसा आचरण करते है, जिसने अपने मालिक की नाक पर बैठी हुई मक्खी को उड़ाने के लिये उस पर पत्थर पटक दिया था।

कैसा आहार लेना चाहिये

आहार के पौष्टिक तत्त्वों और जीवनीय द्रव्यों की उपयोगिता को ध्यान में रखकर यह कहना ही उचित होगा कि हमें ऐसे पदार्थों का सेवन करना चाहिये, जो पौष्टिक एवं सात्त्विक हों। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये।

१—प्रकृति ने सब जीवों के लिये प्राकृतिक आहार बनाये है। अपने स्वभाव के अनुकूल आहार लेने से उस जीव के स्वाभाविक स्वास्थ्य का विकास होता है। मांसाहारी लोग जो भी कहें किन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि कम-से-कम इस देश के स्वाभाविक आहार अन्न, दूध, फल और शाक ही है। मांस मे

पौष्टिक अंश पर्याप्त मात्रा में होते है और उनसे पुष्टि के साथ उत्तेजना भी मिलती है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु उसमें जीवनी-शक्ति--आयुर्बल--बढ़ाने की क्षमता नहीं होती। मनुष्य ही नहीं, बल्कि निरामिष पशु-पक्षी भी मांसाहारी पशु-पक्षियों से अधिक दीर्घजीवी होते है। पशुओं में हाथी और पक्षियों मे तोते सर्वाधिक दीर्घजीवी पाये जाते है और दोनों ही मांसाहारी नहीं होते। अन्य जीवों की अपेक्षा दोनों बुद्धिमान भी अधिक होते है। मनुष्यों में भी अन्नजीवी व्यक्ति बुद्धि-सामर्थ्य और शरीर सम्बल में मांसाहारियों से किसी प्रकार निर्बल नहीं होते, जैसा कि गाँधीजी और बर्नार्डशॉ के जीवन से प्रकट होता है। स्वच्छता की दृष्टि से भी निरामिष भोजन अधिक हितकर होता है।

२--ऐसा आहार लेना चाहिये जिसमें पौष्टिक तत्त्वों का सार पर्याप्त मात्रा में हो और जिसको पाचन-यत्र सुगमता से ग्रहण कर सके। उदाहरण के लिये दूध को लीजिये। प्राचीन और आधुनिक दोनो मतो से दूध मनुष्य का सर्वोत्तम आहार माना जाता है। जीवनोपयोगी सभी पौष्टिक तत्त्व--प्रोटीन, चरबी, कार्बोहाइड्रेट (दुग्धशर्करा), जल, लोहा, गंधक, फास्फोरस, चूना, पोटैशियम आदि खनिज पदार्थ—तथा सभी आवश्यक विटैमिन इसमे मिल जाते हैं। इसलिये इसको पूर्णाहार माना जाता है। इन गुणो के अतिरिक्त दूध आसानी से पच जाता है। उसको पचाने में इन्द्रियो को शक्ति का अपव्यय नहीं करना पड़ता। इन सब गुणों के साथ ही दूध अँतड़ियों के विष और कीड़ों का प्रबल नाशक भी होता है। सब दृष्टियो से वह मनुष्य का स्वाभाविक आहार एवं जीवन-रक्षक होता है। पौष्टिक, जीवन-रक्षक और साथ ही सुपच होने के कारण वह अनुकूल पड़ता है। गत

वर्षों से सोयाबीन की बड़ी चर्चा थी और वैज्ञानिक परीक्षा से यह सिद्ध हुआ था कि उसमें दूध ही के समान गुण हैं परन्तु अब पता चला है कि उसमें सर्वगुणसम्पन्नता होते हुए भी पाचन-यंत्र उसके सार को ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह उसके स्वभाव के अनुकूल नहीं पड़ता। इसलिये सोयाबीन की महिमा अब घट गई है। वास्तव में इन्द्रियों की ग्राहिकाशक्ति के अनुसार ही पदार्थों के सार अंश उपलब्ध होते हैं। कैसा भी पौष्टिक आहार खाइये यदि वह भीतर की प्रकृति के अनुकूल न पड़ेगा, तो शरीर उसको स्वीकार न करेगा।

दूध के अतिरिक्त केले को लीजिये। विटैमिन 'बी' 'सी' के साथ-साथ इसमे चरबी, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, जल तथा लोहा, फासफोरस, चूना आदि खनिज पदार्थ मिलते है और वह जन्तु-नाशक भी होता है। इसको भी पूर्णाहार मानते है। आयुर्वेदाचार्य डॉक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर ने सुश्रुत-संहिता की टीका मे प्रसंगवश लिखा है कि 'तीन अच्छी तरह पके हुए केले और डेढ़-सेर दूध एक मनुष्य के लिये एक समय का उत्तम आहार होता है।' दूध के साथ केले के मिलने पर सभी विटैमिन उपलब्ध हो सकते हैं क्योकि केले में 'बी' और 'सी' विटैमिन तथा दूध में 'ए', 'डी' और 'ई' विशेष रूप से मिलते हैं।

३—पौष्टिक तत्त्वों और विटैमिनों के चक्कर में विशेष रूप से न पड़कर मोटे तौर पर यह मान लेना चाहिये कि जिस स्थान पर, जिस ऋतु में, जो स्वाभाविक खाद्य-पदार्थ उत्पन्न होता है, वही वहाँ का, उस समय का और वहाॅ के लोगों का सबसे अधिक पौष्टिक और जीवनीयद्रव्य-संयुक्त आहार होता है। यही प्रकृति की व्यवस्था है। उन आहारों को उचित मात्रा मे संगठित करके और स्वाभाविक रूप से लेना चाहिये। स्वच्छता की दृष्टि

से और स्वाद की दृष्टि से उनको पकाना चाहिये; पर इस बात का ध्यान रखकर कि उनके उपयोगी अंश जलें नहीं या व्यर्थ न जाएँ। उदाहरण के लिये चावल को लीजिये। बहुत-से लोग चावल के माँड को फेंक देते हैं। उनके साथ चावल का सारा सत्व निकल जाता है। बहुत-से लोग पॉलिश किये चावल खाते हैं, जिनके ऊपर की पर्त छिली रहती है। उसी आवरण में चावल के सारे पौष्टिक तत्त्व रहते हैं। उनके निकलने से वह निस्सार एवं भारी और रोग पैदा करनेवाला हो जाता है। इसलिये आहार को यथासम्भव उसके प्राकृतिक रूप में लेना चाहिये। साथ ही, सामयिक शाक-भाजी और फल अवश्य लेने चाहियें। उनको ठीक से पकाने और न पकाने से भी उनके गुणों में भेद पड़ जाता है, इसका ध्यान रखना आवश्यक है। जब वे सुन्दर रीति से पके रहते हैं, तो स्वाद से खाने के साथ मुख का पाचन रस भी उनके साथ ठीक मात्रा में मिश्रित होता है और वे आसानी से पचते हैं।

४—व्यक्तिगत रुचि, अनुकूलता, आवश्यकता और पाचन-शक्ति के अनुसार ही आहार लेना चाहिये। सबके लिये एक-सा आहार अनुकूल नहीं पड़ सकता। क्योंकि सबकी प्रकृति और शारीरिक बनावट भिन्न होती है। अतएव रुचि को ध्यान में रखकर ऐसा ही आहार ग्रहण करना चाहिये जो शरीर के अनुकूल पड़े और जिसको अँतड़ियाँ बिना उछल-कूद के पचाकर उसके सार को आवश्यकतानुसार ले सकें। वह भोजन ऐसा हो और इतनी मात्रा में हो कि उसको हज़म करने में शारीरिक शक्ति का अपव्यय न हो।

रुचि आदि के साथ शरीर की आवश्यकता का भी ध्यान रखना चाहिये। जिस समय शरीर को जैसे पौष्टिक तत्त्वों की

माँग हो, वैसा आहार लेना ठीक होता है। परिश्रमी को प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इसलिये ऐसे पदार्थ जिनसे ये तत्त्व मिल सके, लेना उसके लिये हितकर होगा। बैठकर मानसिक कार्य करनेवाले को इनकी अधिक मात्रा से हानि हो सकती है क्योकि चरबी बढ़ेगी। इसलिये अँग्रेज़ी मे एक कहावत है कि जो वस्तु एक व्यक्ति के लिये मांस (अर्थात् विलायती अमृत) हो सकती है, वही दूसरे के लिये विष हो सकती है—'What is one man's meat is another man's poison.'

५—बाज़ार-भाव के अनुसार किसी खाद्य-पदार्थ की उत्तमता का अनुमान न करना चाहिये। पोषक तत्त्वों के कारण वस्तुओं का मूल्य नहीं निर्धारित होता। वे कितनी कठिनाई या आसानी से मिलती है, उनकी खपत कैसी है और उनका स्वाद कैसा होता है, इन्हीं के आधार पर बाज़ार की चीज़ों के दाम बँधते हैं। अतएव इस भ्रम मे न पड़ना चाहिये कि कोई महँगी वस्तु ही स्वास्थ्यकर होगी। साथ ही किसी स्वास्थ्यकर वस्तु को स्वास्थ्य से बढ़कर मूल्यवान् न मानना चाहिये। जिस वस्तु से स्वास्थ्य को लाभ पहुँचे, वह मँहगी होकर भी बाद में सस्ती पड़ती है क्योंकि औषधियों का खर्च बचता है। सस्ती किन्तु अस्वास्थ्यकर वस्तु बाद मे महँगी पड़ती है। उन पदार्थों को लेना चाहिये, जो स्वास्थ्यप्रद होने के साथ सस्ते हों। भरण की अपेक्षा पोषण अधिक आवश्यक है, इसको भूलना न चाहिये।

६—खाद्य-पदार्थों के चुनाव में इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिये कि उनके सेवन से किसी प्रकार का रक्त-विकार न हो। शरीर का सारा कार्य रक्त से ही चलता है और रक्त आहार से बनता है। जब वह शुद्ध होकर शरीर में ठीक-

ठीक प्रवाहित होता है, तभी स्वास्थ्य ठीक चलता है। उसके दूषित वा शिथिल होने से शरीर निर्बल हो जाता है। उत्तेजक पदार्थ लेने से उसमें रुक्षता आ जाती है। रक्त का प्रवाह मन्द होने से शरीर ढीला पड़ जाता है। मस्तिष्क का रक्त-प्रवाह कम होने से चक्कर आता है और नेत्रों की ज्योति मन्द पड़ जाती है; अधिक होने से सिर-दर्द और किसी स्थान पर अवरुद्ध होने से पक्षाघात हो जाता है।

रक्त-शुद्धि के साथ स्नायु-मडल को भी ध्यान में रखना चाहिये क्योंकि स्नायु-मण्डल की शक्तता पर शरीर अवलम्बित रहता है। उत्तेजक आहार से वह बाद में ढीला हो जाता है। मस्तिष्क संस्थान के रक्त में यदि विटेमिनों के साथ फासफोरस और कैलशियम आदि का उचित सगठन नहीं होता, तो नाड़ियों में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते है और स्नायु-दुर्बलता से शरीर बेकार-सा हो जाता है। इसलिये रक्त-वर्द्धक और रक्त-शोधक पदार्थों को ही पथ्य मानना चाहिये।

भोजन कैसे करना चाहिये

क्या खाना चाहिये, इसकी अपेक्षा कैसे खाना चाहिये, यह जानना अधिक आवश्यक है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिये।

१—स्वाद के साथ भोजन ग्रहण करना चाहिये। स्वाद के साथ साधारण आहार लेने पर भी यह शरीर के लिये रसायन बन जाता है। उसके साथ शरीर के पाचन-रस स्वाभाविक रीति से मिलकर उसको पचाते हैं। बिना स्वाद का खाया हुआ उत्तम भोजन भी ठीक से नहीं पचता और शरीर के लिये भारस्वरूप या खाद बन जाता है, जिसमें व्याधियों के कीड़े या अंकुर ही उत्पन्न होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि स्वाभाविक-

स्वाद भूख से ही उत्पन्न होता है। औदरिक या घस्मर (जिसके मन में खाने के अतिरिक्ति कोई अन्य विषय न हो) व्यक्ति के मन मे भोजन के प्रति जो अनुराग उत्पन्न होता है, वह स्वाद नहीं, लोभ का परिचायक होता है। राजा धृतराष्ट्र को दिया हुआ विदुर का यह उपदेश इस प्रसंग मे उल्लेखनीय है—

"सम्पन्नतरमेवान्न दरिद्रोभुञ्जते सदा।
क्षुत्स्वादुता जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा।"—महाभारत

(अर्थात्, दरिद्र व्यक्ति जो भी खाए, सदा अच्छा ही भोजन करता है क्योकि वह भूख से खाता है। स्वाद को उत्पन्न करनेवाली वह भूख धनिकों को दुर्लभ है।)

२—सदैव स्वस्थ-चित्त होकर ही खाना चाहिये। आहार और पाचन-क्रिया पर चित्त दशा का प्रभाव पड़ता है। बिना मन का खाया हुआ अन्न शरीर मे नहीं लगता। मन से खाने पर साधारण पदार्थ भी तृप्तिदायक होता है। चित्त प्रसन्न रहने से पाचन-ग्रंथियो द्वारा नियमित रूप से पाचक रस द्रवित होता है। चित्त की विकलता से भोजन मे अरुचि होती है; आहार बिना बुलाए हुए अतिथि की तरह पेट में पड़ा रहता है, कोई उसको पूछता नहीं।

चिंता, भय, मन की उद्विग्नता, ईर्ष्या, द्वेप और क्रोध आदि विकारों का तात्कालिक प्रभाव पाचन-क्रिया पर पड़ता है। चिन्ता में आहार निष्फल जाता है, इसको तो आप किसी विरही की दशा देखकर समझ सकते हैं। आप स्वयं अनुभव करके देख सकते है कि किसी विपय पर देर तक चिन्ता करने से बार-बार मूत्र-विसर्जन करना पड़ता है। मधुमेह के प्रधान कारणों मे अधिक मानसिक परिश्रम और चिन्ता ही है। अधिक चिन्ता और भय से सिर के बाल २४ घण्टों में सफेद होते सुने

गये हैं। जब सम्पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्य पर उसका इतना प्रभाव पड़ता है, तो आहार और पाचन-क्रिया पर क्यों न पड़ेगा? भय का प्रभाव तो और भी स्पष्ट होता है। आपने सुना होगा कि बहुत से लोग भय-ग्रस्त होने पर मल-मूत्र त्याग देते हैं। भयाक्रान्त होने पर भीतर के यन्त्र अशक्त हो जाते हैं, इसलिये खाये हुए पदार्थ को रोकने की शक्ति उनमें नहीं रहती। पाठ याद न रहने पर अथवा अध्यापक की क्रूरता के भय से विद्यार्थी प्रायः पेशाब करने के लिये छुट्टी माँगते हैं। यह उनका बहाना ही नहीं कहा जा सकता; वास्तव में उन्हें पेशाब की हाजत होती है। क्रोध आदि से पाचन-क्रिया निश्चय ही बिगड़ जाती है क्योंकि क्रोध से रक्त उत्तेजित होता है, उसका दबाव बढ़ता है और वह पाचन-यंत्र से हटकर मस्तिष्क में संचित हो जाता है। इससे आहार का पाचन नहीं होता क्योंकि इन्द्रियाँ निर्बल होती हैं और क्षुधा-शक्ति क्षीण हो जाती है। महर्षि सुश्रुत का यह वचन मानने योग्य है—

> "ईर्ष्या भय क्रोध परिक्षतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
> प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्न न सम्यक् परिणाममेति॥"
>
> —सुश्रुत संहिता।

(ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, चिन्ता, दैन्य तथा द्वेष से पीड़ित मनुष्यों-द्वारा खाया हुआ भोजन ठीक से नहीं पचता।) स्नानादि करके और हाथ-पैर धोकर भोजन-गृह में खाने का जो प्राचीन नियम है, उसका उद्देश्य बाह्य शुद्धता ही नहीं, आन्तरिक शान्ति भी है। मनुष्य जब शान्तचित्त होकर ऐसे वातावरण में बैठकर भोजन करता है जहाँ अन्य आकर्षण नहीं होते, तो चित्त भोजन में लगा रहता है। अकेले भोजन करने की अपेक्षा कुछ साथियों और सहवर्गियों के साथ बैठकर भोजन करने में

अधिक तृप्ति होती है क्योंकि तब चित्त चिन्ताओं से मुक्त रहता है और लोग आमोद-प्रमोद के साथ खाते है। आन्तरिक तृप्ति एव सन्तोष भोजन का विशेष प्रयोजन है। वह तृप्ति स्वादिष्ट भोजन से ही नहीं प्राप्त होती। भोजन कैसा भी मधुर हो किन्तु यदि गृहणी कलहकारिणी हो तो उसका ठीक स्वाद न मिलेगा। भोजन देने वाली सुशील और मृदुभाषिणी हो तो रूखा-सूखा भोजन भी तृप्तिदायक होता है। मानसिक शान्ति-अशान्ति का ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। कर्कशा-नाथ तो घर मे घुसते ही सशंकित रहता है कि पता नहीं आहार खाने को मिले या गालियाँ। वह भोजन को कम पचाता है और अपनी व्यथा को अधिक। मृदुला-पति को विश्वास रहता है कि जो भी उसको मिलता है या मिलेगा वह सर्वोत्तम होगा क्योंकि वह प्रेम से दिया जाएगा। प्रेम से बढ़कर पाचन-रस कोई नहीं होता। मनुष्य खाद्य-पदार्थों का ही नहीं, मान-प्रतिष्ठा का भी भूखा रहनेवाला जीव होता है। किसी कजूस आदमी के यहाँ बिना आदर-सत्कार के अच्छा खाना भी मिल जाए तो उससे चित्त नहीं भरता। साधारण किन्तु उदार हृदय वाले व्यक्ति का रूखा-सूखा भोजन भी अतिथि को बड़ा सुस्वादु लगता है। कृष्ण ने विदुर का साग बड़े स्वाद के साथ खाया था। मनुष्य का भोजन ऐसा होना चाहिये जिससे उसका पेट ही, नहीं, बल्कि चित्त भी भर सके।

आत्म-संतोष के लिये यह भी आवश्यक होता है कि अपने परिश्रम की कमाई का खाना खाया जाए। वह साधारण होकर भी बल और तेज की वृद्धि करता है। चोरी का धन पचता नहीं है क्योंकि मानसिक ग्लानि उसको पचने के पहले ही गलाकर निस्सार कर देती है। लोभ से आत्म-सन्तोष नष्ट हो जाता है, इस-

लिये कभी तृप्ति नहीं होती और बिना तृप्ति का आहार व्यर्थ हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक बात और याद रखने योग्य है। वह यह है कि भोजन की स्वच्छता, उसके रंग, गंध, रूप आदि का भी यथेष्ट प्रभाव चित्त-दशा पर पड़ता है। रुचि को जगाने के लिये आहार की इन विशेषताओं को ध्यान में रखना चाहिए। गन्दगी आदि से मन भड़क जाता है।

३—आहार-भक्षण करते समय उसको धीरे-धीरे चबाकर और अच्छी तरह मर्दित करके तब अँतड़ियों को सौंपना चाहिये। खाने मे शीघ्रता कभी हितकर नही होती। यथासंभव सादा और मृदु आहार ही नियमित रूप से नियत समय पर खाना चाहिये। अधिक मिर्च-मसालों के उपयोग से जिह्वा-सुख अवश्य मिलता है, परन्तु अँतड़ियों की दुर्दशा हो जाती है। उनसे रक्त की रुक्षता बढ़ती है, पाचन-रस का अपव्यय और पुरुषार्थ का नाश होता है। यह भी याद रखना चाहिये कि अधिक नमक, वैज्ञानिक दृष्टि से, पुरुषार्थ-नाशक होता है। मिर्च-मसालों और नमकीन वस्तुओं के विशेष उपयोग से जल अधिक पीना पड़ता है। भोजन के समय और उसके उपरान्त अधिक जल पीने से पाचन-सामग्री पतली हो जाती है और पाचन-रस स्वयं इतना पतला हो जाता है कि भोजन ठीक से नहीं पचता। इसलिये थोड़ा-थोड़ा करके ही पानी पीना चाहिये और ऐसा आहार लेना चाहिये जो अधिक पानी न माँगे—'मुहुर्मुहुर्वारि पिवेदभूरि' —(भाव प्रकाश)। जल के विषय में हम विशेष रूप से आगे लिखेंगे।

४—भोजन के बाद शारीरिक और मानसिक परिश्रम से बचना चाहिये। जब खाना पचने लगता है तो शरीर का रक्त-प्रसार मुख्यतः अँतड़ियों पर होता है। अन्य अंगों मे मुख्यतः

मस्तिष्क में रक्त की कमी हो जाती है जिसके कारण सुस्ती, ठडक और ऊँघाई आदि का अनुभव होता है। उस दशा में शारीरिक या मानसिक परिश्रम करने से रक्त पाचन-यंत्रों को सहयोग देना छोड़कर अन्य पेशियों की ओर भागता है, जिसके कारण ठीक पाचन नहीं हो पाता। इसलिये सुश्रुत ने कहा है कि खाने के बाद जब तक अन्न का भारीपन रहे तब तक राजा की तरह (निश्चिन्त होकर) विश्राम करे, उसके बाद सौ पद चल कर बाईं करवट लेटना चाहिये—

"भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्न वलमोगत।

तत पादशत गत्वा वामपार्श्वेन सविशेत् ॥"—सुश्रुत-सहिता

आजकल स्वास्थ्य-नाश का एक मुख्य कारण यह है कि लोग खाने के बाद प्राय. काम में लग जाते हैं। बावू, विद्यार्थी, व्यापारी आदि खाने के बाद दौड़ते हैं और फिर मानसिक परिश्रम करते है। इससे भोजन ठीक तरह से नहीं पचता और परिणाम होता है अजीर्णता, कोष्ठबद्धता तथा शक्ति-क्षय। संस्कृत की एक प्राचीन लोकोक्ति है कि जो भोजन के बाद दौड़ता है उसके पीछे मृत्यु दौड़ती है—'मृत्युर्धावति धावतः।'

५—भोजन के बाद शरीर में कफ बढ़ता है इसलिये सुश्रुत ने लिखा है कि उसको दबाने के लिये बुद्धिमान् को उचित है कि वह पान, धूम्रपान, कपूर, लौंग या कषाय, कटु, तिक्त पदार्थों का सेवन करे। सुश्रुत ने यह भी लिखा है कि भोजन के बाद चित्त-वृत्ति को बिगाड़ने वाले शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श से बचना चाहिये।

जल का महत्व

जल के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक है, क्योंकि वह जीवन का एक मुख्य आधार है। उसका संस्कृत नाम भी जीवन तथा जीविका है। अन्न-जल ही शरीर को जीवित

रखते हैं। आदिकाल से ही इसके महत्व को स्वीकार किया गया है। वेदों ने भी जल की स्तुति की है—

"आप. इद्वा उ भेषजीरापो अमी वचातनी:।

आप: सर्वस्वय भेपजीस्तास्ते कण्व तु भेपजम्॥"—अथर्ववेद

(जल ही औपधि है; वही रोग-नाश का कारण है; वही सकल व्याधियों की औपधि है। जल ! तुम लोगो की औपधि बनो।)

जल में स्वयं कोई पौष्टिक तत्त्व नहीं होता, फिर भी शरीर के पौष्टिक तत्त्वों का धारक और प्रवाहक वही होता है। इसके अशुद्ध होने से अन्य तत्त्व अशुद्ध हो जाते हैं। उसके अभाव से शरीर की शुष्कता एवं विकलता उत्पन्न होती है क्योंकि रसाय-निक द्रव्य शुष्क होने लगते हैं और रक्त की गति शिथिल पड़ जाती है। जल का प्रभाव मस्तिष्क की क्रिया पर विशेष रूप से पड़ता है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि गरमी के दिनों में पानी न मिलने से बेचैनी होती है और बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। परिश्रम के बाद पसीने से जब जल का अंश शरीर से बाहर आ जाता है तो थकावट का अनुभव होता है। पानी पीने से चित्त और शरीर दोनों स्वस्थ्य हो जाते हैं।

एक प्रसिद्ध रूसी डाक्टर (Dr. Podolosky) ने इस सम्बन्ध में कुछ उपयोगी बातें लिखी हैं। उसने लिखा है कि सुचारु रूप से मानसिक क्रिया के संचालन के लिये उचित मात्रा मे पानी की आवश्यकता पड़ती है। बहुत कम या आवश्यकता से अधिक होने पर वह मस्तिष्क के लिये अत्यन्त हानिकर होता है। इससे मानसिक क्रिया-शक्ति का ह्रास होता है। जब जल का अंश विशेष रूप से अधिक या कम हो जाता है तो प्राय: चित्त-भ्रांति, तन्द्रा

और संज्ञा नाश होता है। जल आवश्यक तत्त्वों को सम्मिश्रित और संयुक्त रखता है। शरीर का जल-अंश कम या अधिक होने से मनुष्य की विचार-शक्ति अस्तव्यस्त हो जाती है—

"The efficiently functioning brain also requires proper amount of water—too little or too much is disastrous, not only resulting in decreased mental efficiency, but when this balance is profoundly upset it leads to delirium, stupor and coma. Water holds the essential chemicals in solution and in the rebuired amount of concentration. A shift in the either direction may result in distorted thinking."—Medical Record.

जल को हमेशा शुद्ध रूप में और प्यास के अनुसार लेना चाहिये। प्यास से ही ज्ञात होता है कि शरीर और मस्तिष्क को कब उसकी आवश्यकता है। कभी-कभी कृत्रिम तृषा भी लगती है; जैसे, उत्तेजक और चटपटी वस्तुएँ खाने पर। मांस खाने पर भी अधिक पानी की आवश्यकता पडती है क्योंकि उससे उत्पन्न 'यूरिक ऐसिड' नामक दूषित पदार्थ को बाहर निकालने के लिये अधिक जल की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में आवश्यकता से अधिक जल पीना पड़ता है, अन्यथा रक्त-विकार उत्पन्न होता है। अधिक जल का कुपरिणाम हम ऊपर लिख चुके है। अतएव सर्वोत्तम यह है कि ऐसा आहार खाया ही न जाए जिससे अस्वाभाविक प्यास लगे।

प्रातःकाल दातून आदि करके पेट-भर पानी पीना अमृत जैसा लाभ करता है। उसको उषा-पान कहते हैं। वह पेट को शुद्ध करता है, रक्त को शुद्ध एवं शान्त करता है और नेत्रों के लिये

हितकारी होता है। अनुभवी लोगों का कहना है कि नियमित रूप से उषा-पान करने से शिरोरोग नहीं होता और केश वृद्धावस्था तक काले रहते हैं। घाघ ने भी लिखा है कि—

"प्रातकाल खटिया ते उठिके, पियै तुरन्तै पानी।
तो घर कबहूँ वैद न आवे, बात घाघ कै जानी।।"

मस्तिष्क पर आहार का प्रभाव

आहार का प्रभाव मस्तिष्क पर कैसा पड़ता है, इसको ठीक-ठीक जान लेना चाहिये क्योंकि मस्तिष्क-द्वारा ही शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन होता है। भोजन का क्षणिक और स्थायी प्रभाव मस्तिष्क पर तत्काल पड़ता है जैसा कि मद्य-सेवन के प्रभाव से समझा जा सकता है।

उक्त रूसी डाक्टर (E. Podolosky) ने इस विषय में विशेष रूप से अध्ययन करके कुछ महत्त्वपूर्ण बाते प्रकाशित की हैं। उसका कहना है कि भक्षित पदार्थों से जो खनिज तत्त्व निकलते है वे मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव डालते हैं। स्वस्थ मस्तिष्क के रक्त मे उनका सम्मिश्रण ठीक परिमाण में मिलता है परन्तु अस्वस्थ मस्तिष्क में वे अधिक या न्यून मात्रा में मिलते है। ज्यों-ज्यों वे रासायनिक तत्त्व अपनी स्वाभाविक मात्रा से अधिक या कम होते है त्यो-त्यो मनुष्य की चित्त-वृत्ति और बुद्धि-शक्ति में अन्तर पड़ता है और प्राय: मनुष्य का सारा व्यक्तित्त्व ही परिवर्तित हो जाता है। वैज्ञानिक परीक्षा करने पर कई प्रकार के पागलों के मस्तिष्क मे शर्करा-अंश आवश्यकता से अधिक पाया गया है। बहुत से पागलो की परीक्षा से ज्ञात हुआ कि उनके मस्तिष्क मे कैलशियम और फासफोरस अत्यधिक मात्रा में थे। कई ऐसे रोगियों की परीक्षा की गई जिनकी विचार-शक्ति लुप्त हो गई थी और पता चला कि उनके

रक्त में चीनी का तत्त्वांश बहुत कम था। गंधक और लौह-तत्त्वों की कमी से अनेक मानसिक क्रियाये स्तब्ध होती देखी गई है। कई प्रकार के मानसिक रोग इनकी अधिकता के कारण उत्पन्न होते पाये गये है क्योंकि गन्धक, लौह-तत्त्वों के आधिक्य से मस्तिष्क उत्तेजित एव विक्षिप्त हो जाता है।

अधिक अम्ल अथवा क्षार-विशिष्ट पदार्थों से मस्तिष्क बहुत जल्दी प्रभावित होता है। मधुमेही के मस्तिष्क में अम्लरस (Acid) का प्राचुर्य मिलता है। अपस्मार, मानसिक व्याकुलता और संज्ञाहीनता के विकार प्रायः क्षार द्रव्यों की प्रचुरता से उत्पन्न होते हैं। कैलशियम और फासफोरस दोनों उचित मात्रा में मज्जा-ततुओ को बल, तेज और स्फूर्ति देते हैं। यही कम हो जाते हैं तो आलस्य और जड़ता के लक्षण प्रकट होते हैं। और इन्हीं के बढ़ने से विचारो मे चंचलता, झुँझलाहट होती है तथा विकलता का अनुभव होता है। लौह-तत्त्व से विचारों मे दृढ़ता आती है और मस्तिष्क पुष्ट होता है। बच्चों के ज्ञान-ततुओ में अवस्था के अनुसार लौह-अंश वयस्क की अपेक्षा कम होता है, इसलिये वे चंचल और विवेकहीन होते हैं। ज्यों-ज्यों आहार-द्वारा वे लौह-अंश प्राप्त करते है, त्यों-त्यों उनका मस्तिष्क पोषित होता है।

हरी शाक-भाजी और फल खाने से मन क्यों साफ हो जाता है, यह ऊपर के विवरण से समझा जा सकता है। उनमें खनिज अंश प्रचुर मात्रा मे होता है जो मस्तिष्क के अनुकूल पड़ता है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि खनिज द्रव्य अन्य द्रव्यो की भाँति पाचन-क्रिया से रस रूप में परिवर्तित होकर तब रक्त में नहीं मिलते। वे सीधे रक्त मे मिश्रित हो जाते हैं, इसलिये उनका प्रभाव जल्दी दिखलाई पड़ता है।

इस प्रसंग में दो-एक अन्य जानने-योग्य बातों का उल्लेख हम इसलिये करेंगे कि उनके विषय में लोगों में कुछ भ्रम है। पहली बात तो यह है कि ज्ञानोत्कर्ष के लिये कौन-सा यौगिक पदार्थ परमावश्यक है, इसका अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चला है। लोगों में यह विश्वास फैला है कि मछली में फासफोरस का अंश बहुत होता है इसलिये वह मस्तिष्क-शक्ति की वृद्धि के लिये उत्तम खाद्य-पदार्थ है। परन्तु वैज्ञानिक परीक्षा से यह असिद्ध प्रमाणित हुआ है। अँग्रेजी विश्वकोष में इस सम्बन्ध में ऐसा लिखा है।

"What compounds are especially concerned in intellectual activity is not known. The belief that fish is especially rich in phosphorus and valuable as a brain food has no foundation in observed fact." —Encyclopaedia Britannica.

दूसरी बात चावल के सम्बन्ध में है। चावल मस्तिष्क-पोषक होता है। विश्व-प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डाक्टर एन० आर० धर ने २ अगस्त, १६४८ को कलकत्ते में एक लेक्चर दिया था। उसमें उन्होंने बताया कि प्रोटीन में जो ऐमिनो ऐसिड (Amino Acid) नामक पदार्थ होता है उसके दो भेद होते हैं—एक विशिष्ट, दूसरा सामान्य (Essential, Non-Essential)। विशिष्ट प्रकार का द्रव्य शरीर तथा मस्तिष्क के विकास और पोषण के लिये नितान्त आवश्यक होता है। दूध, मछली और अण्डे आदि के प्रोटीन में ऐमिनो ऐसिड का विशिष्ट अंश ही अधिक होता है। गेहूँ में यद्यपि चावल की अपेक्षा प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है, परन्तु चावल के प्रोटीन में ऐमिनो ऐसिड का विशिष्ट भाग गेहूँ की अपेक्षा अधिक होता है। धर महोदय

के मत से पूर्वीय देशों के बौद्धिक विकास का प्रधान कारण चावल में प्राप्त होने वाला उच्चकोटि का प्रोटीन ही है और इसीलिए इधर चावल की खेती विशेष रूप से की जाती है। चावल से भड़कने वाले लोग चावल खाकर देखें; सम्भव है, ज्ञान तीव्र होने पर उनको पता चले कि चावल के विषय में उनका जो भ्रम था वह चावल न खाने के कारण ही था।

आहार के प्रभाव के सम्बन्ध में यह बात सर्वमान्य है कि उसके अनुसार शरीर बनता है, मस्तिष्क और साथ ही स्वभाव और चरित्र भी बनता है क्योंकि स्वभाव, चरित्र एवं मस्तिष्क शरीर से ही सम्बन्ध रखते हैं। सात्विक आहार की महिमा प्राचीन विद्वानो ने इसीलिये गाई है। इसमें सन्देह नहीं कि जो जैसा खाता हैं, वैसा ही बन जाता है। किसी संस्कृत नीतिकार ने कहा है कि जिस प्रकार दीपक अन्धकार की कालिमा का भक्षण करके कज्जल की कालिमा ही पैदा करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जैसा खाता है वैसा ही अपने ज्ञान को प्रकट करता है।

स्वास्थ्य के अन्य सहायक

अब आहार के अतिरिक्त स्वास्थ्य के अन्य प्रमुख सहायकों को लीजिये। अकेला भोजन ही जीवन-सर्वस्व नहीं होता। आयु और आरोग्य के लिए आहार के समान अथवा कुछ अशों में उससे भी अधिक उपयोगी कुछ अन्य वस्तुएँ भी हैं। उनमें से वायु सर्वप्रमुख है। भोजन के विना तो मनुष्य दो-एक महीने तक जीवित रह सकता है, परन्तु वायु के विना कुछ मिनट भी नहीं जी सकता। समस्त प्राकृतिक जीवन वायु द्वारा ही चलता है.। शास्त्र का यह वचन सर्वथा सत्य है—

"वायुना वै गौतमसूत्रेणाऽयञ्चलोकः परश्च लोकः
सर्वाणि च भूतानि सम्बन्धानि भवन्ति।"

(भावार्थ—हे गौतम ! वायु धागे की तरह है; जैसे धागे में मणियाँ पिरोई रहती हैं, वैसे ही समस्त भूत वायु-सूत्र में गुँथे रहते हैं।)

वायु का साधारण धर्म है प्रकृति को प्रगतिशीलता देना और सर्वगामी, सर्वात्मा होकर जीवन को स्पन्दित करना तथा वस्तुओं को परिवर्तित करना। उसका दूसरा मुख्य धर्म है जीवों में जीवनाग्नि उद्दीप्त करना। शास्त्रों ने वायु को अग्नि का तेज और अग्नि की आत्मा कहा है। आधुनिक विज्ञान भी उसको दहनात्मक मानता है क्योंकि उसके मुख्य तत्त्व ऑक्सीजन से ही दहन-क्रिया सम्पन्न होती है। वही प्राण-वायु है। तीसरा वायु-धर्म है, धातु-वर्द्धन और पोषण। उसके नाईट्रोजन नामक अंश से ही धातु-तन्तुओं का निर्माण एवं संवर्द्धन होता है। ऑक्सीजन की दहनात्मक-क्रिया पर नाइट्रोजन ही नियन्त्रण रखता है।

शरीर के साथ वायु का सम्बन्ध

स्वस्थ दशा में मानव-शरीर को प्रति घण्टे लगभग ४ गैलन ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। उसका अधिकांश भाग श्वास-द्वारा भीतर जाता है, शेष रोम-छिद्रों से। फेफड़े ऑक्सीजन को ग्रहण करके उसको रक्त में मिश्रित करते हैं। उसी से हृदय का कार्य चलता है। ज्यों-ज्यों शरीर की शक्ति व्यय होती है त्यों-त्यों अधिक प्राण-वायु की आवश्यकता होती है और वह फेफड़ों द्वारा सुलभ होती है। ऑक्सीजन से स्वभावतः दैहिक ताप उत्पन्न होता है और उसी से पाचन-क्रिया चलती है। उसके द्वारा रक्त को नवजीवन मिलता है, शरीर में शक्ति, स्फूर्ति और कान्ति की वृद्धि होती है तथा शरीर में उत्पन्न विषों का नाश होता है। वायु के ताप से भीतर पक्वाशय में जब खाद्य-पदार्थों

का परिपाक होता है तो उसमें कार्वन-डायक्साइड नामक एक विपाक्त गैस निकलती है। शरीर मे कार्वन (अंगार) प्रचुर मात्रा में रहता है। उसके साथ ऑक्सीजन का सयोग होने से वे जलते हैं और यह गैस पैदा होती है। प्रश्वास से वह बाहर निकलती है। श्वास से जब फेफड़े में ऑक्सीजन गृहीत होता है तभी भीतर से कार्वन-डायक्साइड बाहर निकलता है।

कार्वन-डायक्साइड के विषय में कुछ जानना आवश्यक है।

कार्वन-डायक्साइड

यह वही गैस है जो प्रायः कोयले के जलाने पर निकलती है। इसमें इतना विष होता है कि कभी-कभी जो लोग बन्द कमरों मे अँगीठी जलाकर सोते हैं, वे प्रातःकाल मरे हुए या बेहोश पाये जाते है। प्रकृति मे यह गैस गन्दी वस्तुओं के सड़न से, शहरों की गन्दी नालियों से, दलदल, पुराने कुँओं और मिलो, फैक्ट्रियों के धुँए से उत्पन्न होती है। कोई भी वस्तु जब सड़ने लगती है तो यह उसमे से प्रचुर मात्रा में निकलती है। कभी-कभी बन्द कमरों मे पके फल रखकर सोने से रात में उनकी सड़न से लोग बेहोश हो जाते है या मर जाते हैं।

यह घातक गैस होती है। शरीर में संचित होकर यह व्याधि ही नहीं, मृत्यु का भी कारण होती है। तीस वर्ष की आयु तक पुरुष के प्रश्वास से यह अधिक मात्रा मे निकलती है। फिर क्रमशः घटने लगती है। स्त्रियों के प्रश्वास में यह कम मात्रा में होती है। दिन मे यह अधिक निकलती है और वायु-मण्डल में आकर मिलती है; सन्ध्या में कम होती है। सूर्य-किरणो का यह स्वाभाविक गुण होता है कि वे सब वस्तुओं में से कार्वन-डायक्साइड को खींचकर बाहर करती है। रात्रि मे बाहर का ताप कम रहने से और शारीरिक क्रियाओं की शिथिलता के

कारण यह प्रश्वास से भी कम निकलती है और आधी रात को तो बहुत ही कम हो जाती है। प्रातःकाल वायु-मण्डल में यह गैस कम मात्रा में रहती है क्योंकि एक तो मनुष्य के प्रश्वास से कम निकली रहती है, दूसरे सूर्यताप के प्रभाव के कारण वह अन्य वस्तुओं से निकलकर वायु में नहीं व्याप्त होती। प्रभात-कालीन वायु का महत्त्व इसलिए अधिक है कि उसमें ऑक्सीजन प्रचुर मात्रा में मिल जाता है जिसके कारण विशेष स्फूर्ति और शक्ति मिलती है।

प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार वनस्पतियाँ इस विष को पीकर जीवों के लिये ऑक्सीजन रूपी अमृत-दान करती हैं। उनका यह स्वाभाविक गुण ही है कि स्वय खाद खाकर फल उत्पन्न करती हैं। इसलिये जो लोग खुले स्थानों में, वनस्पतियों के सम्पर्क में रहते हैं वे विशेष चैतन्य रहते हैं क्योंकि उनको प्राण-वायु अधिक मिलती है। गाँववालों की परिश्रम-शक्ति और जीवन-शक्ति इसी कारण से प्रबल होती है। शहरों में वनस्पतियों का अभाव होता है; बहुत-से लोग संकुचित स्थानों में रहते हैं और जन-संख्या की अधिकता से एक सीमित क्षेत्र में कार्बन-डायक्साइड प्रश्वास-द्वारा अत्यधिक मात्रा में निकलती है। दूसरे नालियों की गन्दगी, मिल के धुएँ आदि से यह और भी बढ़ती है और उस हलाहल को पीने वाले शिव—पेड़—वहाँ नही रहते, इससे यह विषाक्त गैस वहाँ निरन्तर व्याप्त रहती है। लोगों की श्वास-वायु में इसी की मात्रा अधिक होती है। परिणामतः फेफड़े दुर्बल हो जाते है। इस रहस्य को आप इस रूप में समझिये—बहुत से आदमी जब किसी एक संकीर्ण कमरे में साथ सोते हैं तो प्रातःकाल सुस्त या अस्वस्थ हो जाते है क्योंकि वे शुद्ध वायु नहीं बल्कि रातभर एक दूसरे का

प्रश्वास पिये रहते हैं। मुँह ढँककर सोने वालो की भी यही दशा होती है क्योकि वे अपनी ही निकाली हुई दूषित वायु को रात भर पिये रहते है। जब बाहर से आक्सीजन नहीं मिलता तो स्वभावतः भीतर कार्बन-डायक्साइड संचित होता है। यह प्राकृतिक नियम है कि जब फेफड़े मे आक्सीजन पुलिस की तरह पहुँचता है तभी दूषित वायु चोर की तरह भागती है। प्राण-वायु के न पहुँचने पर नाश-वायु ही रक्त मे मिश्रित होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मांस-पेशियो के विशेष सचालन, ज्वरताप की अधिकता और मनोवेग की तीव्रता से शरीर के भीतर कार्बन-डायक्साइड की उत्पत्ति अधिक होती है। इसलिए उसको निकालने के लिए परिश्रमी, रोगी और भावुक या मनस्ताप पीड़ितों को स्वच्छ वायु का सेवन नितान्त आवश्यक होता है।

वैज्ञानिक परीक्षा से ज्ञात होता है कि कार्बन-डायक्साइड का कुप्रभाव मस्तिष्क पर विशेष रूप से पड़ता है। इसके आधिक्य से मस्तिष्क में थकावट होती है, मन की एकाग्रता नष्ट होती है और चित्त अस्थिर तथा विकल हो जाता है। संज्ञाहीनता, स्नायवीय दुर्बलता, शिरोरोग इसके मुख्य परिणाम है। मुँह ढँककर सोने पर जो साँस फूलती है और बेचैनी होती है; वह इसीलिए। दम घुटने पर संज्ञाहीनता के लक्षण ही पहले प्रकट होते हैं क्योंकि बाहर से आक्सीजन न मिलने पर भीतर कार्बन-डायक्साइड फैल जाता है।

मस्तिष्क पर आक्सीजन का प्रभाव

आक्सीजन ही ज्ञान-तन्तुओं का प्राण है। एक अनुभवी डॉक्टर (Dr. E Podolosky M D) ने लिखा है कि जहाँ तक बुद्धि की चैतन्यता का सम्बन्ध है, ऑक्सीजन एक परमावश्यक तत्त्व है।

"Oxygen is the most important element in the brain as far as intelligence is concerned."

—Medical Record.

आधुनिक ढंग से इसकी वैज्ञानिक परीक्षा की गई है। सन् १८६२ में इसकी परीक्षा के लिए दो प्रसिद्ध वैज्ञानिक, ग्लैशर और काक्सवेल, बैलून द्वारा उड़कर ४८ मिनट में २८००० फीट की ऊँचाई पर गये थे। वहाँ हवा का दबाव कम होने के कारण ऑक्सीजन बहुत कम मात्रा में उपलब्ध था। परिणामतः ग्लैशर महोदय की ज्ञान-शक्ति तत्काल लुप्त हो गई। वे अपनी घड़ी देखकर उससे समय भी नहीं बता सके थे। उनकी जड़ता का अनुमान करके गुब्बारे को कुछ नीचे उतारा गया और ऑक्सीजन पाते ही उनकी बुद्धि फिर सचेत हो गई।

दो अन्य वैज्ञानिकों ने इसकी परीक्षा दूसरे ढंग से की। वे लौह-निर्मित एक छोटी-सी कोठरी में घुसे जिसमें यन्त्र की सहायता से हवा का दबाव उतना रक्खा गया था जितना कि २४,५०० फीट की ऊँचाई पर होता है। परिणाम यह हुआ कि एक तो शीघ्र ही किंकर्त्तव्यविमूढ हो गया। उसकी लिखने-पढ़ने और वस्तुओं को पहचानने की क्षमता नष्ट हो गई। कोठरी की छोटी खिड़की से देखने पर उनकी विमूढ़ता का पता चलता था। उनसे कोई भी बात पूछी जाती थी तो वे यही कहते थे कि बस, हमें ऐसे ही पड़े रहने दो। उनका मानसिक विकास पूर्णतया रुक गया था। इसके बाद हवा का दबाव बढ़ाया गया। वे कुछ चैतन्य हुए। उनमें से एक ने पास में रक्खे हुए शीशे को उठाया, पर उसको इतना ज्ञान नहीं था कि किस प्रकार उसमें अपना मुँह देखा जा सकता है। वह उसके पीछे के भाग में अपनी मुखाकृति देखने की चेष्टा करने लगा। जब हवा

का दबाव बढ़ाकर १४,५०० फीट के बराबर लाया गया तो ऑक्सीजन की उचित मात्रा मिलने से उनकी चेतना-शक्ति पुन सजग हो गई परन्तु दोनों को यह याद नहीं था कि इस बीच मे उन्होंने क्या-क्या सोचा था और कैसे बे-सिर पैर के काम किये थे। ऑक्सीजन न मिलने से उनकी विचार-शक्ति और स्मृति दोनों लुप्त हो गई थीं।

उपरोक्त उदाहरणों से समझा जा सकता है कि प्राचीन ऋषियों ने उषाकाल को इतना महत्त्व क्यों दिया था। सवेरे आक्सीजन अधिक-से-अधिक मात्रा मे सर्व-सुलभ रहता है, इसलिये उस समय चिन्तन करने से मस्तिष्क प्रौढ़ होता है और विचार-शक्ति तीव्र होती है। पूर्वकाल में प्रभात दिन का स्वर्ण-काल था। उसका लोग, मुख्यत: विद्यार्थी-गण और बुद्धि-व्यवसायी जन, पूर्ण उपयोग करते थे। परिणाम भी सुन्दर ही होता था। अब इसका उलटा होता है। प्रात काल लोग व्यर्थ गॅवाते हैं और दस बजे जब वायु-मण्डल विशेप दूपित हो जाता है तब वे बुद्धि का उपयोग करने निकलते हैं। फलतः उनकी बुद्धि थक जाती है।

शुद्ध वायु के ये गुण स्पष्ट हैं—इससे श्वास-प्रश्वास का क्रम ठीक चलता है, शरीर की कार्य करने की शक्ति संचालित होती है, मन मे उत्साह तथा चेतना की वृद्धि होती है, चित्तप्रवृत्ति ठीक रहती हैं, धातु और इन्द्रियो की पुष्टि होती है, शरीर के तत्त्वों को गति मिलती है, हृदय, रक्त और सम्पूर्ण जीवन का प्रवाह नियमित रूप से चलता है।

वायु-सेवन

शुद्ध वायु का सेवन श्वास से तथा रोम-कूपों से भी करना चाहिये। रोम-कूपो से वायु-ग्रहण करने की उत्तम विधि है, उनको स्वच्छ और खुला रखना। स्नान से रोम छिद्र खुल जाते हैं, तब उनके द्वारा

शुद्ध वायु अन्दर जाती है और पसीने के रूप में अन्दर का दुषित द्रव्य भी बाहर आता है। इसलिये स्नान करना नितान्त आवश्यक है। यथासम्भव शरीर को खुला रखना चाहिये, अथवा हल्के कपड़े पहनने चाहिएँ। इससे वायु का स्पर्श ठीक होता है। इस स्पर्श का महत्त्व इसीसे समझा जा सकता है कि दिन भर के परिश्रम के बाद खुले मैदान में जाते ही भीतर प्रसन्नता, स्फूर्ति की एक लहर उमड़ पड़ती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह लहर प्राकृतिक हवा से ही उमड़ती है, पंखे की कृत्रिम हवा से नहीं। पंखे की हवा वात-प्रकोपक होती है।

जब स्पर्श-मात्र से स्वाभाविक वायु शरीर को इतनी चैतन्यता देती है तो भीतर रक्त से मिश्रित होकर तो वह अवश्य ही विशेष गुण करती होगी। वास्तव में, जब शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर का सेवन किया जाता है तो सम्पूर्ण स्वास्थ्य उद्दीप्त होता है। सुवासित वायु औषधियों के तत्त्व और पुष्पों का गन्ध-सार लेकर चलती है; इसलिये वेद ने इसकी स्तुति कर के कहा है कि हे वायु! तुम्हीं विश्व के लिये औषधि हो, तुम देवताओं के दूत बनकर आओ—"त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे।" बहुत-सी व्याधियाँ केवल वायु-परिवर्तन से ठीक हो जाती हैं और इसके लिये लोग स्वास्थ्य-प्रद स्थानों में जाते हैं। सर्व-साधारण के लिये यही सुसाध्य है कि वे प्रातःकाल खुली जगह में अधिक-से-अधिक वायु-सेवन करें और दिन में भी अशुद्ध वायु से बचे। अधिक-से-अधिक का अर्थ यह नहीं कि आँधी में खड़े वायु-पान करें। उसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध वायु से फेफड़े को स्वच्छ करें। खड़े होकर वायु-सेवन ठीक-ठीक नहीं हो सकता, इसलिये टहलकर फेफड़ों को अधिक क्रिया-

शील बनाना चाहिये जिससे वे शुद्ध वायु ग्रहण करके भीतर की दूषित वायु को बाहर फेंक सकें।

इस प्रसंग में स्वरोदय-विज्ञान का परिचय देना अनुचित न होगा। श्वास द्वारा किस क्रम से वायु शरीर में धारित होती है तथा उसका क्या प्रभाव शारीरिक-क्रिया पर पड़ता है, यही इस प्राचीन भारतीय-विज्ञान का मुख्य विषय है। कई लोगो ने इसकी सत्यता की परीक्षा की है। इस शास्त्र के अनुसार सूर्योदय के समय से ढ़ाई-ढ़ाई घड़ी के क्रम से एक-एक नासिका-छिद्र से साँस बाहर आती-जाती है। दिन-रात में १२ बार एक छिद्र से कार्य होता है और १२ बार दूसरे से, और कभी-कभी कुछ देर दोनों से। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा को सूर्योदय के समय स्वस्थ व्यक्ति का बायाँ नासिका-छिद्र श्वास-प्रश्वास का काम करता है। कृष्णपक्ष की इन्हीं तिथियों में और अमावस्या को दाहिना छिद्र कार्यारम्भ करता है। यदि इसमें व्यतिक्रम हो तो समझना चाहिये कि शरीर मे गुप्त या प्रकट रूप से कोई व्याधि है। बाई नाक से श्वास चलते समय स्थिर कार्य करना चाहिये और दाहिनी नाक के समय कठिन कार्य तथा दोनों से चलते समय चिन्तन-ध्यान आदि। कोई रोग होने पर उस समय जो नासा-छिद्र कार्य करता हो उसको कपड़े से बन्द कर देना चाहिये। इससे शीघ्र ही दूसरा छिद्र खुल जाता है और उधर का फेफड़ा, जिसकी निष्क्रियता के कारण विकार हुआ रहता है, ठीक कार्य करने लगता है। सिर-दर्द में जिधर की श्वास चलती हो, उसको बन्द कर देने से सचमुच लाभ होता है, इसको हम देख चुके हैं। खाते समय दाहिना श्वास चलने

स्वरोदय--विज्ञान

से भोजन ठीक-ठीक पचता है। भोजन के वाद भी दस-पन्द्रह मिनट दाहिनी नाक का चलना हितकर होता है। इसलिये खाने के वाद वाईं करवट लेटने का नियम वताया गया है, क्योंकि वाईं करवट लेटने से दाहिनी नाक अपने-आप खुल जाती है, ऐसा प्राकृतिक नियम है। दाहिनी करवट लेटने से वाईं नाक काम करती है। उक्त शास्त्र के अनुसार जिधर की नासिका से श्वास चलती हो, उधर के अंगों-द्वारा किया हुआ तात्कालिक कार्य अधिक सुचारु रूप से सम्पन्न होता है। ओठों को ढीला करके धीरे-धीरे वायु खींचकर उसको नाक से धीरे-धीरे छोड़ने से वड़ा लाभ होता है। दो-चार वार इसका अभ्यास करने से रक्त, अजीर्ण और कफ-विकार ठीक होते हैं।

प्राणायाम

श्वास-प्रश्वास के प्रसंग में प्राणायाम की चर्चा कर देना भी आवश्यक है। प्राणायाम फेफड़े का व्यायाम ही नहीं, वह आयुर्वल-वर्धक, रक्त-शोधक, मस्तिष्क-पोषक एवं शक्ति-स्फूर्ति-दायक एक श्रेष्ठ क्रिया भी है। वह योगियों के उपयोग की ही नहीं प्रत्येक स्वास्थ्य-प्रेमी व्यक्ति के लिये एक उपयोगी साधना है।

प्राणायाम का महत्त्व समझने के लिये सर्व-प्रथम यह जानना चाहिये कि आयु के साथ श्वास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आयु की नाप श्वास से ही होती है। एक दिन में २१६०० वार श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इतनी साँसों में एक दिन का जीवन गत होता है। १ वर्ष में इसकी संख्या ७७,७६,००,००० होती है। यदि कुछ समय प्रतिदिन श्वास को रोका जाए तो उसका अर्थ यह होगा कि उतनी देर जीवन का व्यय न होगा और एक वर्ष से कुछ अधिक समय में उतनी श्वास (और उसी से सम्वद्ध आयु का

भी) का व्यय होगा जितना स्वाभाविक दशा में एक ही वर्ष में होता है। इस प्रकार प्राणायाम से आयु बचती है अथवा आयु का क्षय घटता है। दूसरी बात यह है कि इससे फेफड़े शुद्ध वायु से भर जाते हैं और उनके रोगाणु उसके द्वारा मर जाते हैं। फेफड़ों के शुद्ध होने से शरीर का रक्त शुद्ध होता है और रक्त की शुद्धता से ही स्वास्थ्य बनता है।

प्राणायाम का प्रत्यक्ष लाभ तो यह है कि उससे शरीर की शक्ति, विचार-शक्ति और मानसिक स्थिति दृढ़ होती है। रोग में, क्रोध में, अधीरता में तथा भय आदि किसी भी शारीरिक या मानसिक अशक्तता मे साँस की गति बढ़ जाती है। इसका अर्थ यह है कि साँस का बढ़ना भीतर की उत्तेजना या अशक्तता का द्योतक होता है। यदि इसका उलटा किया जाए, अर्थात् साँस को रोककर उसको स्थिर करने का अभ्यास किया जाए, तो निश्चय ही उत्तेजना और अशक्तता का हनन होगा। इसको तो निजी अनुभव से देखा जा सकता है कि चित्त जब उद्विग्न रहता है तो साँस का वेग बढ़ जाता है और शान्त रहने पर श्वास मन्द-मन्द चलती है। इससे यह सहज में समझा जा सकता है कि मानसिक स्वस्थता पर श्वास-संयम का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। प्राणायाम से एक और प्रत्यक्ष लाभ यह होता है कि उसकी साधना से मन की एकाग्रता बढ़ती है क्योंकि श्वास रोकने से जब मन की उत्तेजना शमित होती है तो उसकी चंचलता भी रुकती है। इससे व्यक्तित्व सचेत होता है और बुद्धि स्थिर एवं विशुद्ध होती है।

एक जर्मन यहूदी डाक्टर ने प्राणायाम से सम्बन्ध रखने वाली एक अन्य क्रिया को महत्त्व दिया है। उसका कहना है कि श्वास को बाहर निकालकर फेफड़ों को वायु-शून्य कर देना

चाहिये और अधिक-से-अधिक समय तक उनको इस अवस्था में रखना चाहिये। ऐसा करने से हवा न मिलने के कारण भीतर के हानिकर जीवाणु मर जाते हैं। उसका कहना है कि कफ के रोगों में (दमा, खाँसी, सर्दी आदि) इससे आश्चर्यजनक लाभ होता है। यह बात युक्ति-सम्मत प्रतीत होती है।

ब्रह्मचर्य

स्वास्थ्य का एक प्रमुख संरक्षक शरीर का वीर्य भी है। अच्छा आहार खाकर और खूब ऑक्सीजन पीकर भी यदि वीर्यरक्षा न की जाए तो स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रह सकता। शरीर के समस्त ओज (Vitality) का धारक विस्तारक वीर्य ही होता है। उसीसे पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा और वृद्धि होती है और पुरुषार्थ ही जीवन का सच्चा सुख है। वीर्य की महत्ता का इससे प्रबल प्रमाण क्या होगा कि उसीसे जीवन की उत्पत्ति होती है। वह मनुष्य को बनानेवाला, ब्रह्म और प्राणदायक तत्त्व होता है। ऐसी ब्रह्मशक्ति शरीर में रहकर निश्चय ही आत्मशक्ति की वृद्धि करती होगी। वीर्य उस वस्तु को कहते हैं जिसमें विशेष कार्य करने का गुण हो अर्थात् जो किसी वस्तु का प्रधान कार्यकारी गुण है—'प्रभूत कार्यकारिणी गुणे वीर्यम्'—सुश्रुत। मानव-शरीर का प्रधान तत्त्व वीर्य ही होता है। वही शरीर को पुष्टि देता है, रोगों के बाहरी आक्रमण से बचाता है, मन में धैर्य, शान्ति, उत्साह और विक्रम की भावना भरता है। हम प्रत्यक्ष देखते है कि दुराचारियों की अपेक्षा संयमी लोग स्वभावतः धैर्यवान्, उत्साही, मेधावी, मनस्वी और तेजस्वी होते हैं। क्लीवों या कामोत्कट व्यक्तियों को ऐसा होते नहीं देखा जाता। इससे वीर्य की ओजस्विता सिद्ध होती है।

स्वस्थ्य होने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। उसका

यह अर्थ नहीं कि बालब्रह्मचारी बनकर बैठा जाए। यह असम्भव एवं अस्वाभाविक है। आवश्यकता से अधिक वीर्य-सचय से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। संसार की कोई भी शक्ति जब उपयोग में नहीं लाई जाती तो वह स्वयं नष्ट होती है अथवा संलग्न वस्तु को नष्ट करती है। वीर्य का उपयोग अवश्य करना चाहिए पर आवश्यकतानुसार। उसको शरीर की मुख्य सम्पत्ति मानकर सम्पत्ति ही की तरह अच्छे काम मे लगाना चाहिए। इसी को व्यावहारिक जगत् में ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातो को ध्यान में रखना चाहिये—

१—'अन्नाद्रेतः संभवति'—(सुश्रुत)—वीर्य अन्न से बनता है। इसलिये उसका एक नाम अन्न-विकार भी है। आहार की शुद्धता से ही शुद्ध वीर्य बनता है और आहार की शुद्धता से ही वह स्वाभाविक अवस्था में रहता है। उत्तेजक पदार्थ लेने से वह विकृत हो जाता है और परिणाम-स्वरूप चित्त में चंचलता और शरीर में विकार की उत्पत्ति होती है। इसलिए यथासम्भव शुद्ध और सरल आहार लेना चाहिए।

२—मन की वासनाओं से वीर्य-दशा प्रभावित होती है। मन में वासना उठने पर कामोत्तेजना होती है। यदि उस समय उसको रोका जाए तो शरीर को क्षति पहुँचती है और यदि बार-बार वासनाओं के उठने पर उसका व्यय किया जाए तो शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। इसलिये ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए मानसिक संयम आवश्यक है।

३—रक्त दूषित होने से या कम होने से वीर्य भी दूषित तथा कम हो जाता है। व्यभिचार आदि से जब रक्त दूषित होता है तो वीर्य भी सदोष हो जाता है। आहार की कमी आदि से जब रक्त की कमी होती है तो वीर्य-रचना भी कम होती है।

दोनों दशाओं में शरीर की स्थायी शक्ति का ह्रास होता है। अतएव चरित्र की शुद्धता तथा आहार-संयम का ध्यान रखना चाहिए।

४—वीर्योत्पादक अंगों से मस्तिष्क का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, इसलिए उसको सुव्यवस्थित, सबल और स्वस्थ रखना आवश्यक है। वैज्ञानिक परीक्षा से देखा गया है कि काम-ग्रंथियों के नष्ट होते ही उत्साह, साहस, धैर्य, चैतन्यता और पौरुष-बल समाप्त हो जाते हैं। यह भी देखा गया है कि जर्जर काम-ग्रन्थियों को पुनः सजीव बनाने या बदल देने से वृद्धों के मन में भी युवावस्था की तरंगे आ जाती है और वे शरीर से भी पुरुषार्थी बन जाते है। जिनके काम-यंत्र निर्बल होते हैं वे युवावस्था में भी वृद्ध का-सा आचरण करते है। काम-अंगों की शक्तता, सुदृढ़ता और उनकी तृप्ति का मानव-स्वभाव और विचार-धारा पर अपरम्पार प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिए कि जननेन्द्रिय और मस्तिष्क का सीधा सम्बन्ध है। रीढ़ से लगी हुई एक मोटी नस होती है जिसको वीर्य-प्रवाहिनी शिरा कहते है। वह शिरा रीढ़ के साथ मस्तिष्क से जुड़ी रहती है। इसलिये जननेन्द्रिय के रोग-ग्रस्त, विकृत या अशक्त होने से मस्तिष्क भी वैसा ही हो जाता है। साथ ही, मस्तिष्क की अवस्था का पूर्ण प्रभाव इस अंग पर पड़ता है। अतएव इस शक्ति-उत्पादक अंग का रक्षण एव उपयोग सावधानी से और प्राकृतिक ढंग से करना चाहिए।

५—अति सर्वत्र वर्जयेत्—इस सिद्धान्त का पालन यदि किसी कार्य में करने की आवश्यकता है तो वह भोग-विलास के सम्बन्ध में। अधिक भोग-विलास से अधिक वीर्य-क्षय के कारण, रोग ही नहीं राज-रोग (क्षय) तक हो जाता है। व्यभिचार

से उपदंश होता है जिसमें शारीरिक यंत्रणा तो होती ही है, मानसिक यंत्रणा और भी भयंकर होती है। पागलपन का तो यह एक प्रमुख कारण होता है क्योंकि सिफलिस (उपदंश, गर्मी) से मस्तिष्क के सूक्ष्म तंतु बिल्कुल बेकार हो जाते हैं। मानसिक विकार में इसीलिए अनुभवी डॉक्टर रक्त-परीक्षा द्वारा पहले ही देख लेते हैं कि कहीं उसमें उपदंश के कीटाणु तो नहीं हैं। यदि परीक्षा न की जाए और वास्तव में पागल व्यक्ति उपदंश-पीड़ित हो तो कोई भी दवा देने से उसको लाभ नहीं होता।

शरीर पर मानसिक दशा का प्रभाव

आहार आदि पर मन का प्रभाव क्या पड़ता है, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। स्वस्थ चित्त स्वास्थ्य के लिए कहाँ तक और किस प्रकार सहायक होता है, यहाँ हम इस पर विचार करेंगे। विस्तार के भय से हम इस विषय को निम्नलिखित भागों में विभाजित करके देखेंगे कि किन-किन मानसिक वृत्तियों का प्रभाव शरीर के स्वास्थ्य पर कैसा पड़ता है:—

मनोयोग

मनोयोग के बिना स्वास्थ्य-निर्माण कभी नहीं हो सकता। किसी आहार या व्यायाम में मन न लगे तो उसका पूर्ण प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता। स्वास्थ्य-सुधार के लिये सुबह-शाम मन लगाकर थोड़ा भी टहलना लाभदायक दिखलाई पड़ता है। पोस्टमैन लोग दिन भर घूमते हैं, पर उससे उनका स्वास्थ्य औरों की अपेक्षा अच्छा नहीं प्रतीत होता क्योंकि वे स्वास्थ्य-सुधार की भावना लेकर नहीं टहलते।

मनोयोग से इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है। और इच्छा-शक्ति बड़े-से-बड़े चमत्कार कर सकती है। मनुष्य जब इच्छा कर

लेता है कि उसको स्वस्थ होना है तो वह अवश्य स्वस्थ बन जाता है। शक्तियों का संग्रह और योग मनोयोग से ही होता है।

विश्वास

मन के विश्वास का प्रभाव स्वास्थ्य पर कई प्रकार से पड़ता है। आत्मविश्वास से स्नायु-मण्डल स्वभावतः प्रबल हो जाते हैं और उसकी क्षीणता से इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं। आत्मविश्वास से शरीर में अतिरिक्त बल की अनुभूति होती है और उसके अनुसार शरीर की बल-वृद्धि होती है। कई प्राचीन महावीरों के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि उनमें १०,००० हाथियों का बल था, उसका अर्थ हम यह समझते है कि उनमें उतना मनोबल था। आत्म-विश्वास से एक व्यक्ति कई व्यक्तियों से अधिक बलवान् होता देखा जाता है।

जिनमें आत्म-विश्वास नहीं होता वे कई प्रकार की कल्पित व्याधियों से पीड़ित देखे जाते है। ऐसी बीमारियाँ औषधियों से नहीं, युक्ति से मन का सन्देह मिटाने से ही मिटती हैं।

मन में झूठा विश्वास जमने से कभी-कभी आत्मविश्वासी लोग सचमुच बीमार हो जाते हैं। इसकी परीक्षा कुछ अमेरिकन डॉक्टरों ने इस प्रकार की थी। एक बिलकुल चंगे आदमी से एक डॉक्टर ने कहा—आज आप कुछ ढीले लगते हैं। कुछ देर बाद दूसरा डॉक्टर पूर्वयोजना के अनुसार उसको मिला और कहा कि क्या मामला है, आपका चेहरा उतरा है, आँखें लाल हैं, और आप अस्वस्थ लगते हैं। बाद में तीसरा डॉक्टर मिला। उसने कहा—आपको तो बुखार मालूम देता है, घूमिये-फिरिये न। तीनों की बातों से वह स्वस्थ व्यक्ति अपने को सचमुच बीमार समझने लगा और थर्मामीटर से देखा गया तो उसको काफी टेम्परेचर हो आया था।

मन के विश्वास का कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका एक और दृष्टान्त किसी विलायती पत्र में छपा था। एक बच्चे को विचित्र प्रकार का सूखा रोग हो गया था। निदान से कोई कारण ज्ञात नहीं हुआ। तब एक अनुभवी डॉक्टर ने एक विचित्र औषधि बताई। उसने कहा कि इस बच्चे को हर तीसरे घंटे प्यार किया जाए। ऐसा किया गया और बच्चा मोटा-ताजा होने लगा। उसको विश्वास हो गया कि उसको प्यार होता है। इसके उदाहरण हम भारतीय परिवारों में यत्र-तत्र-सर्वत्र देख सकते हैं। विपत्नियों या विमाताओं द्वारा पालित बच्चे सूखकर काँटा हो जाते है क्योंकि उनके मन में यह बात बैठी रहती है कि संसार में कोई उनको चाहने वाला नहीं है। विश्वास से प्रेम होता है और प्रेम से मन तथा शरीर का पोषण। इसके अभाव में क्लेश, विरह, स्वास्थ्य-नाश होता है। सुन्दर परिवारों में पारस्परिक विश्वास ही सब को स्वस्थ एवं प्रसन्न चित्त रखता है।

निश्चिन्तता

निश्चिन्तता से आयु और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। चिन्ता से शरीर कृश होता है। कहा भी है कि 'चिन्ता समं नास्ति शरीर शोषणम्'—चिन्ता के समान अन्य कोई वस्तु शरीर-शोषक नहीं है। एक संस्कृत नीतिकार ने लिखा है कि चिन्ता चिता से दसगुनी बड़ी है (चिता की अपेक्षा उसके आगे एक बिन्दु (०) भी है) क्योंकि चिता तो मरे हुए शरीर को जलाती है और चिन्ता जीवित शरीर को ही दग्ध करती है। चिन्ता से अनिद्रा और क्लान्ति का अनुभव तो सभी ने किया होगा।

चिन्ता प्रायः धन की कमी, निराशा, संशय आदि के कारण उत्पन्न होती है। जब आदमी अपने को अरक्षित तथा भविष्य को अंधकारमय देखता है, तभी उसको चिन्ता होती है। यह

चिन्ता चाहे झूठी ही हो पर स्वास्थ्य पर उसका प्रभाव पड़ता है। अमेरिका के एक पत्र (Guardian) में इस विषय का समर्थक एक वृत्तान्त हाल ही में छपा है। जर्मनी की पराजय के बाद जर्मन बच्चों का शारीरिक स्वास्थ्य नष्ट होने लगा। भोजन की कमी तो थी ही, पर सबसे बड़ी बात यह थी कि उन बच्चों के मन में यह शंका उत्पन्न होगई थी कि आज जो खाने को मिल रहा है, वह कल भी मिलेगा या नहीं। दूसरे दिन की अनिश्चित दशा का विचार करके वे रात को चिन्ता-वश सो भी नहीं सकते थे। तब उनकी मनोदशा का अध्ययन करके उनके अभिभावकों ने यह उपाय किया कि रात को लेटने के पहले प्रत्येक बच्चे को एक-एक रोटी का टुकड़ा दिया जाने लगा। बच्चे उसको गुड़िया की तरह लिपटाकर इस निश्चिन्तता के साथ सो जाते थे कि उनके पास अगले दिन के लिये भोजन है। यह वृत्तान्त 'मैगज़ीन डाइजैस्ट' के जून १६४८ के अंक में उद्धृत हुआ है।

स्वस्थ रहने के लिये यह आवश्यक है कि जो गत हो चुका है, उसकी चिन्ता न करे,—'गतं न शोचामि।' और भविष्य की अनावश्यक एवं निराशाजनक कल्पना न करे।

मनोव्याधियाँ

चिन्ता के अतिरिक्त अन्य कई मानसिक व्याधियाँ हैं जो कुछ समय में शारीरिक व्याधियों के रूप में फूट निकलती है। इस सम्बन्ध में एक विद्वान् डॉक्टर (Dr. S. B. Whitehead) का यह कथन उल्लेखनीय है—

"In many subtle ways, mental ills reflect themselves through your body. Your hot temper sends up your blood pressure. Your sulks depress your nerves . your fear inhibits your digestion.

In thousand and one ways mental health reflects itself in your physical health and the way you react to people and circumstances."

(भावार्थ—मनोविकार कई सूक्ष्म ढंगों से शरीर-द्वारा अपने प्रभाव को प्रकट करते है। उत्तेजनात्मक स्वभाव रक्त का प्रसार बढ़ा देता है; उदासीनता या उद्विग्नता नाड़ियों को शिथिल कर देती है; भय पाचन-क्रिया को गड़बड़ा देता है। सैकड़ो प्रकार से मनोदशा का प्रभाव शारीरिक स्वास्थ्य और मनुष्यों के व्यवहार एवं आचरण पर पड़ता है।)

इस सम्बन्ध में अमेरिका की एक सुप्रसिद्ध पत्रिका (Read Magazine, August. 1945) मे एक सारगर्भित लेख छपा है। उसमें लिखा है कि प्रायः लोग अपने परिवार ही के किसी व्यक्ति के प्रति मन मे अर्से तक गुप्त घृणा लिये रहते हैं जिसके कारण उनको आत्म-ग्लानि होती है। ये दुर्भाव अन्तर्मन में बैठ जाते है और वर्षों बाद एक्ज़ीमा, दमा, हाई ब्लड-प्रेशर या दृष्टि-दोष के रूप में प्रकट होते हैं। गुप्त अन्तर्वेदना, व्यग्रता तथा भय-शंका की भावना का शरीर-दृष्ट्या लक्षण है, थकावट। जब आपको बिना किसी शारीरिक व्याधि के क्लांति तथा शिथिलता का अनुभव हो तो समझ लीजिये कि कोई दुर्भाव आपके अन्तर्मन मे समा गया है जो रह-रहकर जाग उठता है और आपको पीड़ित करता है। थकावट (या बेचैनी) विकार-प्रेरित द्वन्द्व की सूचना है—

"Fatigue is the red flag of emotional conflict."

—Curtis Reed

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शरीर से स्वस्थ रहने के लिए मन से स्वस्थ होना परम आवश्यक है। मन का पाप शरीर पर प्रकट

होता है, उसी तरह जैसे—'जीभ तो कहि भीतर गई, जूता खात कपाल'—तुलसी।

संगति का शारीरिक प्रभाव तो स्वास्थ्य पर पड़ता ही है। क्योंकि एक का रोग दूसरे को पकड़ लेता है, पर मानसिक प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। स्वस्थ व्यक्ति की संगति से मन में उत्साह होता है क्योंकि प्रत्यक्ष स्वास्थ्य-देवता के दर्शन होते हैं। और देव-दर्शन के बाद उपासना की भावना स्वभावतः उठती है। स्वस्थ व्यक्तियों की संगति से अपना स्वास्थ्य सुधारने की मनोवृत्ति उठती है। पहलवान लोग अखाड़ों में हनुमानजी की मूर्ति इसीलिए तो रखते हैं। अतएव स्वस्थ होने के लिये सामने एक आदर्श रखना आवश्यक है।

संगति का प्रभाव

स्वास्थ्य और व्यायाम

शरीर और मस्तिष्क की स्वाभाविक शक्ति और स्फूर्ति को उद्दीप्त करने के लिए व्यायाम की आवश्यकता होती है। व्यायाम का अर्थ पहलवानी नहीं है। व्यायाम किसी भी ऐसे कार्य को कह सकते हैं, जिसके द्वारा शरीर की स्थायी शक्ति सतेज, सक्रिय एवं सुदृढ़ हो। प्राकृतिक चैतन्यता प्राप्त करना ही उसका उद्देश्य होता है। वह चैतन्यता टॉनिक पीने या मद्य-सेवन से नहीं आ सकती क्योंकि वह पुष्टिकर होने पर भी स्थायी एवं स्वाभाविक नहीं होता। व्यायाम ही एक साधन है जिसके द्वारा मांस-पेशियों को बल मिलता है, नाड़ियाँ स्वस्थ होती हैं, हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क और पाचन-यन्त्र विशेष क्रियावान् होते हैं और शरीर में अनावश्यक चरबी बढ़ने नहीं पाती क्योंकि भीतर का बहुत-सा दूषित मल श्वास और पसीने से बाहर निकल जाता है। व्यायाम से ही प्रत्येक अंग सुगठित रहता है, रक्त का प्रवाह ठीक रहता है,

तथा मन मे उत्साह, आत्म-बल का अनुभव होता है। व्यायाम-द्वारा अंगों के संघर्षण और संचालन से शरीर की विद्युत्-शक्ति गतिमान् होती है और शरीर सतेज होता है। यही सब व्यायाम के लाभ हैं और इन्हीं के लिये व्यायाम करना भी चाहिये।

शारीरिक व्यायाम अनेक ढंग के होते हैं, जैसे—योगासन, खेल-कूद, डण्ड-बैठक, दौड़ना आदि। इनके ढंग और लाभ आदि सर्वविदित है। इनमे सबसे सरल टहलना है क्योंकि उसको सभी सुगमता से मनोविनोद के लिये भी कर सकते हैं। कई दृष्टियों से वह सर्वोत्तम भी है। कोई भी व्यायाम किया जाए, उसको नियमित रूप से और पूर्ण मनोयोग से ही करना चाहिये। उसके लिये प्रभात का समय सर्वोपयुक्त होता है। उस समय जिन शारीरिक क्रियाओं से शरीर को चैतन्यता-लाभ मिले, उन्हीं को करना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि उछल-कूद ही मचाई जाए। जो ऐसा नहीं कर सकते वे खाट ही पर हाथ-पैर तान कर, लम्बी सांसे लेकर और मांस-पेशियों को थोड़ा हिला-डुलाकर अपनी शक्ति को जगा सकते हैं। घर ही में थोड़ा टहल लेने से भी साधारण व्यायाम हो जाता है, किन्तु तब जब कि इच्छा-शक्ति दृढ़ हो। इसी प्रकार दफ्तर में काम से थकने पर कुर्सी पर ही थोड़ा हाथ-पैर तानने से मांस-पेशियों मे नवस्फूर्ति आ जाती है। उस समय आँखों को दो-चार बार कस कर बन्द करने तथा खोलने और दो-चार बार अगड़ाई लेने से नवस्फूर्ति आजाती है। वह भी एक उत्तम व्यायाम है—कम-से-कम रेल-यात्री और बुद्धि-व्यवसायियों के लिये। परन्तु इन सबसे स्थायी लाभ नहीं होता। ये तो चुटकुले हैं। स्थायी शक्ति के लिए किसी प्रकार का नियमित परिश्रम करना चाहिए और सावधानी के साथ क्योंकि—"अँतरे-खोतरे कसरत करे, दैव न मारे अपुने मरे"—अर्थात् अनियमित व्यायाम से शारीरिक विनाश होता है।

हमारी सम्मति में केवल एक व्यायाम है जो सभी दृष्टियों से सहज, उपयोगी और शरीर के समस्त अंगों के लिये समान रूप से हितकर हो सकता है; वह है धनुष-बाण चलाने का अभ्यास करना। आमोद-प्रमोद के साथ शरीर और मस्तिष्क को स्वस्थ बनाने के लिए इससे बढ़कर कोई व्यायाम नहीं हो सकता। आगे चलकर यह व्यायाम ही नहीं रह जाता बल्कि एक गुण और आत्म-रक्षा का साधन भी बन जाता है। प्राचीन भारत का यह सर्वमान्य व्यायाम था। भारत ही नहीं। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक यह इंग्लैण्ड का भी राष्ट्रीय व्यायाम था। पन्द्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के प्रत्येक व्यक्ति के लिये धनुष रखना और प्रतिदिन उसका अभ्यास करना अनिवार्य था। चतुर्थ एडवर्ड के राज में यह राज-नियम बनाया गया था कि जब बच्चे सात वर्ष की आयु के हो जाएँ तो उनको बाण चलाना अवश्य सिखाया जाए और इसके लिये प्रत्येक ग्राम में व्यवस्था थी। ग्रामवासियों और नगरवासियों के लिये नियम था कि वे प्रत्येक रविवार को और उत्सव के दिनों में धनुष-बाण का अभ्यास करें। जो इसमे आलस्य करते थे उनको जुर्माना देना पड़ता था। सुप्रसिद्ध हैरो स्कूल के संस्थापक ने यह नियम बनाया था कि जो माता-पिता अपने बच्चे को भर्ती करें वे उसको एक धनुष देकर तब स्कूल भेजें। काल-परिवर्तन से इस कला का उपयोग लोग भूल गये, परन्तु इससे उसकी उपयोगिता नहीं नष्ट हुई। एक सुप्रसिद्ध अँग्रेजी मासिक पत्र (Health & Efficiency) के १९४९ के विशेषांक में एक अनुभवी लेखक ने लिखा है कि संकुचित फेफड़ो को खोलने के लिये, भद्दे कंधों को सुडौल बनाने के लिये, तोंद पचाने के लिये, मांस-पेशियों को सुदृढ़ बनाने के लिए यह एक राष्ट्रीय व्यायाम

सर्वोत्तम व्यायाम

है, जिसको अत्यधिक लोकप्रिय बनाना चाहिए—

"As an antidote for cramped lungs, round shoulders, flabby abdomen and soft muscles, this is a national sport that should be a lot more popular than it is today."

James Dudley.

अब देखिए कि किस प्रकार इस एक ही व्यायाम से शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का सगठन, संतुलन तथा विकास होता है। जब आप धनुष चलाने खड़े होंगे तो स्वभावतः पैरों को सीधा करके दृढ़ता से जमीन पर खड़े होंगे। पैर ही नहीं, पूरे शरीर को सीधा रखना पड़ेगा और आँख को भी। इस प्रकार आप उस दशा में हो जाएँगे, जिस दशा में होने से ही मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। दूसरे शब्दों में आप कमर कसकर एक लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित करके लक्ष्य-वेध के लिये तैयार हो जाएंगे। बाण-संधान करते समय मौर्वी को आप दृढ़ता से खींचेंगे, उससे हाथ की मांस-पेशियों का व्यायाम होगा। शरीर का तना स्वभावतः तना रहेगा और वक्षस्थल तथा सिर पीछे की ओर तन जाएँगे; पैर आगे-पीछे हो जाएँगे। मौर्वी को खींचते समय स्वाभाविक रीति से आप अपनी साँस को खींचेंगे और जब तक बाण नहीं छोड़ते तब तक साँस को भीतर भर रखना पड़ेगा। इससे फेफड़े पूर्ण रूप से खुल जाएँगे, छाती चौड़ी हो जाएगी, पसलियाँ खुल जाएँगी और पेट तो ढीला रह ही नहीं सकता। जब तक लक्ष्य-वेध नहीं हो जाता तब तक चित्त एकाग्र रहता है, दृष्टि एकाग्र रहती है, आशा-उत्साह प्रबल रहता है और सफलता की एक ऊँची आकांक्षा मन मे रहती है। शारीरिक तथा मानसिक विकास के

लिये और क्या चाहिये ? यह एक ऐसा व्यायाम है जिसको सब स्वयं अपने अभ्यास से सीख सकते हैं। योग, प्राणायाम, व्यायाम, मनोरंजन और एक सैनिक-कला का ज्ञान—यह सब धनुप चलाने का अभ्यास करने से होता है, इसमें सन्देह नहीं। हॉकी, फुटबाल खेलने की अपेक्षा सरकार विद्यार्थियों को धनुर्विद्या का अभ्यास कराये तो उनको व्यक्तिगत लाभ ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र को लाभ होगा क्योंकि भावी नागरिक कम-से-कम स्वावलम्बी और लक्ष्य-वेध में पटु होंगे। यह स्मरण रखना चाहिये कि धनुष-संचालन के अभ्यास से स्वावलम्बन की भावना स्वतः उद्दीप्त होती है। अपने पैरों पर खड़े होकर, अपने बल से ही मौर्वी को खींचकर, अपनी ही एकाग्रता-शक्ति के अनुसार लक्ष्य को भेदकर आप सफलता प्राप्त करते है।

बुद्धि का व्यायाम

बुद्धि के व्यायाम के सम्बन्ध में भी कुछ जान लेना आवश्यक है। यों तो बुद्धि का व्यायाम ठीक विचार करने और रचनात्मक कार्य करने से हो जाता है, परन्तु उसके कुछ और भी साधन है। एक साधन तो है शतरंज खेलना। यह शुद्ध भारतीय खेल है जिससे मनोविनोद के साथ ही बुद्धि का विकास भी होता है। कहते हैं, रावण ने इसका आविष्कार मन्दोदरी के लिए किया था। बाद में कूटराजनीतिज्ञ चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की बुद्धि को तीक्ष्ण करने के लिये उसको यह खेल सिखाया। उसके बाद बुद्धकालीन भारत में इसका प्रचार बढ़ा क्योंकि मनुष्य की युद्ध-प्रवृत्ति को बुझाने का यह अच्छा साधन माना गया। इसकी अहिंसात्मक युद्ध-प्रणाली को बौद्धों ने बहुत पसन्द किया। शतरंज का पूर्ण परिचय न देकर हम निश्चित रूप से इतना ही कहना चाहते हैं कि यह एक मनोरंजक और बुद्धि-वर्द्धक व्यायाम है।

प्रार्थना से देवता वरदान दें या न दें, परन्तु मन उनके तेजोमय रूप को अपने भीतर प्रतिष्ठापित करके निश्चय ही सबल हो जाता है। उससे आत्मशक्ति की दृढ़ता होती है—और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है—मनुष्य एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सहानुभूति का विश्वास करके अपने को स्वयं शक्तिमान् समझने लगता है और इस मनोबल से उसका बौद्धिक एवं शारीरिक विकास होता है।

बुद्धि का सर्वश्रेष्ठ व्यायाम है, उपासना

विश्राम

स्वास्थ्य के लिये आहार, व्यायाम आदि के समान विश्राम की भी आवश्यकता होती है क्योंकि उसीके द्वारा शरीर की खोई हुई शक्ति पुनः वापस मिलती है और शरीर-यन्त्र जर्जर नहीं होने पाता। मानसिक और शारीरिक परिश्रम में मांस-पेशियों तथा नाड़ियों पर जो कार्य-भार पड़ता है उसको हलका करने का साधन विश्राम ही है। विश्राम से स्नायु-मण्डल दृढ़ होता है, शरीर, मन दोनों स्वस्थ होकर जीवन-संघर्ष के लिये पुनः समर्थ हो जाते हैं और धातु-तन्तुओं की क्षति-पूर्ति होती है। इसलिये परिश्रम के बाद विश्राम करना भी आवश्यक है और विश्राम ऐसा करना चाहिये जिससे तन-मन दोनों को पूर्ण शान्ति मिले, क्योंकि यही उसकी उपयोगिता है।

मानसिक विश्राम तो बहुत-कुछ विषय-परिवर्त्तन और स्त्री-बच्चों तथा मित्रों के साथ हास्य-विनोद करने से हो जाता है। हँसने से भी मन का विश्राम होता है क्योंकि हँसी से रक्त का प्रसार बढ़ता है, रक्त की गति तीव्र होती है और मुख्यतः मस्तिष्क का अवरुद्ध रक्त ठीक से प्रवाहित होता है। उससे फेफड़े खुलते हैं और एक-एक नस से दूषित वायु बाहर निकल

आती है। इससे मन को शान्ति होती है; बहुत-सी चिन्ताएँ हँसी की हवा में उड़ जाती है। किसी भी प्रकार के मनोरंजन से मन को विश्राम मिल जाता है।

पूर्ण विश्राम का प्रधान साधन निद्रा है। स्वाभाविक, मानसिक तथा शारीरिक शान्ति, पूर्ण मात्रा में उसी से मिलती है। इसलिये उचित मात्रा में प्रगाढ़ निद्रा शरीर के लिये सबसे प्रमुख 'टॉनिक' है। निद्रा के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ जान लेना आवश्यक है।

१—निश्चित समय पर स्वाभाविक निद्रा ही स्वास्थ्यप्रद होती है। उसको प्राप्त करने के लिये सुन्दर पलंग और बिछौने की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी कि स्वाभाविक आहार और परिश्रम की। पाचन-क्रिया ठीक रखने और दिन में कुछ शारीरिक परिश्रम करने से रात में अच्छी नींद आती है।

२—नींद एक शारीरिक क्रिया नहीं, मुख्यत: मानसिक क्रिया है। मस्तिष्क को हलका करने से ही नींद आती है। मन में चिंता रहने से वह दूर भागती है। इसलिये लेटने पर किसी ऐसे कार्य की चिंता न करनी चाहिये जिसके सुलझाने में मन को विचार करना पड़े। किसी पुराने विषय को सोचिये; ऐसे विषय को सोचिये जिसमें आपको सफलता मिल चुकी हो; किसी मधुर स्मृति में मन को लगाइये। उससे यह होगा कि मन को चिन्तन न करना पड़ेगा; वह सुलझी-सुलझाई बातों का रस लेगा और जानी-बूझी गलियों ही में घूमेगा। उस पर नये विचारों का दबाव न पड़ेगा और वह रस-मग्न होकर सो जाएगा। मनोवैज्ञानिकों ने निद्रा का यही श्रेष्ठ उपाय बताया है। दूसरा उपाय है सोने के पहले कोई मनोरंजक उपन्यास, कहानी या काव्य पढ़ना अथवा स्वजनों से प्रेमालाप करना। इससे मन

किसी गम्भीर चिन्ता में न फँसेगा। आयुर्वेद के प्राचीन पण्डितों का कहना है कि इन्द्रियों से मन को हटा लेने से ही नींद आती है।

३—वैज्ञानिकों ने अनिद्रा के कारण और उनके निवारण के कुछ अच्छे उपाय बताये हैं। अनिद्रा एक भयकर रोग है। यदि इसका शीघ्रातिशीघ्र निवारण न किया जाए तो शरीर और मस्तिष्क दोनों अस्वस्थ हो जाते हैं तथा बाद मे यह किसी भी उपचार से ठीक नहीं हो सकता। आत्मघातियों में अनिद्रा-पीड़ित व्यक्तियों की संख्या काफी होती है। यह रोग प्रायः बुद्धि-सम्बन्धी काम करनेवालों को तथा व्यवसायियों को ही होता है।

अधिक मानसिक परिश्रम और चिन्ता से अनिद्रा रोग होता है। इसका रहस्य यह है। साधारण निद्रा की अवस्था मे मस्तिष्क के रक्त का अधिक भाग वहाँ से निकल आता है और रक्त-वाहिनी नसों का संकोचन होता है। परन्तु जाग्रतावस्था में और मुख्यतः विचार करते समय मस्तिष्क की नसों मे रक्त प्रचुर मात्रा में रहता है, इसलिए उनका फैलाव होता है। दोनों अवस्थाओं के ये कार्य प्राकृतिक हैं। मस्तिष्क से जब रक्त निकल जाता है और नसें संकुचित होती है तभी नींद आती है। अधिक चिन्ता, रात्रि-जागरण और अनवरत परिश्रम से रक्त मस्तिष्क मे निरन्तर भरा रहता है और परिणाम यह होता है कि नसें फैल-कर ढीली हो जाती हैं तथा उनका स्वाभाविक संकोचन नहीं हो पाता। ऐसी दशा में वे रक्त को मस्तिष्क से बाहर निकालने में असमर्थ हो जाती हैं और रक्त की उष्णता के कारण नींद नहीं आती। यदि शीघ्र सावधानी न की जाए तो स्नायु-मण्डल अशक्त बना रहता है और आगे उसको ठीक नहीं किया जा सकता। मूर्खों और दरिद्रों को यह रोग नहीं होता क्योंकि वे

बुद्धि पर जोर डालने वाला कोई कार्य नहीं करते। मूर्ख जब चाहे तब सो लेता है क्योंकि विचार न करने के कारण उसका मस्तिष्क रक्त से सदैव रिक्त रहता है। उसको सोने की ही बीमारी हो जाती है क्योंकि मस्तिष्क की नसें संकुचित ही रहती हैं।

अनिद्रा में अधिक-से-अधिक विश्राम लेना ही हितकर होता है। निश्चिन्तता से नसें पुनः स्वाभाविक कार्य करने लगती हैं। समुद्र की हवा इस रोग में जादू का-सा काम करती है। दिन में सोना, स्वच्छतम वायु का सेवन, घर से बाहर रहना, व्यायाम करना, ये सब इसमें बहुत लाभ करते हैं। लेटने से पूर्व कोई गरम पेय, मुख्यतः दूध पीने से गरमी पाकर मस्तिष्क का रक्त वहाँ से नीचे उतर आता है। सोने से पूर्व और जब जगे तब, गरम दूध पीना बहुत गुण करता है। गरम दूध पीकर थोड़ी देर गरम पानी में पैर रखने से मस्तिष्क का रक्त-प्रसार कम हो जाता है और नींद आ जाती है।

जिस तरह भी हो सके प्राकृतिक और पर्याप्त विश्राम लेना स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है। अच्छी नींद के बाद थोड़े समय में भी दूना काम होता है। नींद न आने से दूने समय में भी आधा काम होता है।

औषधियाँ

स्वास्थ्य-रक्षक एवं स्वास्थ्य-वर्द्धक वस्तुओं में हम औषधियों को भी लेते हैं। औषधियों से हमारा तात्पर्य रस-भस्म या काष्ठ औषधियों से ही नहीं है। प्राचीन विद्वानों के मत से जिस वस्तु के द्वारा शरीर को आरोग्य प्राप्त हो, वही भेषज है। उनके मत से जल, वायु, ताप, उपवास, मन्त्र सभी भेषज हैं। सूर्य की किरणें सर्वोत्तम भेषज हैं। सूर्य से तीन प्रकार की किरणें—

तापदायक, प्रकाशदायक और रसायनोत्पादक—निकलती हैं। तीनों स्वास्थ्यकर हैं। इसी प्रकार वायु आदि के गुण हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर यथास्थान कर चुके हैं।

१—वास्तव में, अन्न अर्थात् आहार ही सर्वोत्तम औषधि है। आहार-संयम और पाचन से यथासंभव कोई रोग नहीं होता और यदि हो भी जाए तो आहार-परिवर्तन से ही वह अधिक सुगमता से ठीक हो सकता है। आहार की कई साधारण वस्तुएं ही ठीक ढंग से लेने पर चमत्कार करती हैं। उदाहरण के लिये नमक को लीजिये। मलेरिया में दो तोला नमक भून-कर गरम पानी के साथ पीने से रामबाण का काम करता है। ज्वर के बाद की निर्बलता में नमक-मिश्रित पानी पीने से शरीर की शक्ति बहुत शीघ्र वापस आ जाती है क्योंकि ज्वर की दशा में पसीने से शारीरिक नमक का जो व्यय हुआ रहता है, उसकी पूर्ति हो जाती है। किसी भी समय थकावट या बेचैनी होने पर हलका नमक-मिश्रित जल पीने से स्फूर्ति आती है। दाँत के रोगों में नमक और कड़वा-तेल मिलाकर माँजना अद्भुत गुण करता है और यदि उसके साथ ½ भाग सोडा-बाई-कार्ब भी मिला लिया जाए तो और भी। इसके अतिरिक्त नमक एक सर्वसुलभ जन्तुघ्न औषधि भी है।

खाद्य-पदार्थों में करेले को लीजिये। अभी हाल में अमृत-बाजार-पत्रिका (इलाहाबाद) में डॉक्टर अग्रवाल नामक एक सज्जन का एक पत्र छपा था। उसमें उन्होंने लिखा है कि करेले के ऊपरी छिलके में मधुमेह को निर्मूल करने की विचित्र शक्ति है। इसलिये करेला प्रत्येक रूप में मधुमेहियों के लिये लाभ-दायक है। यदि कोई 'मेही' उसको सुरक्षित रखना चाहे तो उसके छिलके को किसी काठ की छुरी (धातु की छुरी से नहीं) से छील-

कर छाया में सुखा ले और साल भर खाए। उक्त सज्जन को यह प्रयोग किसी अनुभवी मिश्र-निवासी से ज्ञात हुआ था। उन्होंने इसका अनुभव करके देखा है और तभी छपवाया है। ऐसे ही, पपीते को लीजिये। कोष्ठ-बद्धता के लिये यह रामरसायन है। कैसा भी जीर्ण कोष्ठबद्ध हो, प्रातः काल एक छोटे चिम्मच-भर शक्कर में कच्चे फल का १०—१५ बूँद दूध डालकर पीने से पाचन-क्रिया ठीक हो जाती है। दूध के लिये फल तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। सुई चुभाने से दूध टपक पड़ता है। नींबू भी प्रातःकाल एक प्याले गरम पानी में लेने से पेट को तथा रक्त को शुद्ध करता है।

ऐसी छोटी-मोटी किन्तु असाधारण वस्तुओं में हम 'लहसुन' को नहीं भूल सकते। 'वाग्भट' ने उसको अमृत-संभूत रसायन-राज माना है—'साक्षादमृतसंभूतेग्रमिणीः स रसायनम्।' महर्षि सुश्रुत ने भी उसको बलकारक; बुद्धि, स्वर, वर्ण, चक्षु के लिये उपयोगी; टूटी हड्डी को जोड़ने वाला; हृदय-रोग, जीर्ण ज्वर, पार्श्वशूल, कोष्ठबद्धता, गुल्म, अरुचि, कास, शोथ, अर्श, कुष्ठ, अग्निमांद्य, कृमि, वायु, श्वास और कफ़ का नाशक कहा है। वास्तव में यह फेफड़े के रोगों में, राजयक्ष्मा तक में, अबलता में, पेट के कृमि रोग में और लकवा आदि वात-रोगों में आश्चर्य-जनक लाभ करता है। यह अपने वातारि, श्रीमस्त महौषध, रसायनकर और अस्थिसंधानकर आदि नामों को सर्वथा सार्थक करता है। क्षय रोग की प्रारम्भिक दशा में १ से १० तक कच्चे लहसुन प्रातःकाल खाने से उक्त रोग निर्मूल हो जाता है, इसको हम दो-एक व्यक्तियों के अनुभव के आधार पर कह सकते हैं। पक्षाघात में लहसुन के १० यव दूध में पकाकर चालीस दिन तक खाने से स्थायी लाभ होता है, यह भी बहु-अनुभूत है।

साधारणतया ४ यव लहसुन प्रातःकाल बासी मुँह रोज़ खाने से पेट अवश्य शुद्ध रहता है और तेज-ओज की वृद्धि होती है। महात्मा गाँधी प्रतिदिन नियमित रूप से लहसुन खाते थे और अन्त तक पूर्ण स्वस्थ थे। वृद्धों के लिए तो यह औषध भी है क्योंकि उनको वात-विकार होता है और यह वात को हड्डियों तक से निकाल भगाता है। इसको कुछ लोग कामोत्तेजक मानते हैं, परन्तु गाँधी-जी ने एक बार कहा था कि लहसुन के नियमित सेवन से उनको कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ।

औषधियों का निर्देश करना हमारा विषय नहीं है। हमने प्रसंगवश यह दिखलाने के लिये कुछ अनुभूत प्रयोगों का उल्लेख कर दिया है कि साधारण घरेलू वस्तुओं से भी बड़े-बड़े रोगों का मारण-निवारण हो सकता है। केवल समझ-बूझकर प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। ठीक से प्रयोग करने पर संखिया भी अमृत हो जाता है और मूर्खता से मधु भी विष हो जाता है।

२—औषधियो में हम उपवास को भी लेते हैं। उपवास से शरीर की सफ़ाई हो जाती है और पाचनेन्द्रियों को विश्राम मिलता है। अजीर्णता आदि में लंघन विशेष गुण करता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि उपवास में धातु-तन्तुओं का विनाश होता है और उनके स्थान की पूर्ति संचित मांस-पेशियों की धातुओं से होती है। शरीर के साधारण अंगों से ही धातु-व्यय अधिक होता है; उदाहरणार्थ—उपवास में जितने समय में मांस-पेशियों का वज़न ४०%घटता है, उतनी देर में हृदय का ३०% ही घटता है। इसलिये यह भ्रम निकाल देना चाहिये कि उपवास से हृदय दुर्बल होता है। आवश्यक अंगों की रक्षा का विधान प्रकृति ने कर रखा है।

३—मन्त्र भी औषधि-वर्ग में माने गये हैं। उन पर कोई

विश्वास करे या न करे, इतना तो सत्य ही है कि उनमें हृदय को बल, विश्वास और धैर्य देने की शक्ति है। उनसे चित्त में जो शान्ति और आशा उत्पन्न होती है, उसका लाभ स्वास्थ्य पर अवश्य पड़ता है। शब्द हृदय पर आघात करते हैं। किसी के लिये आप मंगल-कामना सुमधुर शब्दों में व्यक्त कीजिये तो वह फूल जाता है। किसी को भर्त्सनात्मक शब्द कह दीजिये तो वह बिना काटे ही कट जाता है। इससे शब्दों की मन्त्र-शक्ति प्रमाणित होती है। शब्द अन्तस्तल को स्पर्श करते हैं और स्पर्श में कितनी शक्ति होती है, इसका अनुभव आप शीत या उष्ण वायु के स्पर्श से कर सकते हैं। वायु के साथ जब मन्त्रों के मंगलमय सुव्यवस्थित शब्द हृदय को छूते हैं तो हृदय अवश्य आन्दोलित होता है। उन मन्त्रों में कल्याण की भावना ही तो रहती है। मन्त्र के साथ मांगलिक द्रव्यों के स्पर्श से भी शरीर को लाभ होता है। इस स्पर्श को भी साधारण न मानना चाहिये। स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के स्पर्श से ही रोमांचित हो जाते हैं। इसी तरह माता पुत्र के स्पर्श से स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करती है। चाणक्य ने लिखा है कि चन्दन का स्पर्श शीतल अवश्य होता है, परन्तु पुत्र का शरीर-स्पर्श उससे भी अधिक शीतल होता है। जिस वस्तु से जिसका अनुराग होता है, उसको वही आनन्द-दायक होती है।

४—मणि-रत्नों और सुवर्ण आदि धातुओं का प्रभाव भी शरीर के स्वास्थ्य पर पड़ता है, ऐसा कहा जाता है। शास्त्रीय मत से ग्रहों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और मणि-रत्न उन्हीं ग्रहों से शक्ति-संचय करते हैं। उनका कुप्रभाव भी पड़ता है। इसमें कहाँ तक सत्यता है, हम कह नहीं सकते। जब ठंडे पानी-जैसे साधारण पदार्थ के स्पर्श से शरीर में शीतलता आती है और अंगों का संकोचन होता है तो हीरे-जैसे कान्ति-विशिष्ट पदार्थों के स्पर्श का प्रभाव भी पड़ सकता है। शुक्राचार्य ने अपने नीति

शास्त्र में लिखा है कि पुत्र की कामना करने वाली नारियों को कभी हीरा न धारण करना चाहिये—"न धारयेत् पुत्रकामा नारी वज्रं कदाचन।" धनी परिवारों में सन्तान-कष्ट प्रायः रहता है। यह देखना चाहिये कि आभूषणों में हीरा पहनने से तो कहीं स्त्रियों की गर्भ-धारण-शक्ति पर प्रभाव नहीं पड़ता। स्वर्ण के विषय में यह कहा जाता है कि वह शरीर को प्राकृतिक विद्युत से संयुक्त करता है। ऐसा हो या न हो, पर इतना अवश्य होगा कि त्वचा-द्वारा स्वर्ण का धातु-अंश रक्त से संयुक्त होकर स्वास्थ्य-कर होता होगा।

५—स्नान, तेल-मालिश आदि को भी हम औषधियों में ले सकते हैं। स्नान के विषय में हम लिख चुके हैं। तेल-मालिश के सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि वह परम पुष्टि-वर्द्धक होता है। पेड़ को जल का सिंचन जितना लाभ करता है, उतना ही शरीर को स्नेह-सिंचन।

६—दवाओं के उपयोग के सम्बन्ध में कुछ लिखना यहाँ पर अनावश्यक होगा; वह वैद्य-डाक्टरों का विषय है। हाँ, इतना स्मरण रखना चाहिए कि बलाबल के अनुसार ही औषधियों का सेवन हितकर होता है; अर्थात्, युवक के लिये जो दवा जिस मात्रा में दी जाएगी उससे बालक तथा वृद्ध की दवा और उसकी मात्रा में भिन्नता होगी। साथ ही, यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अप्राकृतिक ढंग से ली हुई दवायें स्थायी गुण नहीं करतीं। जिस देश का जो प्राणी होता है, उसी देश की दवाये उसको स्वभावतः लाभ करती हैं।

स्वास्थ्य-नाश के कारण

संक्षेप में हमें स्वास्थ्य-नाश के कुछ साधारण कारणों पर भी विचार कर लेना चाहिए। प्रधान कारण तो रोग ही हैं।

रोग उसको कहते हैं जिसका संयोग मनुष्य को दुःख दे—"तद्दुःख संयोगाव्याधय उच्चते।"–सुश्रुत। यह परिभाषा बहुत व्यापक है। इसके अंतर्गत विषय, भोजन, प्रतिकूल जलवायु और कुसंगति आदि सभी आ जाते हैं, जिन पर ऊपर कुछ लिखा जा चुका यहाँ हम कुछ आवश्यक बातों का निर्देशमात्र करेंगे।

त्रिदोष—आयुर्वेद के मत से वात, पित्त और कफ ये तीन शरीर के मुख्य धारक है। इनके बिना शरीर का होना संभव नहीं। ये सम-परिमाण में रहते हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है। इनमें से एक भी घटता-बढ़ता है तो शरीर व्याधि-ग्रस्त हो जाता है। कफ बढ़ने से कफ के अनेक रोग होते हैं और पित्त बढ़ने से रक्त के विकार, तथा वात से पेट और मस्तिष्क के। जन्म से ही मनुष्य की प्रकृति में एक न एक की प्रधानता होती है। जलवायु, आहार-विहार और मानसिक व्यतिक्रम से वे घटते-बढ़ते रहते हैं। इनमें से सबका विस्तारपूर्वक वर्णन करना यहाँ पर संभव नहीं। उदाहरण के लिये हम वात के विषय में कुछ बातों का उल्लेख करेंगे क्योंकि उसका मस्तिष्क से भी विशेष सम्बन्ध रहता है। मस्तिष्क और उससे निकली नाड़ियाँ इस वात-धातु से बनती हैं। सोचने-विचारने और संवेदना-सम्बन्धी कार्य इसी के सहारे होते हैं। शरीर के वायु-सम्बन्धी सभी कार्य शरीरस्थ वात-धातु से होते हैं।

जिनकी प्रकृति वात-प्रधान होती है, वे स्वभाव से ही आतुर-मति होते हैं, ऐसा सुश्रुत का मत है—'वातलाद्या सदातुराः।' वाग्भट के मत से वात-प्रकृति के व्यक्ति क्रोधी, चंचल, बहुवक्ता तथा संशयालु स्वभाव के होते हैं। ऐसे लोग रुक्ष, बकवादी, जागरणशील और कल्पना-प्रिय होते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण

यह है कि वृद्धावस्था में मनुष्य के शरीर में जब वाताधिक्य हो जाता है तो उसके स्वभाव में यही बातें दिखलाई पड़ती हैं।

वात-प्रकृति होने का अर्थ यह नहीं है कि जन्म से ही मनुष्य ये दुर्गुण ले आता है। होता यह है कि जब प्रकृति वातप्रधान रहती है तो किसी भी कारण से वात के कुपित होने से ये वासनायें भड़क उठती है। कोई वात-प्रकृति का न हो तो भी दुष्ट-आहार या अशुद्ध वायु-सेवन अथवा रहन-सहन की गड़बड़ी से वात-ग्रस्त हो जाता है। वैद्यक के मत से वाताधिक्य मुख्यत: इन कारणों से होता है—कड़वा, रूखा, कसैला, ठण्डा पदार्थ, सूखा शाक, साँवा-कोदों-जैसे भारी पदार्थ खाने से, अधिक उपवास, अजीर्ण भोजन, अधिक व्यायाम, मार्ग-गमन, मैथुन, चिन्ता, आघात, शारीरिक पीड़ा, रात्रि-जागरण, मल-मूत्र-शुक्र-वमन-अधोवायु-हिचकी-आँसू-उद्गार आदि को बलात् रोकने से और वर्षा-ऋतु में तथा दिन के तीसरे पहर और वायु का वेग प्रबल होने पर।

वात-प्रकोप से शरीर में शूल, श्वास और गठिया आदि तो हो ही जाते हैं, साथ ही मानसिक क्षति विशेष रूप से होती है। उसके बढ़ने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से रक्त उत्तप्त होता है और श्वास का घोर अपव्यय होता है। यही नहीं, उससे उन्माद हो जाता है। कम-से-कम सीता को इसका ज्ञान था। लंका में हनूमान को एकाएक सामने देखकर उनको विश्वास नहीं हुआ और वे सोचने लगीं कि क्या यह मेरा चित्तभ्रम है या वायु का विकार, अथवा उन्माद से उत्पन्न विकार है या मृगतृष्णा है—

> किं नु स्याच्चित्तमोहोय भवेद्वात गतिस्त्वियम्।
> उन्मादजो विकारो वा स्यादिय मृगतृष्णिका ॥—रामायण

वात के कुपित होने पर मनुष्य क्रोधान्ध और उन्मत्त होकर

प्रलाप करता, निरर्थक वाक्य बकता है—

> स्वदेह कुपिताद्वातादसम्बन्धं निरर्थक ।
> वचन यन्नरोब्रूते स प्रलाप: प्रकीर्त्तित.॥—वैद्यक निघण्टु

उस अवस्था में विचारों में अस्थिरता आ जाती है, बुद्धि मारी जाती है। क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-नाश, स्मृति-नाश से बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाश से सर्वनाश होता है। क्रोधावेश में बहुतों को क्रोध-ज्वर, बहुतों को पागलपन और बहुतों को पक्षाघात हो जाता है। क्रोधावस्था में शरीर का तापमान स्वभावतः बढ़ता है और ताप बढ़ने से वायु कुपित होती है क्योंकि वह स्वयं दहनात्मक होती है और तब मनुष्य प्रलाप करता है, जैसे ज्वर में।

क्रोधी व्यक्ति प्रायः वातुल (पागल) या पक्षाघात जैसे रोग से ग्रस्त पाये जाते हैं क्योंकि उनके ज्ञान-तंतु बार-बार उत्तेजित होकर शिथिल पड़ जाते हैं। हिन्दुओं के कर्म-विपाक शास्त्र (कर्म फलोदय) के अनुसार भी दूसरों का दिल दुखाने, सभा में अन्याय, पक्षपात तथा अकारण दोषारोपण करने वाले के लिये पक्षाघात ईश्वरीय दण्ड माना गया है। ये सब कार्य मनुष्य वात-विकार से ग्रस्त होकर ही करता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि प्रायः क्रोधालु राजाओं को प्राकृतिक कोप से नष्ट होते सुना गया है—

> "प्राय. कोपवशाराजान' प्रकृति कोपैर्हताः श्रूयन्ते ।"

यह प्राकृतिक कोप ऐसी ही आकस्मिक व्याधियाँ हैं। इससे बचने के लिये वात-विकार से बचना चाहिये। उससे बचने के आयुर्वेदोक्त उपाय ये हैं—पेट को साफ रखना, घृत-तेल का नियमित सेवन, उपवास, मधुर-अम्ल-लवण और पके द्रव्यों का हलका आहार, तेल-मर्दन, चिन्ता और भय-त्याग। मस्तिष्क

पर वायु का प्रकोप होने पर वह प्रायः भय-प्रदर्शन से ही शान्त होता है। यह प्रमाणसिद्ध है। कोई व्यक्ति जब अनर्गल प्रलाप या क्रोधावस्था में कोई अपकर्म करने लगता है तो दण्ड के भय से ही वह स्वस्थचित्त होता है। लोग कहते हैं कि होश ठिकाने आगये। यह इसलिये होता है कि वायु शमित हो जाती है। उसी को लोग बोलचाल की भाषा में कहते हैं कि जब डॉट पड़ी तो हवा खिसकने लगी। आयुर्वेदज्ञों ने इस रहस्य का पता पहले ही पा लिया था। आजकल भी नये पागलों का इलाज भय-प्रदर्शन से होता है। डाक्टर लोग उनको बिजली की करेन्ट छुआकर भय दिखलाते हैं (Electric-Shock Treatment) और इससे बहुत-से लोग चंगे हो जाते हैं।

इन सब बातों को समझकर अपने को वात-ग्रस्त होने से बचाना चाहिए। इसी तरह कफ-ग्रस्त और पित्त-ग्रस्त होने से भी। अब हम अन्य स्वास्थ्य-नाशक विषयों को लेते हैं।

विष-सेवन

विष-सेवन से हमारा अभिप्राय उन विषों से है जिनको हम व्यसनवश प्रतिदिन खाते हैं। मद्य की चर्चा हो चुकी है। दूसरा मुख्य विष तम्बाकू है। तम्बाकू के विषय में शिकागो के एक शरीर-शास्त्री ने लिखा है कि उसमें होने वाले 'निकोटीन' नामक पदार्थ में इतना विष होता है कि उसके एक औंस का $\frac{१}{४००}$ भाग यदि मनुष्य के रक्त में इन्जेक्शन द्वारा मिला दिया जाए तो वह मर जाएगा। इसका $\frac{१}{३}$ भाग प्रत्येक सिगरेट में रहता है। निकोटीन से हृदय की गति बढ़ती है; २४ घंटे में सिगरेट पीने वाले के हृदय को ३०,००० बार अधिक धड़कना पड़ता है।

"If less than four hundredth part of an ounce of Nicotine were injected into a man's blood, he

would die and there is about one-third of this quantity, in every cigarette smoked...Nicotine excites the heart to go faster. In the course of 24 hours, a smoker's heart may have to beat 30,000 extra times." Dr. Steinhans. (Chicago.)

अँग्रेजी के प्रसिद्ध काम-शास्त्र-विषयक विश्व-कोष (Encyclopaedia of Sex) में लिखा है कि तम्बाकू से काम-शक्ति घट जाती है। बहुत-से नपुंसक जब किसी औषधि से चंगे नहीं हुए तो उनसे सिगरेट का परित्याग करवा के देखा गया। परिणामतः वे पुनः पुरुषार्थ होगये। उसमें एक लोक-प्रचलित उक्ति का उल्लेख है, जिसका अर्थ है कि तम्बाकू और स्त्रियाँ परस्पर शत्रु हैं; एक के प्रति अनुराग होने से दूसरे के प्रति अनुराग नष्ट हो जाता है।

"Tobacco and women are enemies. A taste for one spoils the taste for the other."

टाल्स्टाय का अनुभव था कि तम्बाकू से विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। उनके अनुसार रूस के अधिकांश नरघातियों में सिगरेट पीने के बाद ही हत्या करने का दुस्साहस उत्पन्न होता था। निकोटीन से मुख्यतः स्मरण-शक्ति नष्ट होती है, फेफड़े भ्रष्ट होते हैं और आहार-पाचन में कष्ट होता है। तम्बाकू खाने या पीने से दाँतों की चमक जाती रहती है और मुख दुर्गन्धित हो जाता है। कम-से-कम सिगरेट एक भयंकर व्यसन है। १६१६ के विश्व-युद्ध के कामुक जीवन पर अँग्रेजी में एक प्रामाणिक ग्रंथ है—(Sexual Life During the World War.) उसमें लिखा है कि फ्रांस आदि देशों में सिगरेट का अभाव हो जाने पर वहाँ की तरुणियाँ एक-एक सिगरेट लेकर अपना सतीत्व सिगरेट-दाता को किराये पर दे देती थीं। सिगरेट से

उद्दंडता और निर्लज्जता दोनों की भावनाएँ जगती हैं।

पान को हम विषों मे ले सकते हैं। एक सीमा तक तो वह मुख-रंजक ही नहीं, कान्ति-वर्द्धक, उद्दीपक और रक्त-शोधक भी होता है। पर व्यसन बढ़ने पर यह भूख को मारता है, रक्त को रूक्ष करता है और दाँतों को निर्बल करता है। पान की जड़ में भयकर विष होता है। उसके विषय मे प्रसिद्ध है कि उसका चूर्ण फाँक लेने से स्त्रियों की गर्भ-धारण-शक्ति सदा-सर्वदा के लिये जाती रहती है। ऐसी दशा में पान खाने का कुप्रभाव कम-से-कम स्त्रियों पर तो अवश्य पड़ता होगा। ऋतु-काल मे स्त्रियों को पान खाना वैद्यक में वर्जित है। विलासिनी स्त्रियाँ पान अधिक खाती हैं। उनकी गर्भ-धारण-शक्ति पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ता होगा।

वनस्पति घी भी एक प्रकार का विष ही है। आजकल घी की जगह उसी का व्यवहार होता है। शुद्ध घी अमृत माना गया है। वह इतना विषघ्न होता है कि उससे सर्प-विष तक शमित हो जाता है। उससे आयुर्बल बढ़ता है। उसका एक संस्कृत नाम ही आयु है। पुष्टि, कान्ति, मेधा बढ़ाने में वह अप्रमेय है। वनस्पति घी उसका स्थान इन बातों में नहीं ले सकता, हलवाई की दूकान में भले ही ले ले। इस कृत्रिम घी से पाचन-शक्ति स्वयं पच जाती है, पुंसत्त्व का सत्त्व निकल जाता है और दृष्टि का धीरे-धीरे लोप हो जाता है। जीवों पर इन बातों की वैज्ञानिक परीक्षा की गई है। दो-तीन पीढ़ी के बाद उनके वंशधर नपुंसक और अंधे मिलते है।

आलस्य

आलस्य भी स्वास्थ्य-नाशक होता है क्योंकि उससे अनावश्यक स्थूलता बढ़ती है, हृदय रक्त प्रसारित करने में असमर्थ हो जाता है और शरीर में भारीपन आ जाता है। आलसी दिन भर पड़ा

रहता है, इससे उसकी आयु तीव्रता से क्षीण होती है। वैज्ञानिक परीक्षा से यह ज्ञात होता है कि खड़े या बैठे रहने पर हृदय को उतना नहीं धड़कना पड़ता, जितना कि लेटने पर।

सुप्रसिद्ध 'मेट्रोपॉलिटन बीमा कम्पनी' ने हिसाब लगाकर प्रकाशित किया है कि आत्म-हत्या का प्रधान कारण आलस्य है। आलस्य और अकर्मण्यता से ही यह प्रवृत्ति उठती है। उक्त कम्पनी की गणना के अनुसार क्षीणकाय व्यक्तियों की अपेक्षा मोटे आत्मघातियों की संख्या अधिक है।

आलस्य और स्थूलता, सरल आहार व परिश्रम से ही नष्ट होते हैं। प्रातःकाल मधु-मिश्रित या नीबू-मिश्रित पानी पीना इसमें गुण करता है। नहाने के पानी में एक नीबू निचोड़कर स्नान करने से भी लाभ होता है। उससे एक लाभ यह भी होता है कि चमड़े पर झुर्रियाँ नहीं पड़तीं और त्वचा का रंग निखरता है।

कोष्ठबद्धता

कोष्ठबद्धता के सम्बन्ध में हम ऊपर कुछ लिख चुके हैं। यह रोग रक्त को दूषित करता है और शरीर को जीते-जी सड़ाता है। ज्वर आदि का जननी-जनक यही होता है। 'आँत भारी तो माथा भारी' की उक्ति सर्वविदित है। त्रिफला-सेवन इसकी एक अच्छी औषधि है। आधुनिक उपचारों में 'एनिमा' का प्रयोग सर्वोत्तम है।

आहार-विरह

ठीक समय पर अथवा क्षुधा-भर को आहार न प्राप्त होने से भी शरीर का नाश होता है। इसको प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि भारतवर्ष में असंख्य आहार-विरही मिलते हैं जिनकी दशा से इसके कुप्रभाव का अनुमान किया जा सकता है।

इसी प्रकार कई कारणों से स्वास्थ्य-नाश होता है, जिनमें

से एक तो अस्वच्छ रहन-सहन और बाजार का गन्दा खाना है। मक्खियों से जितना नाश होता है उतना मानव-विनाश संभवतः तोप के गोलों से भी नहीं होता। दूषित जलवायु से भी स्वास्थ्य-नाश प्रत्यक्ष ही होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि जलवायु का प्रभाव शरीर पर ही नहीं, मस्तिष्क पर भी बहुत पड़ता है। उससे मनुष्य का स्वभाव ही बदल जाता है। वैज्ञानिक परीक्षा से देखा गया है कि आवश्यकता से अधिक शीत-सेवन से ज्ञान-तंतु स्वच्छन्द हो जाते हैं और स्वभाव में निर्लज्जता आ जाती है। उष्ण-जलवायु से स्वभाव में कर्कशता, झुँझलाहट, आलस्य, थकावट, बेचैनी और स्नायविक शिथिलता उत्पन्न होती है और चित्त की एकाग्रता नष्ट होती है। यह ऑक्सीजन का खेल है।

स्वास्थ्य की परीक्षा

अन्त में हमें यही कहना है कि सब बातों को ध्यान में रखकर अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिये और अपने शरीर को इतना समर्थ बनाना चाहिये कि वह औरों का नहीं तो कम-से-कम अपना बोझ स्वयं उठा सके। इसके लिए अपने त्रिमर्म—हृदय, मस्तिष्क, फेफड़े—का ध्यान रखना चाहिये. क्योंकि वे ही प्रधान शरीर-संचालक हैं। और रक्त की रक्षा करनी चाहिये क्योंकि सुश्रुत के शब्दों मे रुधिर ही शरीर का मूल है; वही शरीर को धारण करता है। वास्तव में, वही जीव है। स्नायुमंडल सुदृढ़ रखना चाहिये क्योंकि वही शरीर-जाल को बुनते है। नाना उपायों से रोज़ स्वास्थ्य की परीक्षा करनी चाहिये। उदाहरणार्थ, सिर भारी हो, जीभ गन्दी हो तो आँतों का भारीपन समझना चाहिये। अत्यधिक उत्तेजना या शिथिलता से स्नायु-दुर्बलता तथा लाल-पीले या जलनयुक्त मूत्र से अस्वास्थ्य और बिना फेन के मूत्र से पुरुषत्त्व-विनाश मानना चाहिये।

सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति

सुप्रसिद्ध नीतिकार भर्तृहरि ने लिखा है कि जिसके पास धन है, वही कुलीन है, वही पण्डित, विद्वान्, गुणज्ञ, वक्ता एवं रूपवान् माना जाता है; धन से सब गुणों को आश्रय मिलता है। वास्तव में, धन ही मनुष्यों का ऐश्वर्यदाता, सहायक, बन्धु, संकट-मोचन और अल्लादीन का चिराग़ है। उसी से जीविका चलती है, प्रतिष्ठा बढ़ती है, मनोरथों की पूर्ति होती है। अनुभवी व्यास ने सत्य ही कहा है कि धन का न होना पुरुष की मृत्यु है—'पुरुषाऽधनं वधः।'—उद्योगपर्व। नीति के इस कथन को कौन शरीर-धारी अस्वीकार करेगा कि निर्धनता ही सर्वाधिक कष्टदायिनी होती है—'सर्वकष्टा दरिद्रता।'

द्रव्योपार्जन करना मनुष्य का एक व्यक्तिगत धर्म है, क्योंकि बिना उसके जीवन की क्रिया नहीं चल सकती। इस पृथ्वी का नाम वसुमती (अर्थात् धनवाली) है। इसमें जो वसुता नहीं प्राप्त करता वह भौतिक जीवन का आनन्द नहीं पा सकता। जो वसुमत (धन-सम्पन्न) होता है वही वसुमती का भोग करता है; जो वसु-कीट (भिक्षुक) होता है, वह 'नानारत्ना वसुन्धरा' (कालिदास) में भी नरक का जीवन भोगता है। लौकिक जीवन की ऐसी ही व्यवस्था है।

धनोपार्जन एक बड़ा स्वार्थ ही नहीं, बल्कि परमार्थ भी है। वह एक श्रेष्ठ राष्ट्र-धर्म है। राष्ट्र व्यक्तियों से ही बनते हैं। अतएव व्यक्तियों की सामूहिक सम्पन्नता-विपन्नता का प्रभाव

राष्ट्र की दशा पर पड़ता है। जब देश धन-धान्य से समृद्ध रहता है तो उसकी सभ्यता एवं स्वतन्त्रता का विकास होता है; राष्ट्र शक्तिशाली होता है, समर्थ और शान्तिमय होता है। राजनैतिक परिस्थिति के ठीक पीछे आर्थिक परिस्थिति खड़ी मिलती है। युद्धों में भी सैन्यबल के पीछे राष्ट्र का धन-बल ही रीढ़ बनता है। देश की आर्थिक स्थिति ठीक न हो तो, सेनायें अधिक समय तक मैदान में खड़ी नहीं रह सकतीं। लोग जब भूखे रहते हैं तो राष्ट्र के नियम ढीले पड़ जाते है, लोक-मर्यादा टूट जाती है, विद्रोह होता है, अनाचार बढ़ता है। 'क्षीणा नराः निष्करुणा भवन्ति' का अनुभव करके ब्रिटिश गवर्नमेन्ट भारतवर्ष से उजड़ चुकी है।

सभी दृष्टियों से, धन-संचय करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। तत्त्व-ज्ञानियों का यह मत है कि धन से धर्म होता है और उससे सुख—"धनाद्धर्मं ततः सुखम्।" वैरागियों की तरह धन को पाप का मूल मानना मूर्खता है। धन पाप का बाप नहीं होता, बल्कि उसका न होना मनुष्य से पाप कराता है। पाप की खेती निर्धनता ही में पनपती है, क्योंकि तब कष्ट से उत्पन्न आँसुओं की बरसात होती रहती है। निकम्मा आदमी अपने ही साथ नहीं, देश और समाज के साथ भी अपराध करता है, क्योंकि वह स्वयं कुछ न कमाकर दूसरों के धन का उपभोग करता है और राष्ट्रीय सम्पत्ति को क्षीण करता है। जो धन-संग्रह के लिये उद्यत रहता है वह अपने पौरुष से स्वयं तथा देश-समाज का भी कुछ-न-कुछ कल्याण करता है। यही मानिये कि धन से ही लोक-जीवन का कल्याण होता है। प्रकृति यही चाहती है कि आप निर्धन न बनें। शेखसादी के शब्दों में—सूर्य-चन्द्र सब इसीलिये कार्य-मग्न हैं कि आपको खाने के लिये रोटी मिलती रहे—धन मिलता रहे।

धन-प्राप्ति के साधन

अब धन-प्राप्ति के साधनों पर विचार कीजिये। भाग्य से भी धन मिलता हुआ देखा जाता है, परन्तु भाग्य एक ऐसा बल है जिसपर किसी का स्वतन्त्र अधिकार नहीं होता। अतएव भाग्य के भरोसे अकर्मण्य बनना ठीक नहीं। तुलसी का मत है कि घर में कल्पतरु एवं कामधेनु के चित्र टाँगने से विपत्ति नाश नहीं होता—"चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह लिखे न विपति नसावै।" कौटिल्य का भी मत है कि धन, धन से ही पैदा होता है, तारे बेचारे क्या सहायता करेंगे—"अर्थोह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यति तारकाः।' हमें यही मानना चाहिए कि बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य से धन पैदा होता है और पैदा होने पर उससे उसी की वृद्धि होती है। परिश्रम पैसे का पिता है।

कार्य या परिश्रम व्यापार के रूप में भी हो सकता है और नौकरी के रूप में भी। सेवा-वृत्ति को शास्त्रों ने हेय माना है। इसमें सन्देह नहीं कि यथेच्छ धन का अर्जन और उपभोग व्यापार से ही हो सकता है।

जो सम्पत्ति का पूर्ण उपभोग करना चाहे, उसे व्यवसाय को ही धनागम का साधन बनाना चाहिये। व्यवसाय चाहे छोटा ही हो, नौकरी से अधिक फलप्रद और आशाप्रद होता है। दासता में पराधीनता रहती है, इसलिये अपने को दूसरों के अनुकूल बनाने में बड़ा कृत्रिम रूप बनाना पड़ता है।

इन बातों को ध्यान में रखिये

परिस्थिति-वश आप चाहे व्यापार करें या नौकरी, यदि आप उन्नति करना चाहते हैं तो इन बातों को ध्यान में रखिये—

१—किसी के हाथ अपने आत्माभिमान और अपनी नैतिकता को न बेचिये। चाहे आप नौकरी या व्यापार करते हों

अथवा करने निकले हों, अपने मनुष्योचित आदर्शों को न भूलिये। नैतिक पतन होते ही मनुष्यता पतित हो जाती है। ऐसा कार्य न कीजिये जो आत्मा के प्रतिकूल हो। धन से सब-कुछ खरीदा जा सकता है, परन्तु किसी भले आदमी की मान मर्यादा नहीं खरीदी जा सकती है।

२—दूसरों की दया-कृपा पर अवलम्बित न रहिये—दूसरों में हम भाग्य को भी लेते हैं। भाग्य से अच्छी नौकरी मिल सकती है, अथवा व्यापार के लिये अच्छा अवसर प्राप्त हो सकता है, पर उसके उपयोग में उसकी (भाग्य की) सहायता काम नहीं देगी। आत्म-योग्यता से ही अच्छे पद या अच्छे अवसर का लाभ लिया जा सकता है। दूसरों में हम मित्रों और बड़े आदमियों को भी लेते हैं। वे एक सीमा तक ही आप के सहायक हो सकते हैं। यदि आप में आत्म-समर्थता न होगी तो वे आपकी रीढ़ नहीं बन सकते। अंग्रेजी में एक कहावत है कि भगवान् उन्हीं को सहायता देता है जो स्वावलम्बी होते हैं—'God helps those who help themselves.' एक सुप्रसिद्ध विलायती विचारक (Sir Willam Temple) का यह अनुभवात्मक कथन इस सम्बन्ध में याद रखने योग्य है—

"A man that only translates shall never be a poet, nor a painter that only copies, nor a swimmer that swims always with bladder, so people that trust wholly on others' charity and without industry of their own will always be poor"

(भावार्थ—ऐसा व्यक्ति जो केवल ग्रन्थों का अनुवाद करता है, कभी कवि अर्थात् मेधावी नहीं हो सकता, ऐसा व्यक्ति जो केवल दूसरों के चित्रों के आधार पर चित्र बनाता है कभी

चित्रकार अर्थात् कलाकार नहीं हो सकता, ऐसा व्यक्ति जो केवल वायुगर्भित रबर की थैली के सहारे तैरता है कभी तैराक अर्थात् पारंगत नहीं हो सकता, उसी तरह जो लोग अपने व्यवसाय अर्थात् परिश्रम पर अवलम्बित न होकर केवल दूसरों की सहायता के भरोसे रहते है, वे सदैव दरिद्र अथवा द्रव्य-संकट में ही रहेंगे।)—"काकी प्रभुता नहिं घटी पर-घर गये रहीम।"

अतएव स्वावलम्बी बनिये; दूसरों का मुँह न ताकिये; दूसरों का मुँह ताकना श्वान-वृत्ति है। मुँह देखने का आनन्द तभी आता है, जब दोनों ओर से हो अर्थात् कोई आपकी उपयोगिता को देखे और आप उसकी जेब को सच्ची नजर से देखें।

३—भूलकर भी संतोष न कीजिये—साधुओं की दृष्टि में 'संतोषः परमं सुखम्' एक अच्छा सिद्धान्त हो सकता है, परन्तु सांसारिक मनुष्य के लिए संतोष करने का अर्थ है जड़ होकर बैठ जाना। जड़ता या स्थिरता कम-से-कम लक्ष्मी को प्रिय नहीं है, वे महाचंचला हैं। उनके साथ दौड़ने पर ही उनका साहचर्य प्राप्त होता है। उसी से आशा बनी रहती है और आशामय जीवन ही सबसे सुखी जीवन है। संतोषी होकर निराशावादी या निराशावादी होकर संतोषी न बनिये। इच्छा-शक्ति को प्रबल और चैतन्य रखिये।

४—भविष्य को देखिये—यदि आप में आशा की एक भी चिनगारी है तो भविष्य को देखिये क्योंकि आज के बाद का प्रत्येक क्षण आपको उसी में बिताना है। उस पर आपका कुछ अधिकार है। और वह आपके बनाने से बन भी सकता है। समय से आगे सोचने-विचारने वाला ही नेता, अग्रगामी

माना जाता है। अतएव यदि आप अपने क्षेत्र के नेता बनना चाहते है तो आज से दस वर्ष बाद का कार्यक्रम बनाकर तब चलिये; उसी तरह चलिये जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान की रेल-यात्रा करते समय आप मार्ग की सारी तैयारी करके और निश्चित स्थान का टिकट लेकर चलते हैं। भविष्य को देखिये, परन्तु अधकारमय भविष्य को नहीं।

५—समय को पकड़िये—समय सबसे बड़ा सेठ है। वह एक ऐसा सेठ है जो बड़ी-बड़ी जुल्फें रखकर चलता है और पीछे से खल्वाट है—'क्वचित् खल्वाट निर्धनः'—कोई गंजा शायद ही निर्धन मिले। सामने से पकड़ने पर ही वह पकड़ में आता है। उसके पीछे दौड़ने से अवसर हाथ से निकल जाता है और समय के पीछे रहने वाला व्यक्ति बैठकर पछताने के सिवा कुछ नहीं कर सकता। अंग्रेजी में एक कहावत है कि समय ही धन है—Time is money.

हमारे शास्त्रों मे भी महाकाल की बड़ी महिमा गाई गई है। उसका अभिप्राय यही है कि समय बड़ा बली है, उसका सम्मान करना चाहिए। सम्मान-स्वागत आगे बढ़कर ही किया जाता है। पीठ पीछे प्रायः निन्दा ही होती है। समय की बलवत्ता इससे सिद्ध होती है कि वह सबको परिवर्तित एवं व्यतीत करता है। वह आयु को भोगता है। काल-स्वामी सूर्य प्रत्येक दिन सबकी आयु का एक भाग लेकर तभी अस्त होता है। जब वह आपसे कुछ लेता है तो बुद्धिमानी इसी में है कि आप भी उससे अपनी आयु का उचित मूल्य लें, अपनी वस्तु को व्यर्थ न जाने दें।

अतएव एक-एक घण्टा और एक-एक क्षण को पकड़िये। पकड़ने का अर्थ है प्रत्येक क्षण कुछ-न-कुछ करते रहना। कुछ करते

रहने का अर्थ खुराफात करना नहीं, बल्कि कोई-न-कोई उपयोगी कार्य करना। वे क्षण ही आपके लिए मूल्यवान् हो जाएँगे। बुद्धिमान् का एक घण्टे का जीवन मूर्ख के सम्पूर्ण जीवन के बराबर माना जाता है, क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति उस एक घण्टे का उचित उपयोग करना जानता है और करता भी है। अतएव एक मिनट को भी व्यर्थ व्यतीत न होने दीजिये। आवश्यक कार्यों में 'कभी' की अपेक्षा 'अभी' को अधिक महत्त्व दीजिये। दुनिया बड़ी तेजी से भागती है; एक मिनट में वह कहीं-से-कहीं एक दूसरे वातावरण में चली जाती है। अतएव यथासंभव कामों को वादे पर न टालिये। तत्काल करने योग्य कर्मों को तत्काल कीजिये। कल का दिन अपने अनेक झंझटों को लेकर आयेगा, यही मानिये। 'शुभस्य शीघ्रम्' की नीति को अपनाइये।

स्वर्ण-संयोग की प्रतीक्षा न कीजिये। स्वर्ण-संयोग अपने आप नहीं आ सकता। उसका बीज यदि आप आज बोइयेगा तभी वह कल फला हुआ मिल सकता है। यही प्रकृति का नियम है। 'कल' का विधाता या पिता 'आज' ही निर्बल होगा तो उसका पुत्र 'कल' भी जन्म से निर्बल होगा। भविष्य के भरोसे बैठना मूर्खता है। भविष्य का थोड़ा भाग तो आपको प्रत्येक क्षण और प्रत्ये घण्टे के बाद तत्काल प्राप्त होता है। उसको अपने से दूर न मानना चाहिए और अपने लक्ष्य पर वहीं से चल पड़ना चाहिए जहाँ आप खड़े हैं। एक विद्वान् ने कहा है कि जीवन-यात्रा का मार्ग ठीक वहीं से प्रारम्भ होता है, जहाँ आप खड़े हैं।

भविष्य स्वर्ण-अवसर तभी बन सकता है जब कि आप स्वयं उसके लिये तैयार मिलें। इंग्लैण्ड के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री डिज़रायली ने कहा है कि जब अवसर आये तब उसके लिये

तैयार मिलना ही मनुष्य की सफलता का गुप्त रहस्य है—

"The secret of success for a man is to be ready fot his opportunity when it comes."—Disraeli.

यह तैयारी आज ही से शुरू करने से पूरी हो सकती है। आग लगने पर आप कुँआ खोदने दौड़ेंगे तो उससे आपका घर नहीं बच सकता। परिस्थिति के पूर्व तैयार रहने ही में बुद्धिमानी है। साधनों का संचय आज ही से करने से ठीक अवसर पर उनका उपयोग हो सकता है। अतएव दूरदर्शी बनिये। आँखें इतनी ऊँचाई पर इसीलिये रक्खी गई हैं कि मनुष्य दूर तक देख सके।

६—समय को पहचानिये—समय का सम्मान करने के साथ ही उसको पहचानने का भी अभ्यास कीजिये। समय को पहचानना या पढ़ना सरल नहीं है, क्योंकि वह सर्वदा एक-सा नहीं रहता, बदलता रहता है। पंचांग, कैलेण्डर या घड़ी के सहारे नहीं, बल्कि उसके प्रभाव के आधार पर उसकी गति को पहचानिये। कालज्ञ होना एक महान् गुण है, इसीलिये प्राचीन विद्वानों को काल-दर्शी या त्रिकाल-दर्शी कहा जाता था। समय को पहचान-कर उसके अनुसार आचरण करने वाला ही सर्व-सफल होता है। समय को, परिस्थिति को, शीघ्र पहचानने वाला ही प्रत्युत्पन्न-मति होता है। उसको ठीक पहचानकर उसके अनुकूल अपने जीवन में परिवर्तन करना चाहिये। इसका अर्थ अवसरवादी होना नहीं, बल्कि कालानुवर्त्ती बनना है। समयानुसार विचार करना, व्यवहार करना और कर्म करना, सफलता का साधक होता है। अतएव समय को पढ़िये। उसको पढ़ने का मुख्य साधन है आपका विवेक; बाह्य साधन है, अखबार। पञ्चांग से काल-ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा अखबार से प्राप्त कीजिये।

पञ्चांग पण्डितों के काम की वस्तु है; व्यवसायी और कर्मचारी की पोथी अखबार ही है।

समय को क्यों पढ़ना चाहिये, इसके मर्म को सरदार पटेल के निम्नलिखित वाक्यों से समझिये। मत्स्यराज्य का निर्माण करके सरदार ने १५ जुलाई, १९४८ को राज्योद्घाटन करते हुए यह कहा था—"आधुनिक जगत् प्राचीन जगत् से भिन्न है; पहले हर चीज़ धीरे-धीरे निश्चित गति से चलती थी इसलिये अधिक अवकाश रहता था; अब एक दिन एक शताब्दी के बराबर हो गया है; देखते-ही-देखते कितने राज्य, कितने ही साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट होकर लुप्त होगये; कौन नहीं मानेगा कि समय के पंख नहीं होते है और इसको देखते हुए समय की प्रतीक्षा में बैठना, या उसको गँवाना कौन पसन्द करेगा?"—

"The world today is different from the world of yesterday. Things could move slowly and steadily in the old world where there was more leisure and less speed. Today, one day is equal to a century. See how overnight states have fallen and empires have vanished. Who can say then that time does not fly and that we can afford to wait."

आधुनिक काल को देखिये, जिसमें आपको रहना है। इस दृष्टि से देखिये कि यह वायुयान-युग है, बैलगाड़ी-युग नहीं। अल्प समय में युक्ति या शक्ति अथवा दोनों से आप जितना अधिक कार्य कर सकेंगे, उतना ही आपका मूल्य बढ़ेगा। समय के इस बड़े विभाजन के ही नहीं, उसकी नवीन परिस्थितियों के प्रति भी सजग बनिये। संक्षेप में, सूक्ष्म-दर्शी बनिये—समय के

सम्बन्ध ही में नहीं, प्रत्येक उपयोगी वस्तु के सम्बन्ध में। देश, काल को सूक्ष्म दृष्टि से देखिये; प्रत्येक कार्य को सामयिकता और उपयोगिता की दृष्टि से देखिये।

७—मन की शक्तियों को चैतन्य रखिये—चाहे आप व्यवसायी हों अथवा कर्मचारी, अपने आत्म-विश्वास को सदैव दृढ़ रखिये; अपने को असमर्थ न मानिये। जीवन की महान् भूल वहीं होती है, जहाँ मनुष्य अपने को असमर्थ और निस्सहाय मानकर हताश हो जाता है। हार मानने की मनोवृत्ति का त्याग करके उत्साही बनिये और यह निश्चय कीजिये कि आपको सफल बनना है, कुछ करके दिखाना है। निश्चय करते ही मनुष्य में आत्म-बल आता है। अपनी कल्पना-शक्ति को दौड़ाइये परन्तु सप्रयोजन। कल्पना-शक्ति में बड़ी शक्ति है। आगे की सीढ़ी वही ढूँढ़ती है। उसके बाद विवेक का आश्रय लीजिये। वही आपकी कल्पना-द्वारा ढूँढ़ी हुई सीढ़ियों मे ठीक सीढ़ी का निर्णय कर सकेगा। अपनी स्मरण-शक्ति को सबल बनाइये—परन्तु व्यर्थ की बातों को याद रखने के लिये नहीं। विवेकपूर्वक अनुभव-सिद्ध उपयोगी बातों को ही ध्यान मे रखिये। अपने विचारों को इसका अभ्यस्त बनाइये कि वे किसी वस्तु के यथातथ्य रूप को तत्काल पहचान सकें। सफलता के लिये यथातथ्य ज्ञान, सफलता में विश्वास और उच्च कल्पना-बल—इन तीनों का आश्रय लेना आवश्यक है। और सबसे अधिक आवश्यक है—साहस।

महर्षि व्यास ने महाभारत मे लिखा है कि साहस ही में लक्ष्मी निवास करती है। भीरुता एक विनाशात्मक भावना है। जो भी बड़े-बड़े व्यवसाय आज खड़े मिलते है, वे साहस से ही खड़े किये गये थे। यदि आवश्यकता से अधिक सावधानी

का ध्यान रक्खा जाता तो एक फैक्ट्री भी खड़ी नहीं हो सकती थी। रण-क्षेत्र और व्यवसायिक क्षेत्र दोनों ही में साहस की आवश्यकता होती है, क्योंकि दोनों में सघर्ष और प्रतियोगिता की भावना रहती है। आत्म-रक्षा का विशेष ध्यान रखनेवाला व्यक्ति बहुत आगे नहीं जा सकता। यदि आप विजयी होना चाहते हैं तो बाँहें चढ़ाकर साहस के साथ कर्म-क्षेत्र में खड़े होइये, परिस्थितियो से संघर्ष कीजिये और साथ ही धैर्य-सहित जमे रहिये। साहस-धैर्य प्रायः कभी विफल नहीं होते। मन को इतना बलवान् बनाइये कि उद्देश्य की प्राप्ति तक मनोयोग ढीला न पड़े।

८—सहनशील और प्रयत्नशील बनिये—सहनशीलता धैर्य से ही आती है। उसका अर्थ यह नहीं है कि कोई आपका अपमान कर दे तो आप विष का घूँट पीकर बैठ जाएँ। उसका प्रयोजन है स्थिर-मति होकर शान्तिपूर्वक प्रत्येक बात को सुनना, समझना तथा विवाद के प्रसंग को बचाना। सहनशील होकर प्रयत्नशील होने पर कार्य निर्विघ्न रूप से समाप्त होता है।

९—व्यवहार-कुशल बनिये—व्यापार मुख्यतः व्यवहार से चलता है। उसका एक संस्कृत पर्य्यायवाची शब्द ही व्यवहार है। व्यापारी को व्यवहारक कहते है। व्यवहार में सत्य और विश्वास का सदैव ध्यान रखिये क्योंकि इन्हीं के द्वारा संसार का व्यापार चलता है। छल-कपट का व्यवहार अर्थनाशक होता है। किसी व्यवसाय की साख जम जाने पर बाद में उसका नाम ही बिकता है। साख उखड़ने पर उसका सामान बिकता नहीं, नीलाम भले ही हो जाए। साख सच्चे व्यवहार से जमती है। व्यापार में कृत्रिमता की मिलावट वहीं तक कीजिये जहाँ तक अनिवार्य है। धोखा देना लक्ष्मी को डंडे मारकर घर से

खदेड़ना है। विश्वास-पात्रता लक्ष्मी की माँ है।

व्यक्तिगत रूप से भी व्यवहार-कुशल होना अर्थ-सिद्धि का प्रथम सोपान है। व्यवहार की सौजन्यता से कौन नहीं वश में होता। लिवरपूल के एक सुप्रसिद्ध व्यापारी से किसी ने पूछा कि आपने इतना धन किस व्यापार से कमाया? उसने उत्तर दिया कि केवल एक वस्तु के व्यापार से, जिसको आप भी कर सकते हैं। वह है सौजन्य, विनम्रता। अमेरिका के धन-कुबेर रॉकफेलर ने कहा है कि व्यवहार-कुशलता उसी प्रकार एक खरीदने-योग्य वस्तु है जैसे चाय या कॉफी और मैं उस योग्यता के लिये संसार की किसी भी वस्तु से अधिक मूल्य देने को तैयार हूँ—

"The ability to deal with people is as purchaseable a commodity as sugar or coffee, and I will pay more for that ability than for any other under the Sun," —Rockfeller.

धन कमाने के लिये विद्वान् होना, उतना आवश्यक नहीं, जितना व्यवहार-कुशल।

१०—सिद्धहस्त बनिये—धन ज्ञान से नहीं, ज्ञान के प्रयोग से मिलता है। अतएव शुद्ध ज्ञानी न बनकर कर्मयोगी बनिये। संक्षेप में, योगी बनिये, ऋषि बनिये, आर्य बनिये और शाक्त बनिये—तभी धन मिल सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मन्दिर में बैठकर 'सबके दाता राम' से धन माँगिये। इन शब्दों से भड़कने की आवश्यकता नहीं है। कार्य-कुशलता को ही योग कहते हैं—"योगःकर्मसु कौशलं।" और गीता के अनुसार जीवन-धारण के लिये शारीरिक व्यापार का नाम कर्म है। योग कोई जादू नहीं है। ऋषि 'ऋष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है गति, और व्याकरण-पण्डितों के मत से गति का अर्थ है ज्ञान,

गमन और प्राप्ति। आर्य भी 'ऋ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है गति। जिसके द्वारा कर्म सम्पन्न हो—योग्यता, सामर्थ्य—वही शक्ति है। उसकी साधना करने वाला शाक्त है।

कार्य-द्वारा ही ज्ञान और शक्ति का विज्ञापन हो सकता है और कम-से-कम इस विज्ञापन के युग में उसी से धन प्राप्त हो सकता है। अतएव केवल ज्ञान-श्रेष्ठता पर विश्वास करके न बैठिये। योजनानुसार हाथों को चलाइये और विद्वान् व्यास के इस नीति-वाक्य को ध्यान में रखिये कि कामकाजी आदमी बलवान् और धनवान् होता है, इसमें सन्देह नहीं—"पाणिवन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः।"

११—रुचि और योगता के अनुकूल लगन से कार्य कीजिये—पहली बात तो यह है कि आप ऐसे व्यवसाय को ही यथासंभव चुनिये जो आपकी रुचि और योग्यता के अनुकूल हो। ऐसा न होगा तो आप उस व्यक्ति की तरह प्रतीत होंगे जो मंगनी का ढीला-ढाला कोट पहनकर मेला देखने जाता है। अतएव अपने नाप का ही कपड़ा पहनिये। दूसरे, जिस कार्य को कीजिये लगन, एकाग्रता और अध्यवसाय से कीजिये। समुद्र में डुबकी लगाने से जिस प्रकार मोती मिलता है, उसी प्रकार काम में डूबने या लीन होने से धन मिलता है। प्रत्येक कार्य को करते समय सुरुचि-सम्पन्नता का ध्यान रखिये। मनुष्य स्वभाव से ही सौन्दर्य-प्रेमी होता है।

सुरुचि और तन्मयता से किया हुआ प्रत्येक कार्य प्रशंसनीय, सफल एवं धनद होता है। तन्मयता में आप एडिसन का आदर्श सामने रखिये। एडिसन ने अपने ७० वर्ष के जीवन में १५०० नये आविष्कारों को पेटेन्ट कराया था। वह एक ही धुन में लगा रहता था और किसी सभा-सोसायटी या कमेटी में भाग

नहीं लेता था। लक्षपति होने पर भी वह धन-प्रतिष्ठा की चिन्ता नहीं करता था, यद्यपि दोनों उसके पीछे दौड़ते थे। समस्याओं को हल करना ही उसका व्यसन था और उसके पीछे वह एकाग्रचित्त होकर अनवरत उद्यम करता था। परिणाम सर्व-विदित है। निरन्तर उद्योगी मनुष्य सब कुछ कर सकता है। और काम करने वाले से काम स्वयं डरकर सरल हो जाता है—ऐसा उद्योगशील रूसियों का कहना है—'Job fears the craftsman.'

१२—गुण-संग्रह कीजिये और असाधारण बनिये—यदि आप निर्धन होकर भी गुणी हैं तो कोई-न-कोई गुण-ग्राहक आपको मिल ही जाएगा। ईश्वर भी सगुण होने पर, चाहे वह राम-कृष्ण के रूप मे हो अथवा ईसा-मुहम्मद के रूप में अधिक लोक-वन्दित होता है, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है! गुणों का संग्रह सदैव लाभ-प्रद होता है। गुण ही रुपये का जन्म-स्थान है। नये गुणों का संग्रह कीजिये और किसी एक विषय के विशेषज्ञ बनिये, तभी आप सर्व-साधारण से ऊँचे गिने जाएँगे और आकर्षण के केन्द्र होंगे। किसी कार्य में दक्ष होने से जीविका का भय नहीं रहता। आत्मसंबल, योग्यता और अभ्यास—यही लक्ष्मी-मंदिर के सिद्ध सोपान हैं।

१३—सेवा-भाव को अपनाइये—आप किसी भी स्थिति में हों, सेवा द्वारा दूसरों को वश में करके उनसे लाभ ले सकते हैं। समाज में सेवा का मूल्य अवश्य मिलता है। सेवा से मनुष्य की उपयोगिता सिद्ध होती है और उसी के अनुसार प्रधानता मिलती है। शुक्राचार्य ने लिखा है कि समय पर यथोचित सेवा करने से अप्रधान भी प्रधान हो जाता है और सेवा में आलस्य करने या चूक जाने से प्रधान भी अप्रधान हो जाता है—

अप्रधानः प्रधानः स्यात्कालेऽत्यन्त सेवनात् ।
प्रधानोऽप्यप्रधान. स्यात्सेवालस्यादिनायतः ।।" शुक्र-नीति

यदि आप स्वतंत्र व्यापारी हैं तो भी सेवा-भाव को न त्यागिये। हेनरी फ़ोर्ड ने एक भाषण में कहा था कि इस युग के वड़े-वड़े व्यवसायी जनता के सेवक (Public Servant) ही होकर रह सकते हैं; क्योंकि जनता जब उनकी चीज़ों की क़द्र करेगी तभी बाज़ार में उनकी खपत होगी; जनता ही मालिक बनकर उनको पैसे देती है। अब वह युग बीतता जा रहा है जबकि लोग अर्थ-पिशाच बनकर जनता का रक्त चूस सकते थे। जनता की संरक्षता में ही अब व्यापार का विकास हो सकता है। यदि आप नौकरी करते हैं तब तो सेवा ही आपकी पूँजी है।

१४—अर्थ-शुद्धि को धर्म मानिये—प्राचीन शास्त्रकारों के मत से अर्थ-शुद्धि ही प्रधान शुद्धि है। पैसे के विषय मे निष्कलंक रहना सचमुच बड़ा कठिन है। चोरी न करना ही अर्थ-शुद्धि के अन्तर्गत नहीं आता। उसका अर्थ है, धन का दुरुपयोग न करना, लोभ न करना, काम-चोरी न करना और अनुचित साधनों से धन-संग्रह करने का प्रयत्न न करना। अर्थ-शुद्धि न होने से धन कभी ठहरता नहीं, इसको सत्य मानिये। धन के सम्बन्ध में जो साफ़-सुथरे नहीं होते, वे प्रायः धन-दास होते हैं; धन-स्वामी नहीं। इसकी परीक्षा आप इसी से कर लीजिये कि कोई चोर, डाकू या रिश्वती थानेदार अपने पाप-अर्जित धन को भोगता हुआ नहीं मिलता।

१५—आसन के बली बनिये—स्थान-बल एक बड़ा बल है। इसको इसी से समझिये कि जब तक बाल आपके सिर पर रहते हैं तब तक आप उनको सँवारते हैं, तेल लगाते है, उनसे

अपनी सौन्दर्य-वृद्धि करते हैं। यही नहीं, बाप बच्चों के सिर सूँघते हैं। वही बाल जब काट डाले जाते है तो अशुद्ध और गन्दे मानकर फेंक दिये जाते है। यही दशा मनुष्य की है। जब तक वह किसी पद पर, गद्दी पर, कुर्सी पर बैठा रहता है, तब तक उसकी एक मर्यादा बनी रहती है, उसकी कद्र होती है। स्थान-रिक्त होते ही उसकी महिमा घट जाती है। इसलिये शास्त्रों का यह उपदेश है कि स्थान का त्याग मत करो—'संस्थानं न त्यजेत् ।' महाभारतकार ने लिखा है कि एक पैर को जमाकर तभी बुद्धिमान लोग दूसरे पैर को आगे बढ़ाते है; आगे के स्थान की परीक्षा किये बिना वे पहले के स्थान को नहीं त्यागते—

तिष्ठत्येकेन पादेन चलत्येकेन पंडितः ।
न परीक्ष्य पर स्थान पूर्वमायतन त्यजेत् ।।—व्यास

१६—भव-सागर का मंथन कीजिये—इसको व्यावहारिक दृष्टि से सत्य मानिये कि विष्णु-जैसे सर्वशक्तिमान् को भी समुद्र-मन्थन से ही लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी। परिश्रम के बिना अर्थ-प्राप्ति नहीं हो सकती। शास्त्र में लिखा है कि धन की कामना अग्नि से करनी चाहिये—'धनमिच्छेत् हुताशनात् ।' अग्नि को धनदायी और धनजय कहते भी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हाथ जोड़कर अंगीठी के सामने बैठिये तो धन बरसने लगेगा। अर्थ स्पष्ट है। देखिये तो पता चलेगा कि कितने ही धन-प्रवर्द्धक कर्म अग्नि की सहायता से होते है। दूसरा अर्थ यह है कि शरीर की अग्नि अर्थात् परिश्रम की अग्नि उद्दीप्त होने से ही धन की प्राप्ति होती है। पैसे में गरमी होती है, यही एक प्रमाण है कि उसमें अग्नि होती है। शब्दों पर न जाइये, भाव को देखिये। पसीना बहाने से जो पैसा मिलता

है, वही पचता है। बिना पसीना बहाए हुए प्राप्त पैसे की गरमी असह्य हो जाती है, उससे दिमाग में चक्कर आता है। साररूप मे यही समझिये कि बिना द्रवित हुए द्रव्य नहीं मिलता। अतएव मन से द्रवित—विनम्र—बनिये और शरीर से श्रम-जल द्रवित कीजिये। परिश्रम से मनुष्य की श्री बढ़ती है; श्री ही नहीं उससे सहयोगिता की भावना भी बढ़ती है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि परिश्रमी लोग कम संघर्ष, कलह करते हैं। कलह के मूल बुद्धि-व्यसनी और अकर्मण्य लोग होते हैं। अतएव परिश्रमी व्यक्ति समाज-सुधारक भी होता है। यही गौरव क्या कम है!

आवश्यकता से अधिक विश्राम न कीजिये, क्योंकि वह श्रम-शक्ति का नाशक होता है। एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि अमेरिका के नगर जो इतने धन-सम्पन्न लगते हैं उसका कारण यह है कि वहाँ बैठने का कोई स्थान नहीं है—"The reason American cities are prosperous is that there is no place to sit down." इस कथन की यथार्थता को समझने के लिये इस देश के किसी ऐसे दो नगरों की तुलना कर लीजिये जिनमें से एक व्यवसाय का केन्द्र हो और दूसरा सैर-सपाटे का स्थान हो। हमारे कहने का अभिप्राय यही है कि कर्म-क्षेत्र में खड़े रहने से सम्पन्नता बढ़ती है।

१७—कार्य-सिद्धि को महत्त्व दीजिये—कार्य की कठि-नाइयों, विघ्न-बाधाओं को विशेष महत्त्व न दीजिये। शुरू करते समय साधारण कार्य भी कठिन लगता है, क्योंकि सहजसाध्य कुछ भी नहीं है और हल हो जाने पर बड़ी-बड़ी समस्याएँ भी सरल लगती हैं। दो जर्मन कहावतें हैं—एक का अर्थ है कि हर-एक कार्य का आरम्भ कठिन होता है—All beginning is

difficult.—दूसरी का अर्थ यह है कि समस्या हल हो जाने पर सरल लगती है—The problem when solved becomes simple. इनको ध्यान में रखिये। संसार में सफलता ही मान्य होती है—चाहे वह पेड़ की हो, चाहे कार्य की, चाहे मनुष्य की। अतएव सफल होने की चेष्टा कीजिये। यदि किसी कार्य में आपके अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति कभी सफल हो चुका है तो आप भी अवश्य सफल होंगे—यदि उद्योग करे तो। 'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान !'

१८—दैनिक आय-व्यय का चिन्तन कीजिये—जीवन के अन्त में अथवा साल के अन्त में हिसाब-किताब मिलाने की आदत न डालिये। रोज़ देखिये कि आय कितनी है, कैसे बढ़ सकती है; व्यय कितना है; कैसे घट सकता है। प्रातःकाल इस पर विचार करके अपना कार्यक्रम बनाइये और उस योजना के अनुसार दिनभर कार्य करके सन्ध्या में देखिये कि आप लाभ में है या हानि में। अपनी परिस्थिति को रोज तौलिये। आपकी कमाई का वही हिस्सा अधिक मूल्यवान् है जो उचित व्यय के बाद बैंक में पहुँचता है। आपत्ति के समय वही काम आता है और शास्त्र का वचन है कि आपत्ति के लिए धन की रक्षा करनी चाहिये—'आपदर्थे धन रक्षेत्।' यदि आपके पास पैसा हो तो बचाना सीखिये और न हो तो कमाकर बचाना सीखिये। यह तभी संभव है जब आप रोज इस प्रश्न पर विचार करें। इस सम्बन्ध में चाणक्य मुनि का यह श्लोक ध्यान में रखने योग्य है—

क कालः कानि मित्राणि को देशः को व्यायागमौ।
को वाह का च मे शक्ति इति चिन्त्य मुहुर्मुहु ॥

(कैसा समय है, कौन-कोन सहायक है, कैसा देश है, आय-

व्यय कितना है, मैं कौन हूँ, मुझमें कितनी सामर्थ्य-शक्ति है—इनका चिन्तन बार-बार करना चाहिए।)

१६——लेन-देन में सावधान रहिये—शुक्राचार्य ने लिखा है कि धन का देना मित्रता का कारण होता है, परन्तु वापस लेना शत्रुता का—

धन मैत्रीकर दाने चादाने शत्रुकारक ।।"

[ऋण के लेन-देन में यही होता है। 'उधार दीजे, दुश्मन कीजे' की लोकोक्ति बहुत प्रसिद्ध ही नहीं, बहुत भोगी हुई भी है। अतएव यथासंभव न तो ऋण दीजिये और न लीजिये। ऋण लेते ही तुलसी की यह उक्ति—'आब गया, आदर गया, नैनन गया सनेह'—पूर्णतया चरितार्थ होती है।

२०—दान से धन की वृद्धि होती है—यह एक अलौकिक किन्तु प्राचीन काल से बहुतो-द्वारा परीक्षित सत्य है कि दान से धन बढ़ता है। आपकी आय कितनी भी कम हो परन्तु यदि आप उसमें से कुछ सुपात्र को दे दें तो उससे पुण्य का नहीं तो कम-से-कम आत्म-बल का संचय अवश्य होता है और मन में यह भावना उठती है कि पैसे से कुछ धर्मार्थ हुआ; दूसरे, लोक-प्रतिष्ठा मिलती है। बड़े पैमाने पर देखिये तो ज्ञात होगा कि दान-द्वारा प्रकारान्तर से आर्थिक लाभ होता है। बिड़ला को लीजिये जो दान के लिये प्रसिद्ध है। दान से बिड़ला के नाम का जो विज्ञापन होता है, उससे जनता में उनके व्यापार के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। यह अनुराग और यश वे कोरा विज्ञापन करके नहीं कमा सकते थे। उनकी बहुत-सी वस्तुएँ तो बिड़ला नाम की लोकप्रियता के कारण बिकती है।

२१—धनी का भेस न बनाइये—अर्थात् अवध के ताल्लुकदारों की तरह रईसी का मिथ्या-विज्ञापन मत कीजिये। जैसी

आपकी आर्थिक स्थिति है, उसी के अनुसार अपनी रहन-सहन बनाइये।

२२—बनिये की तरह बनिये—धन कमाना है तो पंडित की तरह ज्ञानी और भावुक तथा ठाकुर की तरह अक्खड़ न बनकर, बनिये की तरह सरल, मधुर, सावधान और 'अर्थकरी विद्या' के जानकार बनिये। दार्शनिक बुद्धि अथवा धनुर्वेद के ज्ञान से नहीं बल्कि वणिक्-बुद्धि से ही रुपया आता है। बनिया एक-एक पैसे को जिस प्रकार पकड़ता है, उसी प्रकार पकड़िये। देशी बनिया बनना न पसन्द हो तो अँग्रेज बनिये की तरह बनिये जो 'सात समुन्दर पार' भारतवर्ष में आकर व्यवसाय करते-करते बनिये से राजा बन गया था।

२३—इन पाँच नीति-वाक्यों को ध्यान में रखिये—

(१)

श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति प्रागल्भ्यात्सम्प्रवर्धते।

दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात्प्रतितिष्ठिति ॥"—विदुर

भावार्थ—धन उत्तम कर्मों से उत्पन्न होता है, प्रगल्भता (साहस, योग्यता, कीर्ति, वेग, दृढ़ निश्चय) से बढ़ता है, चतुराई से फूलता-फलता है और संयम से सुरक्षित होता है।

(२)

यथा मधुमादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पद।

तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥—विदुर

भावार्थ—जैसे भौंरा बिना पुष्प को नष्ट किये उसमें से मधु ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी धन के मूल साधन को नष्ट किये बिना उसमें से धन ग्रहण करना चाहिये।

(३)

कारणात् प्रियतामेति द्वेषो भवति कारणात्।

अर्थार्थी जीवलोकोयं न कश्चित्कस्यचित्प्रिय॰ ॥—महाभारत

कारण से ही लोगों में प्रीति और कारण से ही द्वेष की उत्पत्ति होती है; अर्थार्थी संसार में कोई (निष्प्रयोजन) किसी का प्रिय नहीं है।

(४)

ससारयति कृत्यानि, सर्वत्र विचिकित्सते।
चिर करोति क्षिप्रार्थे, समूढो भरतर्षभ ॥—महाभारत

भावार्थ—जो कार्य को लम्बा बना दे, सब पर संदेह करे, शीघ्रता के कार्य मे देर लगाये, वही मूढ़ कहा जाता है।

(५)

कार्ये कर्मणि निर्दिष्टे यो बहून्यपि साधयेत।
पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यकर्तुमर्हति ॥
नह्येक: साधको हेतु स्वल्पस्यापीह कर्मण:।
योह्यर्थं बहुधा वेद स समर्थोर्थसाधने ॥—रामायण

भावार्थ—[लंका में हनूमान की उक्ति] कर्त्तव्य-कर्म के पूरा हो जाने पर उससे अविरुद्ध अन्य कार्यों को भी जो साधता है, वही अच्छा कार्यकर्त्ता है। जो अर्थ सिद्धि करने के बहुत-से उपाय जानता है, वही अर्थ के साधन में समर्थ हो सकता है।

ऊपर के श्लोकों पर विशेष रूप से कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, यह समझ लेना चाहिये कि अर्थ का अभिप्राय यहाँ कार्य से है। कार्य की सफलता के मूल्य-स्वरूप धन या मान ही मिलते हैं।

उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुए, अब हमें कुछ ऐसी अन्य आवश्यक बातों पर भी विचार करना चाहिये जो भिन्न-भिन्न उपायों से द्रव्योपार्जन करने वालों के काम की है।

१—यदि आप व्यापारी या व्यापार-प्रेमी हैं

व्यापार के लिये या तो पूँजी और परिश्रम की आवश्यकता होती है, अथवा योग्यता और परिश्रम की।

पूँजी, परिश्रम और योग्यता

यदि आपके पास पूँजी है तो देखिये कि किस काम में उसको लगाने से वह फलित होगी। रचनात्मक बुद्धि से विचार कीजिये। लोगों की आवश्यकता और रुचि को देखिये। आशा, विश्वास, उत्साह को जाग्रत करके अपनी इच्छाओं को क्रियात्मक रूप दीजिये और मूलधन के साथ अपने तथा दूसरों के परिश्रम को संयुक्त कीजिए। यदि पूँजी नहीं है तो योग्यता से आप दूसरों द्वारा धन लगवा-कर स्वयं अपने परिश्रम से व्यापारी बनने का उद्योग कीजिये। बड़ी पूँजी है तो यंत्रों का साधन लीजिये; थोड़ी पूँजी या योग्यता का ही सम्बल हो तो घरेलू उद्योग-धंधों को अपनाइये और क्रमशः बढ़िए। गांधीजी के इस उपदेश को याद रखिये कि तुम बढ़ना चाहते हो तो नीचे से शुरू करो—"If you want to start, start from below."

फौजी काम और व्यापारिक कार्य-प्रणाली में बहुत-कुछ समता होती है। एक को हिंसात्मक युद्ध कह सकते हैं तो दूसरे को अहिंसात्मक।

प्रतियोगिता के लिये तैयार रहिये

फौज से देश पर अधिकार प्राप्त किया जाता है, व्यापार से बाजार पर। दोनों में संगठन, अनुशासन और कौशल की आवश्यकता पड़ती है। फौजें बैंड बजाती हुई आगे मार्च करती हैं और व्यापार विज्ञापन करता हुआ बढ़ता है। जिस प्रकार आमने-सामने की दो फौजों में प्रतियोगिता होती है, उसी प्रकार दो व्यापारों में भी होती है। अवसर का उपयोग भी दोनों में

समान रूप से होता है। फ़ौज के भिन्न-भिन्न अंग जैसे एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिये परस्पर सहयोग करते हैं, वैसे ही व्यापार के भिन्न-भिन्न विभाग परस्पर सहयोग करते हुए एक लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं।

इन बातों को समझते हुए आप सैनिक उत्साह के साथ व्यापार में पड़िये। नये ढंग के अस्त्रों से जैसे विजय-सिद्धि होती है, वैसे ही नई वस्तुओं के आविष्कार, आकर्षक तथा उपयोगी वस्तुओं के निर्माण से अर्थ-सिद्धि होती है। नई सूझ के साथ समय पर सबसे पहले नई वस्तु निर्माण करके और नये ढंग से विज्ञापन करके ही उसका प्रचार बढ़ाया जा सकता है। इसे याद रखिये कि यह 'प्रोपेगैण्डा' (प्रचार) का युग है। प्रोपेगैण्डा का मूल रहस्य है, पुनरुक्ति। बार-बार एक ही बात को प्रकाशित करने से वह लोगों के मन में बैठ जाती है। अपनी एक विशिष्ट वस्तु रखिये और उसी को सर्वोत्तम प्रमाणित करने की बार-बार चेष्टा कीजिये। अपनी सभी वस्तुओं को सर्वोत्तम बनाने या बताने की यदि आप चेष्टा करेंगे तो असफल होंगे। एक ही वस्तु को विशिष्ट बनाकर उसी के प्रचार पर अपनी शक्तियों को केन्द्रित कीजिये। उसी के पीछे अन्य वस्तुएँ भी चलेंगी जैसे गाँधीजी की देश-सेवा के पीछे समस्त लोक-सम्मतियाँ। उनके निर्माण की अपेक्षा उनके विक्रय पर अधिक ध्यान दीजिये। रुपया उसी से आता है।

व्यापार लोकप्रियता से बढता है

अपने व्यापार को व्यापक बनाने के लिये जनता की सहानुभूति प्राप्त कीजिये। उसके लिये सर्वप्रथम तो जनता की माँग का ध्यान रखिये। माँग के अनुसार वस्तुएँ देकर उनके मूल्य के बहाने जनता को लूटने का प्रयास न कीजिये। जनता तभी संतुष्ट होती है जब वह समझती है कि

उसको उसके पैसे से अधिक मूल्यवान् वस्तु मिली है अथवा मूल्य के अनुसार ठीक वस्तु मिली है। इसलिये थोड़ा त्याग कीजिये। दूसरों को जितनी छूट आप देंगे, उतना ही लाभ आपको मिलेगा। यदि लोगों से आप कम-से-कम लाभ लेंगे तो उनका पैसा बचेगा और वह पैसा प्रकारान्तर से फिर आप ही के पास पहुँचेगा। एक बार संतुष्ट होकर वे आपके स्थायी ग्राहक बन जायँगे। थोड़े लाभ के साथ अधिक बिक्री कैसे हो सकती है, इसीको ध्यान में रखिये। स्थायी लाभ के लिये क्षणिक लोभ का त्याग करना अत्यावश्यक है।

सब वस्तुओ मे उपयोगिता

किसी भी वस्तु को उपयोगी बनाया जा सकता है। यदि आप लोगों की सामयिक आवश्यकताओं और रुचियों को यथासमय ही भाँपकर उनके अनुकूल व्यापार करें तो किसी भी वस्तु का उपयोग कर सकते हैं। गत युद्ध मे जब वस्तु-संकट था तो चतुर लोगों ने छोटी-छोटी वस्तुओं को भी उपयोगी बनाकर काफी रुपये कमाये थे। जॉन ट्रैल नाम के एक व्यक्ति ने युद्ध छिड़ते ही हज़ारों रुपये के पुराने कागज़ खरीद लिये थे क्योंकि उसने समझ लिया था कि शीघ्र ही कागज़ न मिलने से पुड़ियों और कागजी थैलियों के लिये उनकी आवश्यकता होगी। परिणामतः युद्ध मे उसने उन्हीं अखबारी कागजों से लाखों रुपये कमाये। इसी तरह आलपीन की कमी को देखकर कुछ लोगों ने बबूल के काँटों का व्यवसाय कर लिया था। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। उक्त जॉन ट्रैल का मत है कि प्रत्येक पदार्थ से रुपया निकल सकता है, यदि आपको यह ज्ञात हो कि किसको उसकी आवश्यकता है।

"Everything is worth money if you know who wants it."
—John Traille.

व्यापारी अवसर का उपयोग इसी प्रकार करता है। अँग्रेजी में एक कहावत है कि जो आगा-पीछा करता है वह चूक जाता है—"He who hesitates is lost". विचार दृढ़ करके जो भी 'हथियार' मिले उसको लेकर मैदान में कूद पड़ना चाहिये।

प्रबन्ध

प्रबन्ध के सम्बन्ध में ऊपर भी बहुत-कुछ कहा जा चुका है। कार्यालय के भीतरी प्रबन्ध के सम्बन्ध में कुछ और बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक व्यापार का एक निश्चित कार्यक्रम होता है, एक सुसंगठित कार्य-प्रणाली होती है। उसमें अस्त-व्यस्तता होने से एकसूत्रता नहीं रहती। संघ-शक्ति की दृढ़ता से ही सदा सफलता होती है। बड़े व्यापार को विभागों में बाँटकर योग्य व्यक्तियों को उत्तरदायित्व देना चाहिये और उनपर विश्वास भी करना चाहिये। कार्य-कुशल उपाध्यक्ष ही परिश्रमी लोगों से काम ले सकते हैं और प्रबन्धक की योग्यता इसी में मानी जाती है कि वह तीन आदमियों से पूरे तीन आदमियों का काम ले सके।

कर्मचारियों के साथ सद्व्यवहार रखने से ही उनका पूर्ण सहयोग मिल सकता है। उनको झूठी आशा में न रखकर योग्यता और परिश्रम के अनुसार सम्मानपूर्वक वेतन देना चाहिये। उनपर यह न प्रकट होने देना चाहिये कि उनके साथ आप कोई मेहरबानी कर रहे हैं। वेतन में अनावश्यक काट-कपट न करके यथासम्भव पुरस्कार देकर सबको उत्साहित करना चाहिये। छोटे व्यापार में अधिक विभाजन न करना ही ठीक होता है। प्रत्येक दशा में कर्मचारियों में यह भाव भरना चाहिये कि वह उनका अपना काम है और यदि उनके द्वारा प्रस्तुत की हुई वस्तुओं का अच्छा आदर होगा तो लाभ में उनको भी हिस्सा

मिलेगा। जहाँ पैसे के लिये ही सब एकत्रित होते हैं, वहाँ पैसे से ही सब सन्तुष्ट हो सकते है। छोटे-से-छोटे व्यक्ति को उपयुक्त कार्य मे लगाकर और उसको संतुष्ट बनाकर उससे लाभ लिया जा सकता है। व्यापार उसी प्रकार सहयोग से व्यवस्थित होता है, जैसे दोनों हाथों की उँगलियों से गाँठ बँधती है।

कम से-कम लागत से अधिक वस्तु निर्माण करना और अपव्यय को रोकना, यह भी प्रबन्ध-कुशलता का प्रधान अंग है। सभी वस्तुओं का कहीं-न-कहीं उपयोग करके उनकी व्यर्थता को बचाया जा सकता है।

प्रबन्ध ही के अंतर्गत हिसाब-किताब और पत्र-व्यवहार को ले सकते है। आपका हिसाब-किताब ही आपके व्यापार का दर्पण है, इसको न भूलिये। उसका सुव्यवस्थित रहना और ठीक रहना नितान्त आवश्यक है। पत्र-व्यवहार तो व्यापार की जान है। पत्रों में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वे स्पष्ट, सरल और यथार्थता से पूर्ण हों। व्यापार में भावुकता का स्थान कहीं भी नहीं है, चाहे पत्र-व्यवहार हो या बातचीत का प्रसंग हो, इस बात का ध्यान रखिये कि कम शब्द और अधिक काम—यही व्यापारिक क्षेत्र का सर्वमान्य सिद्धान्त है। व्यापार मे उन्हीं विचारों का मान होता है जो तर्कसम्मत और सार्थक हों।

मुनि की तरह ध्यान लगाइये

यदि आप व्यापार खोलकर बैठे है तो दूरदर्शी बनिये, तत्काल लाभ की आशा न कीजिये; मुनि की तरह आशा-विश्वास के साथ धन की प्रतीक्षा कीजिये, साधना कीजिये। छाती कड़ी करके बैठिये, बड़े-बड़े आघात पड़ सकते है। जो भी बड़े व्यापरी इस समय है वे यों-ही नहीं बाजार मे खड़े है। भव-सागर की बड़ी-बड़ी लहरें उनसे रोज टकराती हैं, परन्तु

वे अपने आसन से डिगते नहीं। जो जितना बड़ा होता है उसको समय के उतने ही प्रबल धक्के लगते हैं। निरन्तर उद्योग से ही पैसे की धारा अखंड बनती है और यही व्यवसाय का प्रयोजन है। यदि आप एक बार भी परिस्थितियों से हार मानकर बैठ गये तो वे बड़ी निर्दयता से सपरिवार आपके ऊपर हमला करेंगी क्योंकि उनकी-आपकी शत्रुता तो प्रतिदिन चलती है।

राष्ट्र-सम्पत्ति की वृद्धि कीजिये

व्यापार से राष्ट्र-सम्पत्ति की वृद्धि कीजिये—व्यापार-द्वारा जो सबसे बड़ा सार्वजनिक कार्य होता है वह यह है कि उससे देश-सेवा उच्चस्तर पर हो सकती है। इस बात को ध्यान में रखिये कि वस्तुओं के बदले बाहर से जो रुपया देश में पहुँचता है, उसीसे राष्ट्रीय धन की वृद्धि होती है। अतएव ऐसी वस्तुएँ तैयार कीजिये जो विदेशों में बिक सकें। साथ ही, ऐसी वस्तुएँ तैयार कीजिये जिनकी यहाँ माँग हो और जो विदेशों से यहाँ आती हों। इस तरह राष्ट्र का धन सुरक्षित रहेगा।

२—यदि आप अधिकारी हैं

यदि आप किसी व्यापारिक संस्था अथवा किसी सरकारी पद के अधिकारी हैं तो इन बातों का ध्यान में रखिये—

नेतृत्व कीजिये

अधिकारी में एक नेता के सभी गुण होने चाहिये। आतंक-बल से नहीं बल्कि अपनी योग्यता, अपने साहस और अपनी कार्य-कुशलता से लोगों को प्रभावित करके वशीभूत कीजिये, उनकी सहानुभूति प्राप्त कीजिये। विचारपूर्वक एक योजना बनाकर स्वयं उसके अनुसार कार्य करने की जिसमें क्षमता होती है वही दूसरों का

नायकत्त्व कर सकता है। अतएव स्थिरमति से एक लक्ष्य बनाइये और दृढ़तापूर्वक उसी ओर चलिये। लोग उसी के पीछे चलते हैं, जिसके सम्बन्ध मे वे यह जानते हैं कि वह एक निश्चित दिशा में जा रहा है और उस दिशा में जाना मंगलमय है। पहले सबको अपना विचारानुगामी बनाइये, इसके बाद वे स्वतः आपके पदानुगामी होंगे। इसी प्रकार उनका सहयोग प्राप्त होगा। अनुभवशून्यता और शक्तिहीनता का परिचय कहीं न दीजिये। हलकेपन और आत्म-हीनता का परिचय न दीजिये।

निष्पक्ष और विश्वासपात्र बनिये

आपके प्रति आपके आश्रितगण अपना विश्वास तभी दिखलायेंगे, जब कि आप पक्षपात-रहित होंगे, न्याय मे कठोर और दृढ़ होंगे तथा सहज स्वभाव से सच्चे होंगे। लोगों पर आपकी न्याय-परायणता, कर्त्तव्यनिष्ठा और बुद्धिमत्ता का प्रभाव पड़ना चाहिये। कुरसी पर बैठ जाने से ही आप सब के हृदय-सिंहासन पर नहीं बैठ सकते।

गम्भीर, शान्त और रहस्यमय बनिये

काम में, प्रबन्ध में और कर्मचारियों के साथ व्यवहार में यथासंभव गंभीर और अविचल बनिये। मौन रहने से अधिकार-बल बढ़ता है। एक फ्रेंच विचारक (Andre Mauris) ने अपने एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ (The Art of Living) मे लिखा है कि अधिकारी को इतना गंभीर रहना चाहिये कि एक हद तक उसके आश्रितो को उसका व्यक्तित्व रहस्यमय प्रतीत हो। जब तक घनिष्ठता नहीं होती तब तक दूर वाला व्यक्ति उच्च पदाधिकारियों को विलक्षण, अलौकिक समझता है और उनकी सत्ता को स्वीकार करता है। निकट होने पर वह 'घर की मुर्गी साग बराबर' की उक्ति चरितार्थ करता है। 'अति

परिचय ते होत है अरुचि अनादर भाय।' वृन्द

गंभीर होने का यही अर्थ नहीं कि अधिकारी चुपचाप गौतम बुद्ध की मूर्ति बना रहे। उसका अर्थ यह है कि वह उच्छृंखल न हो, कान का कच्चा न हो, वाचाल न हो, रसिया न हो और भावुक भी न हो। जो व्यक्ति चंचल स्वभाव का होता है और क्षण-क्षण पर प्रसन्न-अप्रसन्न होता रहता है, उसकी प्रसन्नता को भी लोग भयंकर मानते हैं—

> क्वचिद्रुष्टः क्वचित्तुष्टः रुष्टस्तुष्टः क्षणेक्षणे।
> अव्यवस्थित चित्तस्य प्रसादोऽपि भयंकरः॥

कर्त्तव्य-पालन ही में कठोर बनिये; स्वभाव और बातचीत से

स्वभाव और वाणी से सरल रहिये

अपनी उद्दण्डता न प्रकट कीजिये। वेदकालीन ऋषि-मुनि भी भगवान् से यही प्रार्थना करते थे कि कठोर वचनवाला व्यक्ति हमारा प्रभु न हो—"मा नो दुःशस ईशत"—ऋग्वेद।

अपनी सज्जनता और सहृदयता पर किसी को सन्देह करने का अवसर न दीजिये। दूसरे के गुणों को मुक्त-कंठ से सराहना कीजिये और अपनी गुण-ग्राहकता को लोगों पर प्रकट कीजिये। लोगों की कठिनाइयों में व्यक्तिगत सहानुभूति प्रदर्शित कीजिये और व्यक्तिगत संकटों में आत्मीयता भी। पद-मद मदिरा से भी अधिक उन्मादक होता है। उन्मत्त होकर अपने सद्भाव, शील को न भूल जाइये। इस बात को याद रखिये कि आपके सहकारी भी मनुष्य हैं, उनके भी हृदय है, उनकी भी विवशतायें हैं और व्यक्तिगत रूप से वे आपसे अधिक निर्बल हैं। उनको धमकी न देकर मनुष्यतापूर्वक उनसे कार्य लीजिये। उजाड़ने की अपेक्षा लोगों को बसाने का प्रयत्न कीजिये। शोषक न होकर आश्रितों के पोषक-पालक बनिये।

व्यक्तित्व में, वेष-भूषा में, काम की जानकारी में, मर्म समझने में सबके आदर्श बनकर रहिये जिससे लोग आपका लोहा मान सकें। व्यक्तित्व का प्रभाव तत्काल पडता है। वेष-भूषा के प्रभाव को इसी बात से समझिये कि एक साधारण व्यक्ति भी पुलिस का पहनावा धारण करते ही प्रभावशाली बन जाता है। जब तक आप काम के विशेषज्ञ न होंगे तब तक दूसरों के काम का निरीक्षण और नियन्त्रण कैसे करेंगे? अधिकारी को अपने विषय का अधिकारी होना चाहिये। उसकी जानकारी में कुछ ऐसी बातें होनी चाहियें जो सर्व-साधारण की जानकारी में न हों। उसमें मन्त्र को गुप्त रखने की क्षमता होनी चाहिये। इन विलक्षणताओं से ही वह सबका आदर्श और पथ-प्रदर्शक बन सकता है। अपने विभाग के समस्त कार्यों का ठीक-ठीक विवरण जानकर और कार्य-प्रणाली को समझकर ही कोई अधिकारी अपने उत्तरदायित्व को सम्हाल सकता है। समय की पाबन्दी और अनुशासन-सम्बन्धी जिन नियमों का पालन आप दूसरों से कराना चाहते है, उनका पालन सर्व-प्रथम स्वयं कीजिये, जिससे लोग आपसे शिक्षा ले और आपकी कड़ाई पर आक्षेप न करें। इस सम्बन्ध मे हिटलर के अन्तिम दिनों का, सम्भवतः अन्तिम वाक्य याद रखिए। जिस समय बर्लिन पर गोले बरस रहे थे और जर्मनी की पराजय निश्चित हो चुकी थी, लोगों ने हिटलर को राय दी कि वह आत्म-रक्षा के लिये वहाँ से चला जाय। हिटलर ने स्वाभिमान-पूर्वक उत्तर दिया कि यदि मेरी मृत्यु हो जाती है तो उससे जर्मनी का गौरव बढ़ेगा—क्योंकि एक सिपाही होने के नाते मुझे स्वयं अपनी अन्त तक बर्लिन की रक्षा करने की आज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिये—

औरो से ऊपर रहिये

"If I die it is for the honour of Germany. It

is because as a soldier I must obey my own command to defend Berlin to the last."–World Digest

भय से आत्म-सम्मान नष्ट हो जाता है, ऐसा नेपोलियन का मत है—'Fear destroys self-respect.'

सर्वोपरि साहसी बनिये

एक अन्य किसी नीतिकार का मत है कि साहस-द्वारा अपने से अधिक मनुष्यों की संख्या पर भी विजय प्राप्त होती है—"Courage overcomes numbers." परिस्थितियों और आलोचनाओं से न घबड़ाइये। यह तभी सम्भव है जबकि आप अपने कर्त्तव्य में स्थिर रहे।

कर्त्तव्य को करते समय आप निश्चय कीजिये कि आप विफल नहीं हो सकते। यह दृढ़ निश्चय आपको साहस देगा। साहसी ही बनिये, दुस्साहसी नहीं। निर्णय करने के बाद रुकिये न, आत्मशक्ति लेकर निश्चित मार्ग पर चल निकलिये। जिस क्षेत्र में रहिये, उसमें अपने ढग के एक ही रहिये।

काम करना और लेना जानिये

जब तक आप स्वयं काम करना न जानेंगे, तब तक दूसरों से ठीक काम न ले सकेंगे और न उनको काम के लिये प्रेरित ही कर सकेंगे। काम लेना एक बड़ी कला है। उसके कुछ रहस्य ये हैं—

(१) जो जिस कार्य के उपयुक्त हो, उसको वही कार्य सौंपना चाहिये। इस सम्बन्ध में शुक्राचार्य की यह नीति मान्य है कि कोई ऐसा अक्षर नहीं है जिसका प्रयोग मन्त्र-रचना में न हो सके, कोई ऐसा वृक्ष नहीं है जो किसी-न-किसी व्याधि की औषधि न हो; कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो किसी-न-किसी कार्य के योग्य न हो—सबका संयोजक मिलना कठिन है—

अमत्र अक्षर नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम् ।
अयोग्य पुरुष नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभम् ।।

साधारण व्यक्ति से भी कार्य लिया जा सकता है—'जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तरवारि ।' कोई शरीर से दुबला-पतला होकर भी बड़े काम का हो सकता है। शेखशादी ने कहा है कि अरबी घोड़ा अगर दुबला-पतला हो तो भी गदहों के पूरे अस्तबल से अच्छा है। वास्तव में, किसी को काम देकर, समझा-कर उसके परिणाम को देखना चाहिये और तत्पश्चात् उसकी योग्यता-अयोग्यता का निर्णय करना चाहिये।

(२) इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कोई बेकार न बैठने पावे। सुकरात ने लिखा है कि केवल वही व्यक्ति बेकार नहीं है जो बैठा रहता है बल्कि वह भी बेकार माना जायगा जिसकी योग्यता का पूर्ण लाभ नहीं लिया जाता।

"Not only he is idle who is doing nothing but he too that might not be employed better."
—Socrates

(३) यथासंभव कार्य के सम्बन्ध में लिखित और निश्चित आज्ञा देकर कर्मचारियों के काम पर नियमित नियंत्रण रखना चाहिये। एक विलायती लेखक ने लिखा है कि मालिक की आँख उसके दोनों हाथों से अधिक काम करती है।—"The eyes of a master will do more work than both his hands." आँख के आगे काम अधिक होता है, इसको सभी मानेंगे। यदि आँख के आगे भी गड़बड़ी होती है और कोई जान-बूझकर नियमोल्लंघन करता है तो उसके अपराध को प्रमाणित करके उसको अवश्य दंडित कीजिये जिससे दूसरों को शिक्षा मिले। किसी के प्रति मन में क्रोध लिये रहने की

अपेक्षा उसको तत्काल प्रकट कर देना अधिक अच्छा होता है। व्यास ने लिखा है कि पल भर में जल जाना देर तक सुलगने से ज्यादा अच्छा है—

"क्षणार्द्धं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायित चिरम्।"—महाभारत

(४) जान-बूझकर अपने सहयोगियों पर दोषारोपण न करना चाहिये। उनकी साधारण त्रुटियों को देखना ही न चाहिये। ऐक विदेशी नीतिज्ञ (Fuller) ने लिखा है कि यदि तुम स्वामी हो तो कभी-कभी अन्धे वन जाया करो—

"If thou art a master be sometimes blind."

(५) जिनसे आपको काम लेना है उनको यह सच्चा भरोसा दे रखिये कि उनके भविष्य का द्वार खुला है और वे अपनी योग्यता, काय-पटुता से आगे उन्नति कर सकते है। मनुष्य का जीवन सरस तभी बनता है जब उसके पास करने को कोई काम होता है और मन की आशा को टाँगने की कोई खूँटी होती है। इस बात को याद रखिये कि 'बाँधे बनियाँ बाजार नहीं लगता।' सबको उत्साहपूर्ण रखिये।

(६) अपने आश्रितों की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लीजिये। उनके मन मे यह भ्रम न होना चाहिये कि मौके पर आप पिछड़ जायँगे और वे ही किसी त्रुटि के उत्तरदायी होंगे।

(७) अपने विशेष अधिकारों का प्रयोग बार-बार न कीजिये। यदि रोज आँधी ही चले तो कुछ दिनों में लोग उसको सहन करने में इतने अभ्यस्त हो जायँगे कि वे उसको साधारण हवा ही समझने लगेंगे। लोगों को बेहया न बनने दीजिये।

(८) युक्तिपूर्वक कहीं-कहीं झुक जाने से भी कार्यकर्त्ता लोग मोहित हो जाते हैं—"सबहिं नचावत राम गोसाईं, अपुवा रहत

दास की नाईं।"—तुलसी। जहाँ किसी महत्कार्य को शीघ्र करना हो वहाँ उसी तरह झुक जाना चाहिये जैसे सुरसा के आगे हनूमान झुक गये थे।

(६) अधिकारी की प्रसिद्धि से कार्यकर्त्ता प्रभावित होते हैं। यदि आप यशस्वी, प्रभावशाली हैं तो लोग स्वभावतः चेष्टा करेंगे कि वे आपके सुयोग्य सहकारी कहलाने का गौरव प्राप्त करें। इसलिये ऐसी कीर्ति रखिये कि आपके न रहने पर भी वह दूसरों की नसों में बिजली भर सके।

गुरुत्व ही पतन का कारण होता है—अधिकार ग्रहण करने पर इसको भी याद रखिये कि जो वस्तु भारी होती है वही पृथ्वी पर गिरती है। ऊँची पहाड़ी पर से लुढ़कने का अधिक डर रहता है। बाल जब बहुत बढ़ जाते हैं तो नाई की कैंची तैयार मिलती हैं। इसलिये सम्हलकर, सावधानी से चलिये।

३—यदि आप कर्मचारी हैं

यदि आप कर्मचारी हैं तो उपर्युक्त बातों में से आत्मोपयोगी बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित बातों को भी ध्यान में रखिये—

१—साधारण पद पर रहते हुए भी अपनी आकांक्षा को प्रबल रखिये और इस बात को ध्यान में रखकर आत्मोत्थान का प्रयत्न करते रहिये कि संसार में योग्यता के अनुसार ही अधिकार मिलता है; आध सेर के गिलास में सेर भर दूध नहीं भरा जा सकता। प्रतिदिन उत्साहपूर्वक अपनी योग्यता को बढ़ाइये; वही आपकी मूल सम्पत्ति होगी। कार्य-सम्बन्धी ज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपयोगी ज्ञान का संचय भी करते रहिये। एक ही लकीर के फ़क़ीर न बने रहिये। बहुज्ञ होना लाभदायक ही होता है। रोज अनुभव का संचय करते रहिये। अपनी स्मरण-शक्ति पर अधिक विश्वास

न करके, अपनी नोट-बुक को काम में लाइए।

२—इस लक्ष्य को सामने रखकर अर्थोपार्जन न कीजिये कि किसी तरह शाम को रोटी मिल जाय। दिन की सन्ध्या को नहीं, बल्कि जीवन-सन्ध्या को अपना लक्ष्य बनाइये। यह कहना अनुचित न होगा कि अपना बीमा करा रखिये क्योंकि पता नहीं कब आपकी जीविका-सन्ध्या या जीवन-सन्ध्या आ ही जाय। कुछ-न-कुछ बचाइये।

३—जितना आपको वेतन मिलता है, उससे अधिक कार्य करके दिखलाइये। अपने काम को पैसे से कम क़ीमती न बनने दीजिये। कार्य को सांगोपांग पूर्ण कीजिये और प्रतिदिन वैसा ही कीजिए। ऐसा न हो कि कुछ दिन अच्छा काम दिखलाकर और अपने अधिकारियों का विश्वास प्राप्त करके बाद में आप ढीले पड़ जाएँ। जब काम ही की कमाई आप खाते हैं तो उसको दूषित या खंडित न कीजिये। अपनी वस्तु को पागल या पशु ही तोड़ते-फोड़ते हैं। कर्त्तव्य-पालन में सच्चे रहिये। अपने गुणों को चमकाते रहिये। अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि अपने तारों को चमकने दो —'Let your stars shine.' आशा से अधिक आप अपनी सफलता दिखायेंगे, तभी आपके नक्षत्र चमकेंगे। इस बात को याद रखिये कि कठिन परिश्रम की उतनी प्रतिष्ठा नहीं होती जितनी कि सफल परिश्रम की। सफल परिश्रम भी वही मान्य होता है जिसकी सफलता का क्रम न टूटे।

४—अपने को अपरित्याज्य अथवा किसी कार्य के लिये सर्वोपयुक्त न मानिये। ऐसा मानने से अभिमान बढ़ता है और आप धोखे में रहते हैं। यह मानकर कार्य कीजिये कि आप से स्पर्द्धा करने वाले और लोग भी हैं और आपको अभी अधिक उपयुक्त बनना है। कार्य करने में निश्चिन्तता और अनिश्चतता न

होनी चाहिये। अपने ऊपर तथा दूसरों के ऊपर आवश्यकता से अधिक विश्वास न कीजिये। प्रतियोगिता के लिये अधिक आत्म-बल का संचय करते चलिये।

५—मिट्टी में बीज की तरह अपने काम में आप समाइये। सफल होने का यही प्राकृतिक उपाय है। कुछ दिनों में आप शाखावान् हो जाएँगे। स्पष्ट शब्दों में, काम के समय काम की धुन रखिये। अपना सारा ध्यान उसी पर केन्द्रित कीजिये। काम में अपनी व्यक्तिगत बातो को अलग रखिये। दूसरों की व्यक्तिगत चर्चा से भी अधिक बचिये। 'काम से काम' यही सिद्धान्त बनाइये, और सचाई, परिश्रम तथा एकाग्रता को सफलता का मूलमन्त्र। एक दिन में सफलता न मिलेगी; निरन्तर दैनिक अभ्यास से ही सफलता मिलती है, उन्नति होती है। कठिनाइयों को पीछे ठेलिये, शक्ति का उपयोग एवं विज्ञापन कीजिये और काम मे रस लीजिये। इसी प्रकार आप पनप सकेंगे।

६—जहाँ आप काम करते हैं वहाँ के नियमों का ठीक-ठीक पालन कीजिये। जिसके नीचे हैं उसके प्रति कृतज्ञता का भाव रखिये, उसके हानि-लाभ को अपना समझिये; हिसाब-किताब में सच्चे प्रमाणित होइये; आवश्यकता से अधिक काम के सिलसिले में भी खर्च न कीजिये, काम को लटकाइये मत; पेंच न मारिये, पुरस्कार के लोभ से कोई कार्य न कीजिये; मेहरबानी की आशा न कीजिये क्योंकि काम ही के लिये आप वेतन पाते हैं, किसी की पीठ-पीछे निन्दा न कीजिये और विदा होते समय भी सद्भाव के साथ विदा लीजिये जिससे आगे का सम्बन्ध तो बना रहे। कृतघ्नता की प्रवृत्ति आत्म-नाशी होती है।

७—किसी काम में क्रिया द्वेषी, हठी, दुराग्रही न बनिये और

अपनी भूलों को तत्काल स्वीकार करके पूरी ज़िम्मेदारी लेने का साहस रखिये। अनुमान-द्वारा नहीं, परीक्षा-द्वारा यथार्थता को समझिये। यदि कोई कार्य आपसे असाध्य हो तो उसके करने का झूठा आश्वासन न दीजिये।

८—जो भी कार्य आपके ज़िम्मे हो उसमे अपनी प्रतिभा की झलक दिखाइये; उसको शीघ्रातिशीघ्र उत्तम ढंग से पूर्ण करके बुद्धिमत्तापूर्वक अपनी सेवाओं को प्रकट करते रहिये। कार्य की उपयोगिता को समझिये, योजना बनाकर उसको ठीक रीति से कीजिये। बीच-बीच में मुरझाइये न; हरे-भरे बने रहिये, नहीं तो फलियेगा कैसे ?

६—व्यवहार में सावधान रहिये। अपने से बड़ों को अग्नि-वत् मानिये। आवश्यकता पड़ने पर ही उनके निकट जाइये; अन्यथा दूर ही रहिये। अपने सहयोगियों के दृष्टिकोण का सम्मान कीजिये। उनसे पूछते रहिये, सम्मति लेते रहिये। यथा-सम्भव सर्वोपयोगी बनिये; प्रत्येक परिस्थिति में शिष्ट, सभ्य बने रहिये; ठंडा लोहा गरम लोहे को काट देता है। व्यवहार से अपने को शान्तचित्त, सद्‌गुणी और चतुर ही प्रकट कीजिये।

१०—आवश्यकता से अधिक परिश्रमी और कार्य में सतर्क न बनिये। एक से स्वास्थ्य की हानि होती है, दूसरे से स्वार्थ की, क्योंकि इनसे कार्य भार-स्वरूप हो जाता है। स्वास्थ्य और स्वार्थ को नष्ट करके रुपया बटोरने का अर्थ है अपना घर फूँककर वैरागी होने के लिये राख बटोरना।

११—जहाँ रहिये वहाँ पेड़ की तरह अपनी जड़ें फैलाइये—अर्थात् नये-नये मित्र बनाइये और अपने पूर्व परिचितों को भी अपने साथ काम में लगाने का प्रयत्न कीजिये। विपत्ति की आँधी में वही जड़ें आपको सम्हालेगी। धक्का खाकर उखड़ न जाइये

फिर पूर्ववत् खड़े हो जाइये। यदि आप भाग्यवादी हैं तो महा-पंडित व्यास के इस कथन को याद रखिये कि जैसे अयाचित दुःख आते रहते है, वैसे ही सुख आयेगा; फिर दुःख से घबड़ाना और सुख के लिये व्याकुल होना केवल अपनी दीनता दिखलाना है—

अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनम्।
सुखानि च तथा मन्ये दैन्यमत्रातिरिच्यते ॥—महाभारत

१२—कार्य-सम्बन्धी ज्ञान के विशेषज्ञ होने के साथ अपनी लोकप्रियता बढ़ाने के लिये किसी मनोरंजक विषय में प्रवेश रखिये जिससे आप काम के बाद लोगों को अपने में आकर्षित कर सकें।

१३—उभयस्वामिक न बनिये अर्थात् एक साथ ही दो समान अधिकारियों का आधिपत्य स्वीकार न कीजिये। आपके ऊपर जो अधिकारी है उसकी उपेक्षा न कीजिये। यदि सर्वप्रधान अधिकारी आप पर विशेष अनुग्रह रखता हो तो भी अपने ऊपर के अधिकारी का पूर्ण सम्मान कीजिये और किसी कार्य से ऐसा न प्रकट होने दीजिये कि आप सर्वप्रधान से सीधा सम्बन्ध किये हैं या करना चाहते है। बीचवाले अधिकारी की उपेक्षा बड़ी घातक होती है। इस सम्बन्ध मे हनूमान का आदर्श मानिये। वे राम के विशेष कृपापात्र थे, फिर भी अपने स्वामी सुग्रीव को नहीं भूलते थे। लंका में अपना पराक्रम दिखलाकर वे अभिमान-मद से अपनी मर्यादा को नहीं भूले। उन्होंने शत्रु के राज्य में सिंहनाद करके राम की जय बोलते हुए कहा—रामचन्द्र से रक्षित राजा सुग्रीव की जय हो, महाशक्ति-शाली राम की जय हो; महाबली लक्ष्मण की जय हो—

राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः
जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥—रामायण

१४—यदि किसी काम में आपको अपना भविष्य उज्ज्वल नहीं प्रतीत होता तो आप विवश होकर उसीको न करते रहिये; बल्कि अपने लिये उपयुक्त अवसर और स्थान ढूँढ़ते रहिये। परन्तु कुछ दिन परीक्षा और प्रतीक्षा करके तब स्थान परिवर्तन कीजिये। एक अनुभवी ने कहा है कि जो चक्कर नहीं काटता, वह दूर तक दौड़ता है—"He runs far who never turns." इसका दूसरा अर्थ भी हो सकता है—जो इधर-उधर नहीं देखता चलता उसको लम्बी दौड लगानी पड़ती है। जो अर्थ आपकी परिस्थिति के अनुकूल पड़े उसी को स्वीकार कीजिये।

४—यदि आप कार्यार्थी हैं

यदि आप बेकार हैं तो पहली आवश्यकता इस बात की है कि आप उदासीन न बनिये। उदासीनों का युग बहुत पहले ही समाप्त हो चुका है। यह आशावादियों का युग है। हतोत्साह होते ही आदमी की चेतना-शक्ति हत हो जाती है। जब मनुष्य अपने भविष्य को अंधकारमय देखता है, तभी उसके मन में आत्मघात की भावना अंकुरित होती है। बेकारी की दशा में ही आत्मविश्वास और आत्मशक्ति की सर्वाधिक आवश्यकता होती है, अन्यथा मनुष्य की कमर टूट जाती है; वह डगमगाने लगता है और अपने व्यक्तित्व को सस्ते मूल्य पर बेच देना चाहता है। बेकारी में भय ब जाता है—"Fear increases in inactiviy."

१—चित्त से भय और निराशा को निर्मूल कीजिये और सैंकड़ों-हजारों उदाहरणों से सिद्ध इस शास्त्र-वाक्य में विश्वास कीजिये कि अध्यवसाय से कुछ भी असाध्य नहीं है—"नाऽसाध्यं तपसाकिंचित्"—महाभारत। इस बात में विश्वास कीजिये कि सांसारिक जीवन में यह प्रमाणित हो चुका है कि

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपनी रुपया बनाने की टकसाल है—'Every man is his own mint.' यदि आप यह सोचकर निराश हों कि आपकी आयु अधिक है, अतएव मौके आपके हाथ से बाहर निकल गये हैं तो यह स्मरण रखिये कि संसार में चौंसठ प्रतिशत लोगों ने ४५ से ६५ वर्ष की आयु में ही बड़ी-बड़ी सफलतायें प्राप्त की हैं। जो उत्सुक हों वे अमेरिका की 'साइंस-डाइजेस्ट' (Science Digest) नामक बहुप्रसिद्ध पत्रिका के नवम्बर, १६४६ के अंक में इसका विवरण देखें !

२—स्वावलम्बी बनने का संकल्प कीजिये और आशा-उत्साह के साथ कीजिये। कमज़ोर बैटरी वाली मोटर की तरह न बनिये कि जब स्त्री-बच्चे पीछे से आपको ठेलें तभी आप रवाना हों। स्वयं चेतिये। गृहमोही बनकर न बैठिये। संसार की बड़ी सम्पत्तियाँ, जैसे प्रकाश, हवा, रुपया, आपकी श्रीमती, बाहर ही से आती हैं; वे घर में नहीं पैदा होतीं ! अतएव कर्म-क्षेत्र में पधारने का निश्चय, दृढ़-निश्चय कीजिये। सजीव होते हुए स्थिर होना अप्राकृतिक कर्म है। पक्का निर्णय कीजिये कि आप समर्थ हैं, कुछ करके ही रहेंगे। अपने सामने किसी उद्योगी महापुरुष का आदर्श रखिये और उसके जीवन-वृत्त से प्रेरणा लीजिये।

३—अपनी स्थिति को देखते हुए भविष्य की एक योजना बनाइये। इस बात को ध्यान में रखिये कि आपके पास क्या है या आप स्वयं क्या हैं—इन्हीं में से एक के आधार पर आपका अर्थागम निर्भर करेगा। यदि आपके पास धन नहीं है तो गुणों का संचय और विकास कीजिये। चरित्र-स्वभाव को सुन्दर बनाइये क्योंकि यही निर्धन के धन हैं। दूसरों को प्रभावित और अपने को ठीक-ठीक व्यक्त करने की कला का अभ्यास कीजिये।

योग्यता प्राप्त कीजिये। जिस कला में आपकी विशेष रुचि हो उसकी विशेष योग्यता प्राप्त कीजिये। अपने को उसीका विशेषज्ञ बनाइये। कोई भी उपयोगी ज्ञान या कौशल कर्मजीवी का मूल द्रव्य होता है। काव्य-कला नहीं, व्यवसायात्मक ज्ञान और व्यवहारिक कला को अपनाइये। किसी पद को लक्ष्य बनाकर अपने को उसके सर्वथा योग्य बनाइये और ऐसे ही काम को चुनिये जो श्रम-साध्य हो। सार-रूप में, इस विषय के एक सुप्रसिद्ध लेखक के शब्दों में, जिस नवयुवक के पास धन नहीं है, उसका पहला व्यवसाय, धर्म या कर्त्तव्य है कि वह स्वयं अपने व्यक्तित्त्व को अधिक-से-अधिक मूल्यवान् बनाए—

"The first business duty of every young man who is not rich is to put more and more value into himself."

—Casson [How to make more money this year.]

यदि आप व्यापार करना चाहते है तो आत्म-संबल को मूल-धन, बुद्धि को प्रबन्धक और हाथ-पैर को मजदूर बनाकर अपने कार्यालय की स्थापना करने की कल्पना कीजिये।

४—अधिक-से-अधिक परिचय बढ़ाइये, वह आगे कार्य देता है। अपने से बड़ों की संगति कीजिये। सभा-सोसाइटियों में भाग लीजिये, अवैतनिक रूप से भी दूसरों की सेवा करने मे कभी न चूकिये, भाषण दीजिये, लेख लिखिये अथवा लोकप्रिय बनने का कोई भी गुण प्रकट कीजिये। राह पर चलते रहिये, कोई-न-कोई रीझने वाला मिल जायगा।

५—काम के लिये निकलिये। घर बैठे काम नहीं आ जायगा। विदुला ने अपने आलसी पुत्र संजय को जो उपदेश दिया था उसको ध्यान में रखिये। उसने कहा था कि जिन कार्यों का

आरम्भ ही नहीं किया जाता, वे कभी सिद्ध नहीं हो सकते—"अथ ये नैव कुर्वन्ति नैव जातु भवन्ति ते"—महाभारत।

काम के लिये निकलने में संकोच न कीजिए—'जब नाचन निकसी बावरी तब घूंघट कैसा ?'—कबीर। हाँ, भिक्षुक बनकर न निकलिए। अपने को किसी का दासानुदास न मानिए। नौकरी के लिए जाने में भिक्षाटन की प्रवृत्ति रखना मूर्खता, कायरता है। अपने गुणों को उचित मूल्य पर विक्रय करने का भाव लेकर चलिए। यथासम्भव नियुक्त करने वाले अधिकारियों का साक्षात्कार कीजिए। प्रार्थना-पत्र पर ही पूरा भरोसा न कीजिए। उससे आपकी योग्यता और आपके व्यक्तित्व का पूरा परिचय नहीं मिलता। इसलिए प्रत्येक नियोजक प्रार्थी का साक्षात् दर्शन करना चाहता है। सामने जाने में कांपिए मत। यह न समझिए कि आप उससे ऋण या दान लेने गये हैं। यही समझिए कि आप अपनी योग्यता बेचने जाते हैं। सप्रभाव मिलिये। आत्म-विश्वास-हीन होने पर आप अपना बुरा प्रदर्शन करेंगे।

अपने साथ और अपने प्रार्थना-पत्र के साथ दो-चार प्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रमाण-पत्र रखिये। वही आपके मामले में आपके वकील होंगे। आत्म-प्रशंसा से अधिकारी प्रभावित न होगा, क्योंकि वह आप से भी चतुर होता है, तभी तो वह अधिकारी है और आप बेकार। प्रार्थना-पत्र में स्वस्ति-वचन और भावुकता की इस तरह की बातें न लिखिये कि यदि आप हमें शरण में लेंगे तो हम जन्म-जन्मान्तर में परमपिता परमात्मा से आपकी दीर्घायु के लिए प्रार्थना करेंगे। उसमें अपनी योग्यता और अपने अनुभव का ही उल्लेख कीजिए और व्यावहारिक भाषा का प्रयोग कीजिए—अलंकृत का नहीं।

६—कहीं विफल होने पर मिट्टी के ढेले की तरह गिर न

पड़िए। गेंद की तरह उछलते रहिए। भाग्य का द्वार बार-बार खटखटाते रहिये। वह सोता भी होगा तो झुँझलाकर ही सही, एक बार द्वार खोल देगा। द्वार खुलते ही एक बार साधिकार भीतर घुस जाइए। गाँधीजी ने लिखा है कि कैसा भी छोटा मौक़ा मिले, उसको हाथ से जाने न देना चाहिए—"No opportunity should be missed however trifling." डिज़रायली ने लिखा है कि निरन्तर उद्योग करना ही कृतार्थता का मंत्र है—

"The secret of success is constancy to purpose."

अतएव पंख फैलाकर उड़ते रहिये। नीति-वचन है कि बैठा हुआ गरुड़ भी बैठा रह जाता है, एक पद भी आगे नहीं बढ़ता; और चलने वाला चींटा भी कुछ समय में कई योजन दूर पहुँच जाता है। योग्यता लेकर बैठे न रहिए। उसमें मोरचा लग जायगा। इसको सत्य मानिए कि अधिकांश लोग कर्म-दोष के कारण नहीं बल्कि अपने अकर्म-दोष के कारण दुःख भोगते हैं। महाभारत में कथित विदुला के इस उपदेश को कंठस्थ रखिए—"तुम सेवकों से हीन, अन्य के भोजन से पलनेवाले दीन, पुरुषार्थ-हीन पुरुषों की वृत्ति का अनुवर्त्तन न करो। जैसे पके फल के वृक्षों से पक्षीगण जीव-धारण करते हैं, वैसे ही जिसके आश्रय में अनेक प्राणी रहे, उसीका जीवन सफल है।"

किष्किन्धा के निकट वाक्-प्रज्ञ हनूमान की बातों से मुग्ध होकर राम ने लक्ष्मण से यह कहा था—"शब्द-प्रपंच-रहित, पद और वर्णों के सन्देह-रहित, न बहुत शीघ्र, न बहुत विलम्बयुक्त, हृदयस्थ और कंठगत (मध्यम) वाक्य मध्यम स्वर में वर्त्तमान है। यह संस्कार-युक्त, क्रम-युक्त, शीघ्रता-रहित, विलम्ब-रहित, कल्याणी मनोहर वाणी का उच्चारण करता है।......हृदय (अर्थात् सरस), कंठ (अर्थात् ठीक से ध्वनित) और सिर (अर्थात् विचारपूर्ण) में स्थित इस चित्रवाणी से किसका चित्त संतुष्ट नहीं हो सकता ?—खड्ग-धारी वैरी का भी हो सकता है !

वाणी-बल की महत्ता

हनूमान के वाग्वैभव से राम विशेष प्रभावित हुए थे और हम जानते हैं कि उसी के कारण राम-सुग्रीव की मित्रता स्थापित और दृढ़ हुई। सुग्रीव सौ चिट्ठियाँ लिखकर भी राम की वह मित्रता प्राप्त नहीं कर सकते थे जो उन्होंने अपने वाकपटु मंत्री को भेजकर सहज में प्राप्त कर ली। इस घटना के बाद भी हम रामायण में अनेक प्रसंग ऐसे देखते हैं जहाँ हनूमान की रण-वीरता से ही नहीं, उनकी वाक्-वीरता से अनेक कार्य सफल हुए हैं। महाबली रावण की लंका में जाकर, वहाँ बन्दी होकर भी अकेले हनूमान अपने वाणी-बल के प्रभाव से बचकर और प्रयोजन को सिद्ध करके वापस आ सके थे। बन्दी बनाये जाने पर उन्होंने केवल अपनी वाणी-शक्ति का आश्रय लिया था।

उसके द्वारा रावण के राज-सम्मान पर आघात किये बिना उन्होंने आत्म-सम्मान की रक्षा की थी। रावण ने जब उनसे उत्पात करने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं तो राज-दर्शन का इच्छुक था; साधारण अवस्था में आप तक पहुँचना कठिन था, इसलिये मैंने वन को विनष्ट किया; तदुपरांत आपके युद्धाकांक्षी वीरगण मुझसे युद्ध के लिये आये और आत्म-रक्षा के लिये मुझको लड़ना पड़ा। इस प्रकार मैं आपके दुर्लभ दर्शनों को प्राप्त कर सका। इसके बाद हनूमान ने पुनः विनम्र होकर कहा—मैं राज्य-कार्य से यहाँ आया हूँ, आपके भाई वानरराज (सुग्रीव) ने आपका कुशल पूछा है और आपके हित के लिये एक संदेश कहलाया है...... । इस प्रकार अपनी शिष्ट और समयोचित वाणी से हनूमान ने रावण को विशेष प्रभावित किया। सीता के समीप भी उन्होंने बहुत बुद्धिमत्ता से बातें करके उनके विश्वास और धैर्य को दृढ़ किया था। रावण की सबलता और राम की निस्सहायावस्था पर विचार करके जब सीता निराश थीं तो हनूमान ने उनको प्रबोधन देते हुए कहा—हे देवी, वानराधिपति सुग्रीव करोड़ों वानरों सहित शीघ्र यहाँ आवेंगे...वे सब वानर मुझसे अधिक या मेरे समान हैं, मुझसे कम कोई भी नहीं है, जब मैं ही यहाँ चला आया तो उनका क्या कहना; काम करने के लिये छोटे ही भेजे जाते हैं, बड़े नहीं—'नहि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनः।' इस प्रकार अपनी वाक्पटुता से रामदूत ने अपने दोनों प्रयोजनो को सिद्ध किया—एक ओर तो उन्होंने राक्षसराज की नगरी में प्रवेश करके राम और सुग्रीव के बल-वैभव का प्रदर्शन किया तथा प्रदर्शन के बाद भी अपने जीवन को सुरक्षित रक्खा और दूसरी ओर सीता का पता लगाकर उन्होंने उनसे राम का संदेश ही नहीं कहा, बल्कि उनके संशय को मिटाकर उनके आत्म-बल को भी

सुदृढ़ किया। इससे राम का कार्य ही नहीं सफल हुआ, हनूमान की प्रतिष्ठा भी शतगुणित होगई। वे सफल होकर जब लौटे तो प्रतीक्षातुर वानरों ने उनको आँखों पर उठा लिया—'हनूमन्त महावेगं वहन्त इव दृष्टिभिः।' सबकी दृष्टि मे हनूमान का महत्त्व बढ़ गया।

वाणी-बल का प्रभाव बतलाने के लिए हमने ऊपर हनूमान का उदाहरण दिया है। वर्तमान काल मे भी हम देखते हैं कि राजनीति और व्यापार आदि की बड़ी-बड़ी समस्याएँ बातों द्वारा सुलझाई जाती हैं। बड़ी-बड़ी उलझने जो लिखा-पढ़ी, और युद्ध से भी नहीं सुलझतीं वे चतुर वाक्-विशारदों के मिलने-जुलने से तय हो जाती हैं। मनुष्य का सार्वजनिक जीवन बातों ही से चलता है। हम अपने दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि बातों से लोग कितने प्रभावित होते हैं। हास्य-विनोद के दो-चार वाक्य सुनकर लोग हँसने लगते हैं, क्रोध-तिरस्कार के वचन सुनकर उबलने लगते हैं और आदर-सत्कार के शब्दों को सुनकर पिघलने लगते हैं। उन बातों से न तो किसी के शरीर पर चोट लगती है, न किसी को कुछ आर्थिक हानि-लाभ होता है; फिर भी उनका प्रभाव मनुष्य पर बहुत पड़ता है, यह स्पष्ट है। बातों-द्वारा वशीकरण और उच्चाटन दोनों सिद्ध होते देखे जाते है। इसलिये शब्दों की मंत्रशक्ति को कौन न स्वीकार करेगा ? सुन्दर शब्दावली के प्रयोग से लोग एक-दूसरे के प्रेम-पाश में बँध जाते हैं। अच्छे वक्ता श्रोता को मंत्र-मुग्ध कर लेते है। इसके विपरीति कर्कश बातों से बड़े-बड़े कलह होते हैं, लोग बिना मारे ही मर जाते हैं और सुकुमार हृदय के व्यक्ति कभी-कभी आत्म-हत्या तक कर लेते हैं। मनुष्य पर बातों का उतना ही असर पड़ता है, जितना पशु पर डंडे का। इसका कारण यह है कि

मनुष्य एक भावना-प्रधान जीव होता है। बातें उसके अन्तस्तल के स्वभाव एवं ज्ञान को वहन करती हैं और श्रोता के भावना-क्षेत्र में जाकर बैठ जाती है। वायु-द्वारा जिस प्रकार किसी पुष्प का सौरभ एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचता है, उसी प्रकार वाणी-द्वारा एक की भावना दूसरे के अन्तस्तल में सुगमता से पहुँच जाती है। मूलतः भावनामय होने के कारण मनुष्य वाणी-द्वारा संचालित भावों की चोट से आन्दोलित हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो बातों की साधारण हवा से न तो कोई झूमने लगता और न कोई उद्विग्न होता। विचारवान् एवं भावुक होने के कारण मनुष्य बातों के मर्म को ग्रहण करके अपने मर्मस्थल मे प्रभावित होता है। मनुष्यों ही में जो मूढ़ और हत-बुद्धि होते हैं, उन पर वाणी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

मनुष्य के भीतरी व्यक्तित्त्व की पहचान उसकी वाणी से ही होती है। ज्ञान, स्वभाव, चित्त-दशा, विचार-धारा सभी का पता वाणी से लगता है। जिस प्रकार घड़े को बजाकर देखा जाता है कि वह टूटा तो नहीं है, उसी प्रकार बातचीत से देखा जाता है कि मनुष्य का मस्तिष्क परिपक्व है या नहीं ? वाणी से मनुष्य के अन्तस्तल की खिड़की खुल जाती है, उसके चरित्र की नाप मिल जाती है। लिखित भाषा उतनी प्रभावशाली नहीं होती। इसका कारण यह है लिखित भाषा के साथ स्वर नहीं संयुक्त रहता। स्वर में स्वयं एक शक्ति होती है। वह उन वायु-तरंगों को आन्दोलित करता है जो हमारे शरीर को ही नहीं अन्तस्तल को भी स्पर्श करती हैं। उदाहरण के लिये वीणा या किसी वाद्य-यन्त्र के स्वर को लीजिये। उस स्वर में कोई अर्थ नहीं होता, फिर भी हृदय पर उसका प्रभाव पड़ता है। स्वर के साथ जब सार्थक-वाणी का संयोग होता है तो भाव, जो वाणी के मूल तत्त्व होते

हैं, विशेष उद्दीप्त हो जाते हैं। स्वर-संयुक्त होकर वाणी वायु-तरंगों को आन्दोलित करती हुई अपने स्वाभाविक मार्ग—कान—से होकर श्रोता के अन्तस्तल में जाती है। उसकी छाप गहरी पड़ती है। शब्दों में जो मंत्र-शक्ति आती है, वह शब्द-रचना के साथ स्वर-संयोग से आती है। इस वैज्ञानिक सत्य को समझकर ही ऋषिगण स्तोत्रों को उच्चस्वर से उच्चारित करने का विधान बता गये हैं। ध्वनि से सोता हुआ मनुष्य उठकर चैतन्य हो जाता है, फिर उसके भाव क्यों न जगेंगे? लिखित भाषा इस सहयोगी से वंचित रहती है। वह अस्वाभाविक रीति से ज्ञानक्षेत्र में प्रवेश करती है और उसको ग्रहण करने के पूर्व अपने भावों को उत्तेजित करना पड़ता है। स्वर-युक्त भाषा की तरह वह अपने ही आघात से श्रोता के भावना-भवन को नहीं खोल सकती। इसीलिये हम देखते है कि चिट्ठियों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना मिलकर बातें करने का। चिट्ठियों या लेखों के शब्द उतनी चोट नहीं कर पाते जितना भाषण, वार्त्तालाप के शब्द। इस रहस्य को दूसरे ढंग से आप यों समझिये—कोई स्त्री देखने मे या चित्र में परम रूपवती हो सकती है, उसके रूप की ओर आप आकर्षित हो सकते है, परन्तु मिलने पर यदि कर्कशा निकली तो अपनी निराशा और वेदना को आप ही समझ सकते हैं। इसके विपरीत यदि कोई असुन्दरी स्त्री मधुरभाषिणी हो तो संभवतः आप उसके रंग-रूप को उतना महत्त्व न देंगे। सुन्दर चित्र या आकृति-मात्र से जिस प्रकार व्यक्ति-विशेष की सरलता और कुटिलता का पता नहीं चलता, उसी प्रकार लिखितवाणी से भी भाव के उत्कर्ष का पूरा पता तब तक नहीं चलता जब तक पाठक मन में स्वयं उसके अनुसार अभिनय न करे। अतः हमें मानना चाहिये कि प्राण की शुद्ध सन्तति अर्थात् भाषा का जन्म प्राण-पत्नी के गर्भ से ही होता

है। (संस्कृत में स्वर या वाणी को प्राण-पत्नी कहते हैं।) स्वर से ही हमारे भाव सजीव बनते हैं और सजीव होकर वे विशेप प्रभावशाली भी होते हैं। लिखित रूप में भावों का स्मारक बनता है जिसको देखकर लोग अपने भावो को जागृत करते हैं।

वाणी के महत्त्व को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखकर अब हमें उसकी कला पर विचार करना चाहिये। उसके प्रभाव के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं हो सकता और इसमें भी किसी को भ्रम नहीं हो सकता कि सांसारिक व्यवहार का वही प्रमुख साधन है। व्यक्तिगत सफलता-विफलता बहुत अंशों तक लोगों की वाक्पटुता या वचन-दरिद्रता पर अवलम्बित रहती है। अतएव अब हमें यह देखना चाहिये कि किन गुणों या विशेपताओं से वाणी-शक्ति का विकास होता है। दूसरे शब्दों में किस प्रकार मनुष्य अपनी इस शक्ति का उपयोग सफलता-पूर्वक कर सकता है; या अच्छी बातचीत के ढंग क्या हैं और कैसे उनका उपयोग किया जा सकता है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि बातचीत करना या वाणी-द्वारा भाव-व्यंजना एक बड़ी कला है। अन्य कलाओं की भाँति वह अभ्यास से ही सिद्ध होती है। उसका अभ्यास केवल शब्द-कोष रटने से और व्याकरण कण्ठस्थ करने से नहीं होता। बहुत-सी विद्याएँ सीख लेने पर भी यह कला मनुष्य में अपने-आप नहीं पैदा हो जाती। यह देखा गया है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी कभी-कभी वाणी-द्वारा अपने ज्ञान का ठीक-ठीक विज्ञापन नहीं करते। इसके विपरीत परिमित ज्ञान वाले व्यव-हार-कुशल एवं चतुर लोग जो कुछ जानते हैं उसके आधार पर अपनी बुद्धि को सुन्दर ढंग से व्यंजित कर लेते है और अपने भावों के चेक को समाज के बैंक में सफलतापूर्वक भुना लेते हैं।

महाकवि भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' में सत्य ही लिखा है कि विद्वानों में वे ही सर्वोत्तम हैं जो अपने मानसिक भावों को वाणी-द्वारा प्रकाशित कर सकते हैं; उनमें उनका स्थान और भी ऊँचा होता है जो मनोगत गम्भीर अर्थों को चतुरतापूर्ण शब्दों में व्यक्त करते हैं; किन्तु ऐसे लोग बहुत कम होते हैं—

"भवन्ति ते सभ्यतमाः विपश्चिताम्,
मनोगत वाचि निवेशयन्ति ये ।
नयन्ति तेष्वस्वप्युपपन्न नैपुणाः,
गंभीरमर्थं कतिचित् प्रकाशताम् ॥"—भारविः

वास्तव में, सब अवसरों पर एक-सी वाणी बोलने का विधान नहीं बनाया जा सकता। स्थान, अवसर, प्रयोजन और व्यक्ति-भेद से वाणी के स्वरूप में भी भेद होता है; उसके शब्दों ही में नहीं उसके स्वरों में भी भेद होता है। इसलिये गणित की तरह उसके सिद्धान्त निर्धारित नहीं किये जा सकते। उसके लिये मानव-स्वभाव का ज्ञान, परिस्थितियों का ज्ञान और आत्म-ज्ञान भी आवश्यक होता है। शास्त्रीय ज्ञान से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह एक व्यावहारिक कला है जो चन्द्रकला की तरह बदलती रहती है। वह देश, काल और विषय के अनुसार बदलती है।

यह सत्य है कि संभाषण के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते, फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जो सामाजिक बातचीत में ध्यान रखने योग्य हैं। उनका अभ्यास और यथा-अवसर उपयोग वाणी को बल देता है। भावों की स्पष्ट और सार्थक व्यंजना के लिये उनका आश्रय लेना आवश्यक होता है। संक्षेप में, हम आगे उन पर विचार करेंगे।

वाणी बुद्धि का ही एक अवयव है अतएव विचारों के अनुसार ही उसका रूप बनता है। कंठ कितना भी मधुर हो, यदि उसमें से विचार-युक्त वाणी नहीं ध्वनित होती तो वह व्यर्थ है। कुशल वक्ता वही हो सकता है, जो अच्छा विचारक हो, जो अपने मस्तिष्क-पट पर अच्छे भाव-चित्र बनाने में प्रवीण हो और जो सूक्ष्म-दृष्टि से तत्त्व को ग्रहण करने में समर्थ हो। विचारों की प्रौढ़ता, स्पष्टता, क्रम-बद्धता, सजगता, गंभीरता और सरसता तथा ओजस्विता के अनुरूप ही वाणी का शरीर बनता है। एक अंग्रेज़ विद्वान् ने लिखा है कि शब्द विचारों के 'लेबल' (नामांकित पत्र) होते हैं—Words are the labels of thought.—अर्थात्, जिस प्रकार किसी शीशी या पार्सल पर लगे हुए 'लेबल' से पता चलता है कि उसमें क्या वस्तु है, उसी प्रकार शब्दों से पता चलता है कि मस्तिष्क के विचार क्या है और कैसे है? वाक्य-दृढ़ता या वचन-अस्थिरता से मानसिक-दृढ़ता तथा विचार-अस्थिरता का पता चलता है। टूटे-फूटे वाक्यों से मानसिक दीनता का ज्ञान होता है। वाणी-बल को सुदृढ़ बनाने के लिये पहले विचार-बल को सुदृढ़ बनाना आवश्यक होता है। सुलझे हुए विचार होने से वाणी भी सुलझी हुई होती है। मस्तिष्क में यदि सन्देह, दुर्भाव या अहंकार रहता है तो वचनों में भी वही झलकता है। विचारों की सरलता और स्पष्टता से ही वाणी सरल एवं स्पष्ट होती है और यह स्मरण रखना चाहिये कि सरलता और स्पष्टता ही उसके विशेष गुण होते हैं। संयत और सुबोध न होने से उसकी सार्थकता नष्ट हो जाती है।

मानसिक सयम और योग्यता

इसलिए पहले अपने ज्ञान-केन्द्र को सुदृढ़ कीजिये; कल्पना-शक्ति, विवेचना-शक्ति और स्मरण-शक्ति को सबल एवं सजग

कीजिये। प्रत्येक विषय को सुनकर, उसके मर्म को समझकर, उसपर तर्क-बुद्धि से, न्याय-बुद्धि से विचार करने का अभ्यास कीजिये। जो भी विषय हो उसपर निश्चयात्मक मति से विचार करके, यथार्थता को ध्यान में रखकर तब उसके प्रयोजन को और परिणाम को देखिये। आपका ज्ञान-क्षेत्र जितना विस्तृत होगा, और उसी के अनुसार आपका दृष्टिकोण जितना व्यापक होगा, उतना ही आपका व्यवहार-क्षेत्र भी व्यापक होगा। बहुज्ञ होकर आप अनेक क्षेत्रों में प्रवेश करके अनेक विषयों पर वार्त्तालाप कर सकेंगे जिसके कारण आपका प्रभाव भी व्यापक रहेगा। अतएव जीवन-सम्बन्धी ज्ञान का संचय उपयोगिता की दृष्टि से करना आवश्यक है। उस ज्ञान की यथार्थता का अनुमान करके सार मात्र को ग्रहण कीजिये और निस्सार को भूल जाइये।

मन में सन्देह, निराशा, असहनशीलता और आत्म-असमर्थता के जो दुर्विचार हों उनको निर्मूल करके तब योग्य वक्ता बनने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि मन में सन्देह रहेगा तो प्रायः आप सन्देह-ग्रस्त वाणी ही बोलेंगे और आप में तथा आपके श्रोता में सहृदयता की भावना उत्पन्न नहीं होगी। निराशा लेकर बातें करने में आप सफलता न प्राप्त कर सकेंगे और अँधेरे में यथार्थ को टटोलते फिरेंगे। असहनशील होने पर दूसरों की यथार्थ वाणी को आप नहीं सह सकेंगे और किसी बात पर तर्क-वितर्क न कर सकेंगे। अपने को असमर्थ मान लेने पर आप अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं व्यक्त कर सकेंगे। आत्म-विश्वास पहला गुण है जो किसी कुशल वक्ता में होना चाहिये। जब आप किसी से मिलते है तो यह विश्वास मन में रखिये कि आप तुच्छ नहीं हैं, आप उसको प्रभावित करेंगे और सफल होंगे। यदि आत्म-विश्वास हिल

जायगा तो जो कुछ मस्तिष्क में होगा वह भी समय पर भूल जायगा और संभवतः आप हकलाने लगेंगे अथवा वहाँ से किसी तरह जान छुड़ाकर भाग निकलने के लिये छटपटाने लगेंगे। आत्म-विश्वास से ही दृढ़ता आती है और हमे नेपोलियन का यह मत ध्यान में रखना चाहिये कि दृढ़ता सब कार्यों में सफलता देती है—

"Firmness prevails in all things."—Napoleon.

जब आप किसी से मिलते हैं तो आत्म-विश्वास के साथ दूसरों पर भी विश्वास कीजिये—इस बात का विश्वास कीजिये कि वे भी विचारवान् हैं और विचारों द्वारा प्रभावित हो सकते हैं—इस बात का विश्वास कीजिये कि वे भी बुद्धि रखते हैं, इसलिये आप बनावटी बातें करेंगे तो वे उसको भाँप सकते हैं—और इस बात का विश्वास कीजिये कि वे भी उतने ही भावुक हो सकते हैं जितने कि आप हैं। अतएव अपने मन में उनके लिये तथा उनके विचारों के लिये स्वागत का स्थान बनाकर तब बातें कीजिये। यदि आप स्वयं संकीर्ण विचारों के होंगे तो उनके विचारों को स्थान कहाँ देंगे? इसलिये विचार-क्षेत्र को खुला रखिये, अर्थात् सुनिये सबकी, चाहे करिये मनकी। पहले से ही किसी के सम्बन्ध में दुर्विचार लेकर न मिलिये। बुरे आदमी के प्रति भी सद्भाव लेकर बातचीत करने से सदा सफलता मिलती है। दुर्भाव रखने से मनुष्य दूसरों के दुर्गुण ही देखता है जिससे उसको कोई लाभ नहीं होता। अँग्रेजी के एक विचारवान् लेखक ने कहा है कि अपने मन में कम दोष होने से ही हमारी पर-छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति कम होती है। हम दूसरों पर दोषारोपण तभी करते हैं जब स्वयं हमारी ही मनोवृत्ति दूषित होती है।

"The fewer faults we possess ourselves, the less interest we have in pointing out the faults of other people."

इसलिए पहले अपने स्वभाव को शुद्ध करना आवश्यक है। साथ ही अपने स्वभाव को नियन्त्रण में रखना भी आवश्यक है। यदि आप में झूठ बोलने या बातों को अतिरंजित करने का स्वभाव होगा तो आपकी बातें हल्की हो जाएंगी। उस दशा में आप तिल का ताड़ बना लेंगे और स्वयं विवेक न कर सकेंगे कि यथार्थ क्या है? नेपोलियन ने लिखा है कि जो व्यक्ति सीधी बात को घुमा-फिराकर कहने का और अनुचित रीति से सफलता प्राप्त करके प्रसन्न होने का आदती हो जाता है वह उचित-अनुचित में कठिनाई से भेद कर सकता है। अर्थात् वह वचन-वक्रता से कार्य सिद्ध करने का व्यसनी हो जाता है।

"The man who habituates himself to the distortion of truth and to exultation at the success of injustice will atlast hardly know right from wrong." —Napoleon

ऐसा स्वभाव बनाकर आप दो-चार स्थानों पर बातें करने में भले ही सफल हो जाएँ, किन्तु बाद में आपकी बातों की असत्यता प्रमाणित होने पर समाज में उनका मूल्य घट जाएगा। बातों का मनोरंजक बनाना आवश्यक है किन्तु झूठ के लेप से नहीं। विचारों के स्वाभाविक सौन्दर्य, शब्दों के सौन्दर्य और स्वर के आकर्षण से उनको भूषित करना अधिक अच्छा होता है।

ज्ञान, विचार और स्वभाव के अतिरिक्त अपने स्वर पर ध्यान दीजिये। बाजा बेसुरा रहने से गानेवाला स्वर पर अधिकार ठीक नहीं गा सकता। स्वर से ही वाणी के विचार में बल आता है। उसी के अनुसार वाणी

ओजस्विनी, मधुर, हृदय-हारिणी या प्रभावशालिनी बनती है। उसीसे मनुष्य की आत्म-शक्ति का पता चलता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो यही है कि बीमारी में अशक्त होने पर बीमार का स्वर मन्द पड़ जाता है। स्वस्थ रहने पर स्वर ठनकने लगता है। स्वर के उतार-चढ़ाव से शब्दों के अर्थ और वक्ता के अभिप्राय में भेद पड़ जाता है। स्वर पर अधिकार रखने से ही विचारों का ठीक-ठीक विज्ञापन होता है।

यह आवश्यक नहीं कि अपनी शक्तिमत्ता दिखलाने के लिये चिल्लाकर बोला जाए। गला फाड़कर चिल्लाने से वीरता का बोध नहीं होता। बच्चे और अशक्त लोग ही प्रायः चिल्लाते हैं। चिल्लाना असमर्थता का द्योतक होता है। स्वर का उच्चारण स्पष्ट और कर्णश्रव होना चाहिये। उसमें गम्भीरता होनी चाहिये, पर कर्कशता नहीं, ओजस्विता होनी चाहिये पर सुकुमारता के साथ। उसको वहीं तक उठाना चाहिये जहाँ तक उसकी स्वाभाविकता विनष्ट न हो। उसको इतना गिराना भी न चाहिये कि आधी बात मुँह में रह जाय। उच्चारण की स्पष्टता और कर्णप्रियता वाणी के विशेष गुण हैं। अस्पष्टता और कर्ण-कटुता उसके प्रधान अवगुण हैं। शब्दोच्चारण से न तो शब्दों की तोप दागिये और न ओले बरसाइये। विचार के अनुसार ही उसको सुकुमार, गम्भीर, तीव्र या मन्द बनाइये। स्वर पर जिनका अधिकार नहीं रहता वे विनय की बातें करते समय भी ऐसे प्रतीत होते हैं मानों किसी को डाँट रहे हों। यह स्मरण रखिये कि स्वर की मिठास या कटुता से प्रायः लोग दूसरों की दृष्टि में प्रिय या अप्रिय बनते हैं—

> भले बुरे सब एक सों जब लौं बोलत नाँहि।
> जानि परत है काक पिक ऋतु बसन्त के माँहि ॥—वृन्द।

शब्द और व्याकरण

शब्द ही वाणी के हाथ-पैर होते हैं। शब्दों का पर्याप्त ज्ञान होने से ही उनके द्वारा भावों की ठीक-ठीक व्यंजना हो सकती है। ठीक समय पर ठीक भाव के लिये ठीक शब्द तभी मिल सकता है, जब आपका शब्द-ज्ञान, अर्थ-ज्ञान और शब्द-संग्रह विशाल हो। इसमें असावधानी होने पर आप कुछ-का-कुछ कह सकते हैं और बार-बार आपको अपनी ही बात की भाषा ठीक करनी पड़ेगी। शब्दों पर जिनका अधिकार नहीं होता उन्हींको बार-बार कहना पड़ता है कि मेरा अभिप्राय यह नहीं था। ठीक अर्थ को व्यंजित करने वाले शब्दों का ज्ञान होने से मनुष्य अपनी वाणी को सार्थक बना सकता है और ठीक निर्णय पर पहुँच सकता है। उसी प्रकार शब्दों के ठीक अर्थ जानने से वह दूसरों के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझ सकता है। शब्द-सामर्थ्य मनुष्य का विशेष गुण माना जाता है। यह देखा गया है कि जो लोग उच्च पद पर होते है उनका शब्द-संग्रह साधारण लोगों से अधिक होता है। दूसरे शब्दों में, आत्मोन्नति के लिये अधिक शब्दों का ज्ञान आवश्यक है। बिना उसके मनुष्य अपने को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर सकता और न दूसरों पर अधिकार ही जमा सकता है।

शब्द-संग्रह के समान ही उनका चुनाव और उनकी रचना भी आवश्यक है। कोष का रटना आवश्यक नहीं है; उसके उपयोगी और प्रचलित शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है। शब्दों के चुनाव और उनके द्वारा वाक्य-रचना से वक्ता की सुरुचि, सज्ञानता का पता चलता है। अच्छे कवि केवल सुन्दर शब्दों के चुनाव और उनकी क्रम-बद्ध रचना या शैली से ही भावों की तीव्रता बढ़ाकर उनको सजीव बना देते हैं। जब शब्दों का चुनाव

ठीक नहीं होता और मनुष्य उनको एक श्रृंखला में नहीं बाँध पाता, तभी वह शब्दों का घटाटोप खड़ा करता है या शब्द-कुठार चलाता है। किसी से बात करते समय इसका ध्यान रखिये कि आप मछली फंसाने नहीं एक विचारवान् जीव को वशीभूत करने निकलते हैं। कोई बुद्धिमान् शब्द-जाल में नहीं फॅसता। कठिन शब्दों की झड़ी लगाने से भी कोई प्रभावित नहीं होता। सरस एवं सरल शब्दों में व्यंजित अकाट्य तर्क-द्वारा ही दूसरों को प्रभावित या पराजित किया जा सकता है। उसी वक्ता की वाणी का प्रभाव पड़ता है जो थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक विचार भर सकता है। शब्दों की संख्या भावों की संख्या से सदैव कम होनी चाहिये और उनसे भावों की एकता और क्रम-बद्धता ही प्रकट होनी चाहिये। वास्तव मे, उपयुक्त अवसर के लिए उपयुक्त शब्दों का चुनाव करके सार-युक्त वाणी बोलने से ही सफलता मिलती है। निरर्थक शब्दों से विषय उन्हीं में खो जाता है और श्रोता को कभी इतना अवकाश नहीं रहता कि वह वक्ता के लिये बैठकर नीर-क्षीर-विवेक करे।

शब्दों में आप सरल, मर्मस्पर्शी और विचारोत्तेजक शब्दों का चुनाव कीजिये और उनको यथास्थान प्रयुक्त करने की योग्यता प्राप्त कीजिये। जिस भाषा में आप बोलते है, उसी के शब्दों का व्यवहार कीजिये। भाषा की वर्ण-संकरता उसके प्रवाह को नष्ट कर देती है। शिष्ट और संयत शब्दावली मनुष्य के बड़प्पन को बढ़ाती है। गन्दे शब्दों से अपना मुँह पहले गन्दा होता है; दूसरे का चाहे हो या न हो। भारती का कण्ठहार उज्ज्वल शब्द-रत्नों से ही बनता है। शब्द-योजना में व्याकरण का ध्यान भी वाणी को स्वस्थ बनाता है। इसपर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह सभी जानते हैं कि व्याकरण के

बिना भाषा का संगठन ठीक नहीं हो सकता और वह उच्छृङ्खल हो जाती है। शुद्ध और मुहावरेदार भाषा अधिक हृदय-हारिणी होती है।

मानव-स्वभाव का ज्ञान

विचार, स्वर और शब्द से अलंकृत भाषा भी यदि श्रोता के स्वभाव के विपरीत होती है तो वह उस पर प्रभाव नहीं डालती। जैसे, नायिका के हाव-भाव का वर्णन किसी रसिक को प्रिय लग सकता है किन्तु किसी कामकाजी को महाअप्रिय लगेगा। उसको उसकी अपेक्षा बाज़ार-भाव की चर्चा अधिक प्रिय लगेगी। लोगों की रुचि जानकर, उनकी परिस्थिति को ध्यान में रखकर उनके अनुकूल बातचीत करने से साधारण बातें भी उनको प्रिय लगती हैं। इसलिये अन्तर्वेदी अर्थात मर्मज्ञ बनिये।

यह स्मरण रखना चहिये कि प्रत्येक व्यक्ति एक अंश तक स्वार्थी और स्वाभिमानी होता है। सबका अलग-अलग दृष्टिकोण होता है। आप सबसे यह आशा नहीं कर सकते कि वे आपकी बातों को वेद-प्रमाण मानकर शिरोधार्य कर लें। उनका विरोध करते हुए भी यदि आप उनको अपनी बातों से जीतना चाहते है तो आपको उनके स्वभाव और उनके व्यक्तित्व का ध्यान रखना पड़ेगा। मानव-स्वभाव का ज्ञान अनुभव से ही हो सकता है। कुछ अन्य आवश्यक बातों का उल्लेख हम नीचे करेंगे।

छोटे मुँह बड़ी बात न कीजिये—आत्म-विश्वास और स्वाभिमान रखते हुए भी अपनी वास्तविक स्थिति का ध्यान रखिये और अपनी मर्यादा का ध्यान रखिये। उससे भी अधिक दूसरे की पद-मर्यादा और आत्म-सम्मान का ध्यान रखिये। आत्म-शक्ति के अनुसार ही अपना विज्ञापन करना शोभा देता है। अनधिकार-चेष्टा अप्रिय लगती है।

मैं-मैं न कीजिये—बहुत से लोग अपने ही विषय में इतने अनुरक्त हो जाते हैं कि वे हर बात में अपनी ही चर्चा करते हैं और आदत-वश 'मैं' शब्द का प्रयोग अधिक करते हैं। 'मैंने किया', 'मैंने कहा', आदि उनकी बात-बात में रहता है। दूसरों के सम्बन्ध में वे बात नहीं कर सकते और करते भी हैं तो दोषारोपण के साथ। ऐसा स्वभाव होने पर बातों में वे दूसरों को धराशायी बनाने के आदती हो जाते हैं और आत्म-प्रशंसा की बौछार करने लगते है। इसी को लक्ष्य करके एक विलायती विद्वान (E. F. Yeast) ने कहा है—

"You my have become a knocker and unconsciously slipped into the habit of finding fault. It is also easy to acquire the 'I' habit and to become self-centred and to incessantly talk about your own affairs."

इसका भावार्थ ऊपर दिया जा चुका है। सभ्य समाज में अधिक मैं-मैं करना बकरीपन या बिल्लीपन का द्योतक होता है। दूसरों को उनके विषय में अधिक बोलने का अवसर देना बातचीत का सुन्दर ढंग है। आपकी लीला आपके लिये रामलीला हो सकती है, पर दूसरों की दृष्टि में वह एक नाटक से भी कम मूल्यवती होगी। अतएव अपनी ओर किसी को विशेष आकर्षित करने के लिये अधिक बातचीत उसी को करने दीजिए और आप उसके ठीक विचारों को उत्तेजित कीजिये। दूसरे जैसा अपने को समझते हैं, उनको वैसा ही बताना वाक्-पटुता है और वैसा ही बताकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना व्यवहार कुशलता है। उनको गिराकर और उनकी छातीपर भार-रूप होकर काम निकालने

का प्रयत्न न कीजिये। वचनवीर सदा कायर गिने जाते हैं।

नाक में दम न कीजिये—किसी बात को बार-बार घोंटकर दूसरों के गले में उतारने का प्रयत्न न कीजिये। उससे सुनने-वाला ऊब जाता है और उसको बातों का भयंकर अजीर्ण हो जाता है। एक बात को बार-बार दोहराने से विचार-संकीर्णता का पता चलता है। जो बड़े बक्की होते हैं वे प्रायः झक्की और शक्की होते हैं।

आग लगाकर कौतुक न देखिये—किसी के विचारों को भड़काकर अथवा दो आदमियों में भेद डालकर स्वयं अपना काम निकालने की चेष्टा न कीजिये। बिना वेतन के अपने को किसी का जासूस बनाना महामूर्खता है। इधर की बात उधर लगाने से स्थायी लाभ नहीं होता, उलटे आत्म-सम्मान घट जाता है।

आकाश के तारे न तोड़िये—बातचीत में कल्पना-प्रसूत बातों का विशेष आश्रय न लीजिये। पैर को ज़मीन पर रखकर ऐसी बाते कीजिये जो सम्भव हों। बोलते-बोलते हवा में न उड़ जाइये, नहीं तो जिसके पास आप बैठे होंगे वह आपसे बहुत दूर हो जायगा। बढ़-चढ़कर बातें करने से तुच्छता प्रकट होती है।

अपनी निन्दा-स्तुति न कीजिये—यदि आप अपनी प्रशंसा करेंगे तो सर्वप्रथम तो कोई इस पर विश्वास न करेगा क्योंकि नीच-से-नीच भी आत्म-प्रशंसा करता है। दूसरे, कोई इसमें रस न लेगा क्योकि अपने मुख से अपनी प्रशंसा दूसरों को स्वभावतः प्रिय नहीं लगती। यदि आप मूर्खतावश या चालाकी से अपनी निन्दा करेंगे तो लोग समझेंगे कि जब यह स्वयं अपने को इतना बुरा समझता है तो वास्तव में न जाने

कितना बुरा होगा। निन्दा और स्तुति वही है जो दूसरों के मुख से निकले। अपने हाथ से अपने सिर पर फूल चढ़ाने या जूता मारने का प्रयत्न क्यों करें ? यह अस्वाभाविक है।

सिद्धान्तवादी न बनिये—छोटी-छोटी बातों को भी सिद्धान्त मानकर काठ की तरह जड़ न बनिये। शब्दों-द्वारा अपने सिद्धान्तों का विज्ञापन करके उनकी ओट में बैठने वाले लोग प्रायः सिद्धान्तों पर दृढ़ नहीं रहते। सिद्धान्तों का पालन कर्म से होता है, वचन-चातुरी से नहीं। दूसरों के न्याय-सम्मत विचारों के अनुसार अपने विचारों में परिवर्तन करने की गुंजाइश रखकर तब लोगों से विचारों का आदान-प्रदान कीजिये। ढोंग और पाखण्ड से सफलता नहीं मिलती।

काटने मत दौड़िये—कोई अप्रिय प्रसंग उपस्थित होने पर भी यथासंभव रसना की सरसता को विनष्ट न कीजिये। तुलसी की इस उक्ति को याद रखिये—

"तुलसी मीठे वचन ते सुख उपजत चहुँ ओर।
वसीकरण इक मत्र है, परिहरु वचन कठोर॥"

कबीर का भी एक उपदेश स्मरण रखने योग्य है—

"ऐसी बानी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै आपौ सीतल होय॥"

प्रज्ञाभिमानी और प्रतिकूलवादी होने से बचे रहिये। मूर्खता और दुष्टता के अतिरिक्त इन्हीं दो कारणों से लोग अनर्गल प्रलाप करते हैं। विचारहीन लोग भी बहुवक्ता होते हैं।

न्यायाधीश या समालोचक न बनिये—बातचीत में न तो जज की तरह नपे-तुले शब्दों में फैसला देने की मनोवृत्ति रखिये और न समालोचक की तरह दूसरों की छानबीन करने की।

उससे बातचीत की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। कोरे उपदेश से किसी पर प्रभाव नहीं पड़ता। अभियोग-जनक या आक्षेप-जनक वाणी सदा असह्य होती है। महामहोपदेशक बनने का प्रयत्न भी न कीजिये।

ज्ञान को कण्ठस्थ रखिये—दीर्घसूत्री बनकर बातें करने न बैठिये और न पुस्तकों के भरोसे रहिये। ज्ञान तो वही है जो आवश्यकता पड़ने पर अवतरित होने के लिये कण्ठ में आ जाय। यदि ऐसा न होगा तो आप समय पर अपने मत की पुष्टि न कर सकेंगे। सुन्दर सूक्तियाँ और प्रामाणिक वचन कण्ठस्थ रहने से समय पर बड़ा काम देते हैं। वे ही आपके वकील हो जाते हैं।

मौलिकता और सामयिकता का ध्यान सदैव रखिये—सफल वक्ता होने के लिये प्रत्युत्पन्नमति, कुशाग्रबुद्धि और प्रतिभाशाली होना आवश्यक है। नई सूझ का सभी सम्मान करते हैं। उधार लिये हुए विचारों का प्रभाव विशेष नहीं पड़ता। सामयिकता का ध्यान रखना तो आवश्यक है क्योंकि—

नीकी पै फीकी लगे, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात॥—वृन्द।

समय की सूझ ही तो सफलता की कुञ्जी है। प्रसंग के अनुसार भाषा के रूप में अन्तर पड़ जाता है। जहाँ काव्य की चर्चा हो वहाँ अलंकारयुक्त और भावुकतापूर्ण वाणी ही सर्वप्रिय मानी जाती है। जहाँ राजनीति का प्रसंग हो वहाँ युक्ति-पूर्ण, और व्यापार तथा काम-काज में नपी-तुली खरी बातों का ही मान होता है। वहाँ गोलमोल बातों से काम नहीं चलता।

सप्रयोजन और सप्रभाव बोलिये—जो कुछ भी आप बोलिये किसी उद्देश्य को सामने रखकर तर्क-सम्मत वाणी मे बोलिये। जिस प्रकार वकील अपने मामले को तैयार करके अपने पक्ष के

समर्थन में सावधानी से बोलता है, उसी प्रकार आप अपने विषय को तैयार करके गौरवपूर्ण ढंग से व्यक्त कीजिये। न घबराइये, न छटपटाइये और न निराशावादी बनिये। अन्त तक स्थिरमति से आशावन्त बनकर वाग्शक्ति का प्रयोग कीजिये और तथ्य को तर्कपूर्ण शब्दावली में सामने रखने का प्रयत्न कीजिये। अपने विषय पर अधिकारपूर्वक किन्तु विनययुक्त भाषा में बोलिये। विनययुक्त भाषा का अर्थ 'हें-हें' करना नहीं, बल्कि शिष्टता-पूर्वक बोलना है। बातचीत में शिष्टाचार और वेशभूषा का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। वकील की तरह या बनिये की तरह एक-एक शब्द तौलकर बोलिये। शीघ्रता से शब्द-प्रयोग करना प्रायः हानिकर होता है। अपने मत के समर्थन के लिये वकील ही की तरह प्रमाण दीजिये और ध्यान रखिये कि स्वयं आप ही के बयान से आपकी बात कहीं खंडित न हो। सामाजिक वाक्पटुता के सभी गुण भी वकीलों से न लीजिये। उनकी तरह मनगढ़न्त बातों का सहारा लेना प्रतिष्ठा-नाशक हो सकता है। उनके जिरह करने के गुण को भी अपनाना ठीक नहीं। बातचीत में पहेली बुझाना उसकी धारा को रोक देता है। वकीलों की तरह बात का बवंडर भी न खड़ा कीजिये। हाँ, सतर्क उन्हीं की तरह बनिये।

धारा-प्रवाह बोलिये—किसी विषय में निश्चित मत स्थापित करके जमकर बोलिए और शीघ्र न उखड़िये। धारा-प्रवाह का यह अर्थ नहीं कि आप बड़बड़ाने लगें और वाणी के प्रवाह में विषय, व्याकरण सब बह जाएँ। उसका अर्थ है विचारों की शृङ्खला को जोड़े रखना और एक निश्चित दिशा में आगे बढ़ना।

चित्रवाणी बोलिये—चित्रवाणी का यह अर्थ नहीं है कि आप आँख-भौंह मटकाकर नाटकीय ढंग से बात करें। इस

अध्याय के आरम्भ में हनूमान की वाणी के सम्बन्ध में हमने रामायण का जो अंश उद्धृत किया है, उसमें चित्र-वाणी का उदाहरण मिलेगा। चित्र-वाणी का अर्थ है अपने भावों और उद्‌गारों को स्वाभाविक एवं मनोरंजक ढंग से व्यक्त करना, वाणी के साथ-साथ आकृति और अंग-चेष्टाओं की अनुकूलता अर्थात् भाव को सचित्र बनाना। आकृति, संकेत, गति, चेष्टा, वातचीत, नेत्र तथा मुख के विकारों से मन की बात ठीक-ठीक प्रकट होती है—

"आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेन्तर्गतं मनः॥"

वाणी को सरस बनाने के लिये उसके विषय में रस लीजिये और यथासंभव नीरस और अनावश्यक चर्चा से बचिये। हँसकर, उपमाएँ देकर, कल्पना से रंजित करके, कलापूर्ण ढंग से व्यक्त की हुई भाषा विशेष प्रभाव-शालिनी होती है। शील और सौजन्य तो स्त्री की लज्जा और सदाचार की तरह भाषा के स्वाभाविक आभूषण होते हैं। हास्य-विनोद और भावुकता से भी वह सचित्र बन जाती है। किसी सुन्दर कला में रुचि रखने से भी उस विषय में वक्ता सुन्दर ढंग से बातें कर सकता है। चित्र-वाणी का प्रयोजन यह है कि श्रोता वर्णित विषय को अपने कल्पना-नेत्र से भी देख ले—

"तै बरनें निज वैनन सो सखि,
मैं निज नैनन सो मनु देखे।"—मतिराम

गुण-ग्राहक बनिये—स्वयं गुणी होकर भी दूसरों के गुणों का सम्मान कीजिये। पूजा करते समय जिस प्रकार आप जूते उतार देते हैं, उसी प्रकार दूसरों से बातें करते समय दूसरों के दोष जो आपके मस्तिष्क के पैर में धारित हों, उनको उतार

दीजिये। मक्षिका-वृत्ति लेकर आप केवल दूसरों की मवाद ही पा सकेंगे किन्तु भ्रमर-वृत्तिधारी होने पर आप मधु का संचय कर सकेंगे। निन्दक का कहीं सम्मान नहीं होता। जिससे आप बातें करते हैं, उसकी बातों से भी सार-अंश को ग्रहण कीजिये और यथावसर उसकी प्रशंसा हृदय खोलकर कीजिये। प्रशंसात्मक शब्दों में कंजूसी न कीजिये। आपकी प्रशंसा से दूसरे को आत्म-संतोष होगा और वह आपको गुणज्ञ समझेगा। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे की ओर आकर्षित रहेंगे और तभी प्रयोजन सफल होगा। प्रशंसा के पुल न बाँधकर स्वाभाविक रीति से दूसरे पर यह प्रकट कीजिये कि आप उसकी बातों के मर्म को समझ रहे हैं। उसके अनुकूल बनकर आप अपने भी सुझाव दीजिये जिससे कि वह समझे कि उसकी बातें आपके भावों को जगा रही हैं। वह कोई हित की बात कहे तो तत्काल धन्यवाद देने में न चूकिये। कोई आपका उपकार करे तो यथाशीघ्र उसके प्रति विनम्रतापूर्वक कृतज्ञता प्रकट कीजिये। दूसरे यदि अपने सम्बन्ध में कोई बात करते हों तो उपेक्षा न करके उसमे अपना व्यक्तिगत अनुराग प्रकट कीजिये और बोलनेवाले को उत्साहित कीजिये, उसकी उचित आकांक्षाओं को अधिक प्रबल बनाइये। लोगों से सहमत और एकमत होने की चेष्टा कीजिये लेकिन औचित्य और प्रयोजन तथा परिणाम को ध्यान में रखकर। किसी के सिद्धान्तों पर तथा लोक-प्रथा और धर्म पर शब्द-बाण न चलाइये। सहानुभूति प्राप्त करने के लिये, दूसरों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित कीजिये। सहनशील होकर ही आप गुणग्राही और लोक-प्रिय हो सकते हैं।

हितकारी वाणी बोलिये—बातचीत में सत्य का ध्यान रखना आवश्यक है, किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि

यह कठोर सत्य न हो। जहाँ कठोर सत्य कहने की विवशता हो और न्याय का प्रश्न हो वहीं अप्रिय सत्य भी कहना चाहिये अन्यथा अपने तथा दूसरों के हित को ध्यान में रखकर बोलना ही सत्य का सच्चा स्वरूप होता है। इस विषय में आप मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की इस सम्मति को ध्यान में रखिये, जो उन्होंने वन-गमन के समय सुमंत्र को दी थी। राम जब रथ में बैठकर अयोध्या से जाने लगे तो राजा दशरथ अधीर होकर रथ के पीछे दौड़े और दूर से चिल्लाकर सुमंत्र को आज्ञा देने लगे कि रथ को खड़ा कर दो, किन्तु राम ने आज्ञा दी कि रथ को तेज़ करो। सुमंत्र को धर्म-संकट में पड़े देखकर राम ने कहा कि लौटने पर यदि राजा तुमसे रुष्ट होकर पूछे कि राजाज्ञा का पालन क्यों नहीं किया तो कह देना कि रथ के चलने के शब्द के कारण आपका कहना सुनाई नहीं पड़ा—हम (झूठ बोलने के लिये) इस हेतु कहते हैं कि दुःख को बहुत काल तक रखना पाप का मूल होता है।

इस नीति को ध्यान में रखकर प्रियवक्ता बनिये, पर अत्यधिक नहीं। अत्यधिक प्रियवक्ता होने से झूठा होना पड़ता है और 'प्रियवक्ता भवति धूर्त्तजनः'। यथासंभव सत्य को भी विनम्रतापूर्वक ही बोलिये और अवसर देखकर झुक भी जाइये। अकड़े रहने से पेड़ की तरह आँधी में टूटने का डर भी रहता है। दूसरों का प्रबल वेग देखकर झुकना भी सीखिये क्योंकि उनका वेग शान्त होने पर आप फिर खड़े तो मिलेंगे। स्वयं झुक-कर दूसरों पर विजय करना (stoop to conquer) आजकल की एक विशेष युक्ति मानी जाती है।

अनुभव-हीनता न प्रकट कीजिये—किसी बात में दूसरों पर यह न प्रकट कीजिये कि आप बिल्कुल कोरे हैं। यदि आप कोरे

हों तो यथासंभव मौन रहिये ('मौनं सर्वार्थ साधनम्') और दूसरे को अपना ज्ञान उगलने दीजिये। उसकी बातों में से आपकी बातों के लिए आपको सामग्री मिल जायगी। बीच-बीच में उससे सहमत होते रहिये। यदि आप विशेष बुद्धिमान् हैं तो आदर्शवादी नहीं, बल्कि यथार्थवादी बनकर बातें कीजिये अन्यथा आपके ज्ञान की शुष्कता और निरर्थकता प्रकट होगी। दूसरे पर अपनी बुद्धि की सर्वमान्यता न प्रकट कीजिये। विचारों का स्वतन्त्र आदान-प्रदान कीजिये, पर अपने सभी रहस्यों को खोलकर दूसरों के सामने न रखिये। इस सम्बन्ध में एक अनुभवी लेखक ने लिखा है कि दूसरों से बुद्धिमान् बनो किन्तु उनको अपनी बुद्धि की थाह मत लेने दो—

"Be wiser than other people but do not tell them so."

बातचीत करते समय आप दूसरों की बातों से ही नहीं उनकी आकृति आदि से भी उनके मर्म को तोड़िये और चुपचाप उनके अभिप्राय को समझकर सावधान होकर बातें कीजिये। शब्दों ही से किसी के सम्पूर्ण भाव की गहराई न नापिये। शेक्सपीयर ने लिखा है कि शैतान अपना काम निकालने के लिये धर्मशास्त्र का पाठ भी कर सकता है—"The Devil can cite Scripture for his purpose." अतएव बातों में विशेष न फँसिये। दूसरों के मस्तिष्क को पढ़िये और उसके अनुसार बातें कीजिये।

बातों में उलझने या झगड़ने से भी अनुभवहीनता प्रकट होती है। प्रायः वही लोग झगड़ते हैं जिनमें तर्क-बुद्धि नहीं होती अथवा जो असहिष्णु होते हैं। विरोधी के साथ भी तर्क कीजिये और उसको यह विश्वास दिलाइये कि आप उसकी बात के

तथ्य को समझकर तर्क कर रहे है। वह आपकी गुण-ग्राहकता पर अवश्य रीझेगा। किसी साधारण विषय में अपनी अन-भिज्ञता प्रकट करके चौंकने से आपका छोटापन सिद्ध होगा। 'गोल्डस्मिथ' का यह कथन याद रखिये कि छोटी वस्तुएँ उन्हीं को महान् लगती हैं जो स्वयं छोटे होते है—

"Little things are great to little men."

बड़ों से मिलिये—यथासंभव अपने से बड़ों में प्रविष्ट होने का और उनसे बाते करने का सौभाग्य प्राप्त कीजिये। मूर्ख के साथ सम्पूर्ण जीवन बिताने की अपेक्षा अनुभवी व्यक्ति के साथ एक घंटा बिताना अधिक फलदायक होता है। अपने से बड़ों से मिलने पर शिष्टाचार का ध्यान रखिये, उनकी प्रतिष्ठा का ध्यान रखिये, उनके साधारण निवेदन को भी उनकी आज्ञा मानिये और मिलने के बाद उनकी बातो को बॉटते न घूमिये। उनको आप जो भी वचन दे उसका अक्षरशः पालन कीजिये। बातचीत में और उसके बाद भी न तो उनकी बात को काटिये और न उसको खाली होने दीजिये। उसको सिर और ऑखों पर रखिये।

व्यक्तित्व से प्रभावित कीजिये—व्यक्तित्व में बड़ा आकर्षण होता है। जब आप किसी से मिलते हैं तो अपने व्यक्तित्व को उद्दीप्त करके मिलिये। उसी को व्यक्तिगत आकर्षण-शक्ति (Personal magnetism) कहते है। व्यक्तित्व की सौम्यता और शील-सुजनता तथा मनोहर वाणी से सभी वश मे हो जाते है। मिलने पर निर्भय रहिये; ऑख-से-ऑख मिलाकर और समय-समय पर श्रोता को उसके नाम या उसकी पदवी से सम्बोधित करके बातें कीजिये। उससे आपके व्यक्तित्व का ठीक विज्ञापन होगा। श्रोता का कम-से-कम समय लीजिये और प्रथम परिचय मे दस मिनट से अधिक समय न लीजिये। उस दस मिनट में

कोई स्वार्थ की चर्चा न कीजिये; नवपरिचित के ही सम्बन्ध में पूछताछ कीजिये। पूर्व परिचित से मिलने पर भी उसके स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में कुशल-प्रश्न तो पूछ ही लीजिये। यथासंभव लोगों के घर पर मिलिये, कार्यालय में काम से ही मिलिये। जहाँ भी मिलिये वहाँ कातरोक्तियाँ न सुनाइये। विना अधिक भूमिका बाँधे हुए मूल विषय पर यथा-शीघ्र पहुँचिये और उस विषय में यदि कोई नई बात सूझती है तो उस सूझ का श्रेय स्वयं न लेकर दूसरों को लेने दीजिये। उससे आपका बड़प्पन ही प्रकट होगा। अपने मुख से दूसरों को श्रेय देकर भी दूसरों के मन के सारे श्रेय के भागी आप ही होंगे।

यदि आप किसी पद पर हों तो अपने व्यक्तित्व को सर्व-सुलभ न बनाइये। उस दशा में अधिक घुलना-मिलना नहीं, बल्कि अधिक गम्भीर बने रहना ही आपके अधिकार को दृढ़ करेगा। सुप्रसिद्ध लेखक बर्नार्डशॉ ने अपने विषय में लिखा है कि मैं बहुत बोलता हूँ; धीर प्रकृति होकर शक्तिमान् बनने का प्रयत्न मैंने कभी नहीं किया—

"I talk a great deal. I have never set up to be a strong silent man." —G. B. Shaw.

मौन रहने से और वचन-गंभीरता से निश्चय ही अधिकार-शक्ति बढ़ती है।

ध्यान से सुनिये—ध्यान से सुनना भी अच्छी बातचीत का एक प्रधान अंग है। कभी-कभी स्वयं बोलने की अपेक्षा दूसरों की बातें ध्यान से सुनना अधिक प्रभावोत्पादक होता है। दूसरों को रिझाने की यह सर्वोत्तम युक्ति है। अंग्रेजी में किसी की एक छोटी-सी कविता है जिसमे इस कला की महत्ता बतलाई गई है। वह यह है—

Would you know the way to woo him ?
It is simple—listen to him !
Listen graciously and sweetly,
Listen subtly and discreetly,
Listen with intelligence,
With wide-eyed awe and eloquence,
He'll find endless fascination,
In such brilliant conversation !

(भावार्थ—दूसरों को रिझाने का उपाय जानते हो ? बहुत सरल है—उनकी बातों को ध्यान से सुनो; मुग्ध होकर, सरस बनकर, सूक्ष्मता और सावधानी से सुनो; समझदारी के साथ आश्चर्य-चकित होकर, वाक्पटुता या चाटुकारिता के साथ सुनो। इस प्रकार की मनोहर ढंग की बातचीत में उनको अपार आनन्द मिलेगा अर्थात् इस प्रकार वे आपकी ओर अत्यधिक आकर्षित होंगे।)

इसमे सन्देह नहीं कि पर संतोषण के लिये दूसरों की बातों को मंत्रमुग्ध होकर सुनना सर्वोत्तम साधन है। किसी अहंकारी से पाला पड़ने पर इसी साधन का प्रयोग कीजिये। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखिये कि सुनने वाला मूर्ख और अनुदार बुद्धि का न हो।

बातचीत के प्रभाव, उपयोग और ढंग के सम्बन्ध में यही कुछ मुख्य बातें है। देश, काल और पात्र के अनुसार ही निर्णयात्मक बुद्धि से इस शक्ति का प्रयोग करना उचित है। मानव-जीवन में बातों का बड़ा महत्त्व है क्योंकि प्रत्येक विषय में सब यही देखते हैं और जानना चाहते हैं कि लोग क्या कहते हैं।

किसी विषय का विषयी या विशेषज्ञ होने की अपेक्षा व्यवहारज्ञ या उपायज्ञ होना अधिक सांसारिक सफलता देता है। विद्या-वारिधि होकर भी यदि कोई व्यवहार-चतुर न हो तो उसकी विद्वत्ता घर ही मे रक्खी रह जाती है। इसके विपरीत, विद्या-शून्य होकर भी मनुष्य यदि व्यावहारिक बुद्धिवाला होता है तो वह अपनी साधारण योग्यता से भी बड़ा काम निकाल लेता है और लोकप्रिय बन जाता है। सारा संसार-व्यापार व्यवहार के आधार पर चलता है।

व्यवहार-ज्ञान की कोई एक रूपरेखा नहीं बनाई जा सकती। स्थान, कार्य, परिस्थिति, काल और व्यक्ति-भेद से उसकी कला में अन्तर पड़ जाता है। जो बात एक स्थान पर अनुचित एवं अधर्म मानी जाती है, वह दूसरे प्रसंग में उचित अतएव कर्त्तव्य बन जाती है। दैनिक जीवन में सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, परन्तु राजनीति तथा व्यवसाय में युक्तिपूर्ण व्यवहार ही सर्वमान्य है। युक्ति के साथ कुछ छल अवश्य मिश्रित रहता है। शुक्राचार्य ने लिखा है कि युक्ति प्रायः छल-युक्त होती है—'युक्तिः छलात्मिका प्रायः।' और यह भी लिखा है कि जहाँ युक्ति-शक्ति दोनों संयुक्त रहती हैं, वहाँ चारों ओर से विजय मिलती है—

"यत्र नीतिबले चोभे तत्रश्रीस्सर्वतोमुखी।" शुक्रनीति

इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि शुद्ध सत्य ही एक मात्र व्यावहारिक धर्म है। कहीं-कहीं युक्ति-द्वारा ही सत्य-धर्म

की रक्षा होती है। कृष्ण के जीवन-चरित्र से यह बात ठीक-ठीक समझी जा सकती है। जो कृष्ण महाभारत के आदि में अर्जुन को गीता-धर्म का उपदेश देते थे, वही परिस्थितिवश अर्जुन से विजय-लाभ के लिये कहते थे कि तू अब धर्म को त्याग दे—'धर्ममुत्सृज्य पांडवाः।'—द्रोणपर्व। इससे यही प्रमाणित होता है कि समयानुकूल कल्याणकारी आचरण ही श्रेष्ठ व्यवहार-धर्म है। बृहस्पति ने कहा है कि केवल प्राचीन शास्त्रों के आधार पर अपने कर्त्तव्य का निर्णय नहीं करना चाहिये; युक्तिहीन विचारों से धर्म-हानि होती है, अर्थात् कर्त्तव्य-कर्म पूर्ण नहीं होता—

"केवल शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीन विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥"—बृहस्पतिः

दूसरे शब्दों मे—कोरे आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी होना चाहिये; धर्मावतार न बनकर समय-चतुर (अवसरवादी नहीं) बनना चाहिये। समय-चतुर वह है जो इस बात को जाने कि कब, कहाँ और किसके साथ कैसे व्यवहार करना चाहिये? वह व्यवहार युक्तिपूर्ण होकर भी जब नैतिकता पर अवलम्बित रहता है तभी सफल होता है। सत्य-पक्ष की दृढ़ता के बिना, केवल बुद्धि-कौशल या उपाय से विजय नहीं होती। जिससे अन्त में सत्य की प्रतिष्ठा हो, वही श्रेष्ठ युक्ति है और वही मानव-धर्म है।

इस विषय को विशेष विस्तार न देकर हम जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में व्यवहृत आचार के मूल सिद्धान्तो की ओर संकेत करेंगे। उनसे यह विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा और यह भी ज्ञात होगा कि कहाँ शुद्ध-सरल आचरण ही व्यवहार-धर्म है और कहाँ युक्ति-पूर्ण आचरण सत्य-धर्म की मर्यादा को बचाता है।

गृह-नीति

घर एक ऐसा स्थान है जहाँ पर शुद्ध सत्य-अहिंसा-विश्वास-समन्वित व्यवहार ही सुखदायी होता है। पारस्परिक सद्भाव और सद्व्यवहार से ही घर स्वर्ग हो जाता है। दाव-पेंच, कलह, छल-कपट से वही नरक हो जाता है। गृह-नीति सम्बन्धी इन मुख्य बातों पर ध्यान दीजिये—

१—परिवार किसी एक का नहीं, प्रत्येक पारिवारिक प्राणी का होता है। अपने घर में सब बादशाह होते हैं, सब अपने अधिकारों की रक्षा चाहते है। उस स्वराज्य मे कोई अपमानित या तिरस्कृत नहीं होना चाहता। बाहर के अपमान लोग सह लेते हैं, परन्तु अपने घर में घरवालों द्वारा किया हुआ अपमान नहीं सह सकते। बाहर निर्धन होकर रह सकते हैं, परन्तु भाई-बन्धुओं के बीच में निर्धन बनकर कोई नहीं रहना चाहता—'न बन्धुमध्ये धनहीन जीवनं।' मानव-स्वभाव ऐसा ही होता है। इसलिये घर के छोटे-से-छोटे प्राणी की मान-रक्षा, स्वार्थ-पूर्ति होने से वह संतुष्ट रहता है और गृह सुसंगठित रहता है। उपेक्षा, अन्याय से भीतर-भीतर विष फैलता है। पारस्परिक सहानुभूति, त्याग और प्रेम-व्यवहार से ही गृह-मर्यादा स्थापित रहती है।

कम-से-कम आजकल घरो में भी प्रजातन्त्र होना चाहिये। किसी एक की स्वेच्छाचारिता या निरंकुशता से घर का वातावरण पुराने हैदराबाद जैसा हो जाता है। गृह-स्वामी अब पत्नी को गृह-दासी बनाकर नहीं रख सकता। यह समानाधिकार का युग है। समय-परिवर्तन से स्वाधिकार और स्वतन्त्रता की भावनायें समस्त वायु मण्डल मे भर गई हैं। अतएव किसी एक व्यक्ति का स्वच्छन्द शासन या अत्याचार दूसरों पर न होना चाहिये और सर्व-सम्मति तथा पारस्परिक सहयोग से ही

घर का शासन चलाना चाहिये। घर में कोई तुच्छ प्राणी नहीं होता। घर के छोटे प्राणियों का सहयोग भी नितान्त आवश्यक होता है, क्योंकि चाणक्य के मत से, भूसी के बिना चावल नहीं उग सकते—'तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः।'

२—गृह-प्रजातन्त्र का एक मुखिया अवश्य होना चाहिये। नीति का वचन है कि जिस कुल में सभी मनुष्य नेता हों, अथवा सभी अभिमानी हों, या सब महत्त्व की इच्छा रखते हों, वह कुल नष्ट हो जाता है—

"सर्वे यत्र विनेतारः सर्वे यत्राभिमानिनः।
सर्वे महत्वमिच्छन्ति कुलतदवसीदति॥"

मुखिया का अर्थ पुलिस-कप्तान नहीं है। बहुत से गृह-पति या पिता पुलिस-कप्तान जैसे लगते हैं। उनको चौबीसों घण्टे कोप का प्राकृतिक बुखार चढ़ा रहता है। वे आतंक-बल से सब पर प्रभुत्व रखना चाहते हैं, अहंकार प्रदर्शित करते हैं और घर में एक-दूसरे के पीछे जासूस लगाकर सबका भेद लेना चाहते हैं। घर में ऐसा सरकारी ढंग का मुखिया न चाहिये। वहाँ तो सत्य-अहिंसा और सेवा-भाव को अपनाने वाला अनुभवी नेता चाहिये। अर्थात् गृह-पालक को ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे लोग स्वाभाविक रीति से उसके बड़प्पन का सम्मान करें। घर में फौजी-व्यवहार की क्या आवश्यकता? वहाँ उद्दण्डता या संशय का वातावरण बनाना घर को कवायद का मैदान या खुफिया-पुलिस का दफ्तर बनाना है। पिता के लिए एक संस्कृत शब्द 'तातु' है जिसके अर्थ में ही उसका धर्म इंगित है। पिता, अर्थात गृहाध्यक्ष की शोभा और शक्ति उसके सहनशील एवं क्षमावान् होने में ही है। उसके साधु-व्यवहार से गृह-निर्वाह होता है और अहंकारात्मक-व्यवहार से गृह-दाह।

३—घर के तीन प्रकार के मुख्य प्राणियों के साथ तीन प्रकार का व्यवहार करना पड़ता है। बच्चों के साथ शुद्ध स्नेह और सरलता का व्यवहार करना उचित है। शास्त्र के मत से पुत्र-तीर्थ सब तीर्थों में श्रेष्ठ माना गया है। स्त्रियों के सम्बन्ध में शास्त्र का मत है कि उनका अपमान होने से घर मे लक्ष्मी नहीं ठहरती। उन्हें हिन्दू-शास्त्र गृह-लक्ष्मी मानता है। तीसरे प्रकार के मुख्य प्राणी वृद्धजन हैं। वृद्धों के साथ व्यवहार में बहुत सावधान रहना चाहिये क्योंकि अशक्तता के कारण उनके स्वभाव में नीरसता, निराशा, युवकों के प्रति द्वेष-भावना, उत्साह-हीनता रहती है, अतएव वे संसार को इन्हीं दृष्टिकोणों से, अपनी थकी हुई आँखों से देखते हैं। उनके साथ युवकों का दृष्टिकोण प्रायः नहीं मिलता। इस विषमता को देखकर ही सम्भवतः प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने यह विधान बनाया था कि एक निश्चित आयु के बाद वे जंगल निवासी हो जाएँ। अब यह सम्भव नहीं है। गृह-शान्ति के लिए यही आवश्यक है कि वृद्धों के साथ उचित व्यवहार किया जाय। अँग्रेजी की इस कहावत को याद रखना चाहिये कि बुढ़ापा दूसरा बचपन है—'Old age is second childhood.'

४—गृह-व्यवहार में अतिथि-सत्कार का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। उससे घर की प्रतिष्ठा और मर्यादा बढ़ती है। चाणक्य ने एक श्लोक मे लिखा है कि "आइये, यहाँ विराजिये, यह आसन है; बहुत दिनों के बाद दिखलाई पड़े, क्या नई बात है, बाल-बच्चों सहित कुशल से तो हैं ? मैं आपके दर्शन से बहुत प्रसन्न हुआ; इस प्रकार जो घर आये हुए का आदर से स्वागत करता है, उसके घर निःशंक मन से जाना चाहिए।" सद्गृहस्थ का यही श्रेष्ठ धर्म है कि वह घर पर आये हुए छोटे

व्यक्ति को अपने से बड़ा माने। वामन भी यदि अतिथि होकर आये तो उसको विराट् समझना चाहिये।

मित्र-नीति

१—मित्रता के व्यवहार में यह स्मरण रखना चाहिये कि मित्रगण एक-दूसरे के गोद लिये बन्धु होते हैं। अतः परस्पर बन्धुवत् व्यवहार ही उचित है। पराये को अपना बना लेने में मनुष्यता की बड़ी भारी विजय होती है। वह तभी सिद्ध होती है जब परस्पर सद्भावना, सवेदना प्रकट होती रहे और दोनों ओर का स्वार्थ दबा रहे। सम-स्वभाव वालों की ही मित्रता टिकती है।

२—सहसा न तो किसी को मित्र बनाना चाहिये और न किसी का मित्र बन जाना चाहिये। बहुत-से लोग सामने स्वार्थ-वश मित्र और पीठ पीछे महास्वार्थ-वश या स्वभाव-वश शत्रु का आचरण करते हैं। अंग्रेजी की इस नीति को याद रखना चाहिए कि प्रकट शत्रु, संदिग्ध मित्र से अच्छा होता है—'An open enemy is better than a doubtful friend.' रूप और मीठी बातों के धोखे मे भी न पड़ना चाहिए। तुलसी की यह उक्ति प्रायः चरितार्थ होती है—'मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विषरस भरा कनक घट जैसे ॥' इसलिये पहले परिचित बनना चाहिये, फिर परस्परज्ञ, तब सुहृद्। सबको अंतरंग मित्र मानकर मित्रोचित व्यवहार करना घातक होता है। जो केवल समय और स्वार्थ के साथी होते हैं उनसे बुद्धिमान् लोग दूर रहना पसन्द करते हैं। वही मित्र श्रेष्ठ होता है जो सम्पत्ति-विपत्ति में एक-सा व्यवहार करे। विपत्ति के दिनों में जो मित्रता जमी रहती है वही चिरस्थायी होती है। तुलसी ने

कहा है कि संकट ही में मित्र की परीक्षा होती है—'आपतिकाल परखिये चारी। धीरज धरम मित्र अरु नारी।'

३—विद्वानों के मत से अच्छे मित्र के ये लक्षण हैं—वह अपने साथी को अपराध करने से रोकता है, उसको हितकर कार्य में लगाता है, उसकी गुप्त बातों को छिपाता है, उसके गुणों का ढिंढोरा पीटता है, विपत्ति में साथ नहीं छोड़ता और समय पड़ने पर आर्थिक सहायता भी करता है—

"पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं च न जहाति, ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥"

किसी का सहृदय मित्र बने रहने के लिये इन गुणों को अपनाना चाहिये। एक मित्र को दूसरे पर इतना विश्वास होना चाहिये कि वह परस्पर वैदिक ऋषियों की भाषा में साभिमान यह कह सके कि 'तुम्हारे जैसे व्यक्ति का मित्र कभी विनष्ट नहीं होता।' 'न रिष्येत्त्वावतः सखा।'

४—एक-सी स्थिति अथवा एक-सी विषम स्थिति में रहनेवाले व्यक्तियों में प्रायः अधिक घनिष्ठता और पारस्परिकता होती है। कांग्रेस वालों की जेल-मित्रता इसका स्पष्ट उदाहरण है। गाढ़े दिनों की मित्रता प्रायः खंडित नहीं होती। इसलिये किसी के हृदय पर पूर्ण विजय करनी हो तो उसके दुःख के दिनों में उसकी सहायता करनी चाहिये। वहीं मनुष्यता जागती है और जब मनुष्यता जागती है तो निश्चय ही एकात्मता होती है।

५—मित्रता करना सरल है, परन्तु उसको निभाना कठिन है। निभाने के लिये कुछ विशेष बातों पर ध्यान देना चाहिये। पहली बात तो यह है कि किसी मित्र से अनुचित लाभ लेने का दुष्प्रयास न करना चाहिये। आपस में लेन-देन का व्यवहार

पारस्परिक स्नेह को कम करता है। देनेवाला बड़ा बन जाता है और लेनेवाला छोटा। इस प्रकार समानता का भाव नष्ट होने से मित्रता का तराजू ऊपर-नीचे होने लगता है। दूसरी बात यह है कि मित्रों के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप न करना चाहिये और न किसी अवसर पर उनका उपहास ही। मित्र होने के कारण कोई अपना व्यक्तित्व नहीं खो देता। इसके अतिरिक्त स्वयं अधिकाधिक सहनशील होना चाहिये। जल्दी भड़कनेवाले लोगों की सगति किसी को प्रिय नहीं लगेगी। किसी विषय में दुराग्रह या छल-कपट करके अथवा दम्भ दिखलाकर मित्र को वशीभूत करने का प्रयास न करना चाहिये।

कैसा भी मित्र हो, उससे अत्यधिक आशा नहीं की जा सकती। सबके स्वतन्त्र स्वार्थ और सबकी स्वतन्त्र विवशताएँ होती हैं। सज्जन-से-सज्जन मित्र भी एक सीमा तक ही अपने स्वार्थ का त्याग कर सकता है। अतएव अपनी मित्रता को किसी के लिये भार-स्वरूप न बनाना चाहिये। शास्त्र का यह कथन एक अंश तक मान्य है कि मित्र का भी अत्यधिक विश्वास न करना चाहिये क्योंकि मित्र के भी मित्र होते हैं, जिनसे वह गुप्त भेद प्रकट कर सकता है, अथवा कभी स्वयं वैरी होकर उन बातों का दुरुपयोग कर सकता है।

६—मित्रता में छोटे-बड़े का ध्यान नहीं होता, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई मित्र उच्च पदाधिकारी हो जाय और आप बाबू ही बने रहें तो भी उसके साथ समानता का दावा करें या उसके बल पर स्वय ऐंठने लगें। इस सम्बन्ध में अँग्रेजी की यह नीति मान्य है कि उच्च पदस्थ मित्र को अपना खोया हुआ मित्र समझना चाहिये—'A friend in power is a friend lost.' सभी तो नहीं खो जाते, परन्तु अधिकांश व्यक्ति

पद-मद में उन्मत्त होकर या बहकर अवश्य खो जाते हैं। यदि सज्जनता-वश ऐसे लोग मित्र बने रहें, तो भी उनके बल पर स्वयं बलान्ध न होना चाहिये। चिकित्सक के भरोसे कोई जान-बूझकर विष थोड़े ही खाता है! पर-बल से कोई स्वयं बलवान् नहीं बनता।

७—मित्रता के व्यवहार में सदैव सतर्क रहना चाहिये। थोड़े संशय से भी उसका मूल नष्ट हो जाता है। बार-बार मिलने-जुलने से ही वह जीवित रहती है। परन्तु बहुत मिलने-जुलने से भी वह फीकी पड़ जाती है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।'

लोक-नीति

लोक में ही व्यवहार-कुशलता की सर्वाधिक आवश्यकता होती है क्योंकि वहाँ पर भिन्न-भिन्न स्वभाव, श्रेणी के व्यक्तियों के सम्पर्क में रहना पड़ता है। लोक-व्यवहार-सम्बन्धी कुछ मुख्य-मुख्य बातें ये हैं—

१—शिष्टता ही लोक-व्यवहार की आत्मा होती है। शिष्टाचार और सौजन्य के प्रदर्शन से मनुष्य का बड़प्पन प्रकट होता है। इस सम्बन्ध में हमें राम-रावण युद्ध के बाद की एक घटना याद आती है। रावण रणभूमि में पड़ा था; राम ने लक्ष्मण से कहा—राक्षसराज लोकनीति का और राजनीति आदि का प्रकाण्ड पंडित है, उससे मृत्यु-पूर्व कुछ उपदेश ग्रहण कर आओ। लक्ष्मण रणस्थली मे जाकर उसके सिरहाने खड़े होगये। रावण के पूछने पर उन्होंने अपने आने का कारण बतलाया। नीतिज्ञ रावण ने स्वाभिमानपूर्वक कहा—तुम राजपुत्र होकर भी लोक-शिष्टाचार नहीं जानते; शिक्षा की भिक्षा मांगनेवाला शिक्षक के सिर पर नहीं, उसके पैर के पास खड़ा होता है और जब तक तुम लोक-मर्यादा का पालन नहीं करते तब तक मैं तुम्हें ज्ञान-

दान नहीं दे सकता। लक्ष्मण तत्काल सचेत हो गये और उसके पैरों के पास विनम्रतापूर्वक खड़े हो गये। रावण ने उनको उपदेश दिया कि कभी किसी कार्य को वादे पर न टालना।

शिष्टाचार का पालन बड़ों के साथ ही नहीं, छोटों के साथ भी उतना ही आवश्यक है। सुप्रसिद्ध विद्वान् कार्लाइल ने लिखा है कि छोटों के साथ सद्व्यवहार करके ही बड़ा आदमी अपने बड़प्पन को प्रकट करता है—

"A great man shows his greatness by the way he treats little men." —Carlyle.

इस सम्बन्ध में हमें राम का आदर्श सामने रखना चाहिये। राम अपने व्यवहार में कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे। उदाहरणार्थ, वे विभीषण के भाग्य-विधाता थे, परन्तु रावण की मृत्यु के बाद जब सीता को अशोक-वन से लाना हुआ तो उन्होंने हनूमान से कहा कि राजा विभीषण की आज्ञा लेकर लंका में प्रवेश करो और सीता को लाओ। साथ ही, उन्होंने विभीषण से निवेदन किया कि सीता को लाने की अनुमति दीजिये। लंका-विजेता राम के लिये यह सब आवश्यक नहीं था, परन्तु विजयी होकर भी वे अपनी स्वभाव-सिद्ध शिष्टता की मर्यादा को कैसे त्यागते!

२—सामाजिक जगत् में कहीं भी अन्धा न बनना चाहिए—न स्वर्थान्ध होना चाहिये, न मदान्ध और न धर्मान्ध। जिसको रतौन्धी होती है उसको आकाश के नक्षत्र भी नहीं दिखलाई पड़ते। अपने को दूसरों की परिस्थिति मे रखकर उनके दृष्टिकोण से भी किसी वस्तु को देखना चाहिये। सार्वजनिक बातों में व्यक्तिगत बातों का समावेश न करना चाहिये। अपनी दृष्टि में लोकाचार यदि मिथ्याचार समझ पड़े, तो भी उसको सदाचार

ही मानना चाहिये। कितना भी शुद्ध लोकाचार हो व्यक्तिगत दृष्टि से वह कुछ कृत्रिम होता ही है। समाज की रुचि के अनुकूल अपने को बनाना पड़ता है।

३—समाज में अपनी शान्ति-प्रियता ही प्रकट करनी चाहिये। वाणी-व्यवहार से ऐसा न प्रकट होना चाहिये कि लोग हमें नारद का वंशधारी समझें। लोकप्रियता से लोक-सम्पत्तियाँ सुलभ हो जाती हैं—'जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः।'—भारवि।

४—व्यवहार में अपने स्वाभिमान और दूसरों के मानापमान का भी ध्यान रखना चाहिये। गाँधीजी के इस उपदेश को ध्यान में रखना चाहिये कि बिना अपनी स्वीकृति के कोई व्यक्ति आत्म-सम्मान नहीं गँवाता।

"No person loses honour or self-respect but by his consent." —Mahatma Gandhi.

कोई ऐसा कर्म न करना चाहिये, जिससे अपनी हँसी हो अथवा दूसरों का मान-मर्दन हो। हास-परिहास, चाल-ढाल, रहन-सहन, वेश-भूषा सभी से अपना गौरव प्रकट करना चाहिये। यदि कोई सुपात्र हुए बिना ही चाहता है कि लोग उसका अभिनन्दन करें तो ऐसा नहीं हो सकता। लोग उसी के आगे नतमस्तक होते हैं जिसको वे अपने से योग्य और सबल मानते हैं। मिथ्याभिमान से अपना अपमान होता है।

५—समाज में निर्बलों का मान सदैव रक्षणीय है। मुख्यतः स्त्रियों पर आँख और हाथ उठाना असभ्यता है। स्त्रियों के साथ दारुण व्यवहार भी समाज में असह्य होता है। वाल्मीकि का मत है कि सज्जन लोग स्त्रियों पर कभी अत्याचार नहीं करते। लक्ष्मण जब सुग्रीव पर भयंकर कोप करके किष्किंधा में पधारे थे तो सुग्रीव को यही नीति याद आई थी। उसने तारा से कहा

कि तुम्हीं आगे जाकर मिलो क्योंकि तुम्हारे जाने से लक्ष्मण-जैसे नरश्रेष्ठ का क्रोध शान्त हो जायगा—'नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम्।' उसका अनुमान सत्य निकला।

६—यदि कहीं क्रोध करने की आवश्यकता पड़े तो वहाँ अपनी तेजस्विता का ही विज्ञापन करना चाहिये, उच्छृंखलता का नहीं। नीतिवाक्य है कि अपना तेज प्रकट करते रहना चाहिये; काठ की अग्नि का सब उल्लंघन करते हैं, परन्तु जलती हुई की उपेक्षा कोई नहीं करता। इसलिये शक्ति की अग्नि को प्रकट करते रहना चाहिये, परन्तु सप्रयोजन और सद्विचार के साथ। अनुचित क्रोध जो हठ, दुराग्रह, या दुःशीलता से जन्मता है वह आत्म-नाशी होता है। बार-बार कोप करने से वैर-भाव दृढ़ होता है—'वैर प्रीति अभ्यास वश, होत होत ही होत।'

७—समाज में सर्वगुण-सम्पन्न व्यक्ति कहीं न मिलेगा, अतएव यथासंभव पर-छिद्रान्वेषण न करना चाहिये। गुण-ग्राहक स्वयं गुणी गिना जाता है। दूसरों के सद्गुणों से अपना लाभ लेना चाहिये, उसके दुर्गुण उसी के पास रहने देने चाहिएँ। सबसे सुन्दर उपदेश यह है कि लोक-सुधारक बनने के पहले अपने सिद्धान्तों का स्वयं प्रयोग करके अपना सुधार करे। स्वयं बिगड़ा हुआ सुधारक या सज्जन-वेषी दुर्जन मान नहीं पाता।

८—व्यवहार-कुशल वही माना जाता है जो पर-स्थिति और परिस्थिति को ठीक-ठीक पढ़ लेता है, दूसरों के मनोभाव को शीघ्र ताड़ लेता है और समयानुकूल सहानुभूति, हर्ष-शोक-उद्-गार प्रकट करके आत्मीयता स्थापित कर लेता है। वह न तो विरुद्ध-धी (उलटी बुद्धि वाला) होता है और न द्विजिह्व (दो तरह की बातें करने वाला)। मन, कर्म, वचन से एक रूप प्रकट होना ही सज्जन का लक्षण है—"मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मण्येकं महा-

त्मनाम् ।" बहुरूपिये के कृत्रिम भाव-प्रदर्शन का कुछ भी मूल्य नहीं है।

९—सामाजिक व्यवहार में इन दोषों का त्याग करना चाहिये—झूठे वादे करना, किसी को धर्म-संकट में डालना, चालाकी से काम निकालना, अपनी पहुँच के बाहर की किसी वस्तु को पाने का दुस्साहस और लोभ। इनके अतिरिक्त दो बड़े सामाजिक अपराध हैं जिनसे प्रत्येक चतुर व्यक्ति को बचना चाहिये—प्रथम है, कृतघ्नता; द्वितीय, ईर्ष्या। नेपोलियन कृतघ्नता को सबसे बड़ा सामाजिक अपराध मानता था। ईर्ष्या के लिये किसी पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है कि यदि किसी को दंड देना हो तो उसको किसी से ईर्ष्या करना सिखा दो।

१०—मौन रहने से समाज में गम्भीरता प्रकट होती है, परन्तु किसी अनीति को देखकर चुप रहने से आत्म-दीनता व्यक्त होती है और स्वयं दोष-भागी होना पड़ता है क्योंकि 'मौनं सम्मति लक्षणम्।' अतएव बातचीत की तरह मौन बनने में भी सावधान रहना चाहिये। अपने व्यक्तिगत कष्टों के सम्बन्ध में यथासंभव अवश्य मौन रहना चाहिये क्योंकि—

"रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखे गोय।
हँसिहैं लोग जहान के, बाँटि न लैहैं कोय॥"

नीतिकारों का मत है कि धन का नाश, मन का दुःख, घर का दुश्चरित, ठगी और अपमान—ये बातें बुद्धिमान् दूसरों से न कहे—

"अर्थनाशं मनस्ताप, गृहे दुश्चरितानि च।
वञ्चनं चाऽपमान च मतिमान्न प्रकाशयेत॥"

गुप्त बातों के सम्बन्ध में शास्त्र का यह कथन सर्वथा मान्य

है कि उनको छः कानो में पड़ने से बचाना चाहिये—

'षट्कर्णंवर्जयेत्सुधी.।'

व्यवसाय-नीति

कार्यवश सप्रयोजन जो व्यवहार किया जाता है, उसके लिये निम्नलिखित कतिपय बातो पर ध्यान देना चाहिये—

१—काम को (आतुरमति से) सहसा न करे; विना विचारे काम करना घोर आपत्तियो का स्थान है; विचार कर काम करने वाले को गुण-ग्राहक सम्पत्तियाँ स्वीकार कर लेती हैं—

> सहसाविदधीत न क्रियामविवेक परमापदापदम्।
> वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेवसम्पद.॥
>
> —भारविः

२—कार्य मे समय का सदैव ध्यान रखना चाहिये। कोई भी कार्य हो, उसमे नियत समय के पूर्व ही तैयार मिलना चाहिये। समय पर न पहुंचने से रेल ही नहीं, भाग्य या सिद्धि की रेल भी छूट जाती है।

३—कार्य-सिद्धि के लिये किसी से मिलना हो तो नियत समय पर ठीक वेश-भूषा में जाना चाहिये। मिलने पर पहला प्रभाव अधिक-से-अधिक गहरा डालना चाहिये। झेपू या उद्दण्ड न बन कर, प्रगल्भता, साहस और वेग (Push) का परिचय देना चाहिए। विषयानुकूल भाव-प्रदर्शन, वाक्य-प्रयोग और अंग-चेष्टा दिखलाकर मिलने वाले को प्रभावित करना चाहिये। अपने को सब प्रकार से मनोज्ञ बना रखना चाहिये।

४—नैषधकार के इस मत को न भूलना चाहिये कि बुद्धिमान् लोग तालाब और हृदय की गहराई को जानकर ही उसमें पैठते हैं—

"ह्रदे गम्भीरे हृदिचावगाढे शसन्ति कार्य्यावतरं हि संत ।"

मानव-स्वभाव का पारखी तत्काल दूसरों के मन को पढ़ सकता है और वही कार्य में सफल होता है। अतएव जिससे मिलना है, उसकी थाह लेकर तब आगे बढ़ना चाहिए। उसकी मनःस्थिति को समझकर तब तर्क-आक्रमण करने से सफलता मिलती है अन्यथा अँधेरे में टटोलना पड़ता है।

५—प्रत्युत्पन्नमति होने का परिचय देना, सुननेवाले के प्रति सहज उत्सुकता प्रकट करना, रचनात्मक सुझाव देना, कोमल भाषा मे कठोर तर्क देते हुए एकमत होने की चेष्टा दिखलाना, अपने मत का युक्ति-सम्मत समर्थन करना; दूसरे को अपना दृष्टिकोण ठीक-ठीक समझा देना और उसकी बातों को ध्यान से सुन समझकर सप्रभाव शीघ्रतर उत्तर देना—यही व्यवहार-पटुता प्रकट करते हैं। समझाने का अर्थ यह है कि आपकी बुद्धि जिस दिशा में दौड़ती हो, उसी दिशा में समझनेवाले की विचार-धारा भी प्रवाहित हो चले। अपने काम के लिए दूसरे की बुद्धि का उपयोग करना ही तो सच्ची व्यवहार-चातुरी है।

६—वार्त्तालाप में स्पष्टवादिता और उक्ति-पटुता का आश्रय लेना चाहिये, चाटुकारिता और हठ-वादिता का नहीं। वार्त्तालाप या व्यवहार से कोई ऐसा छल न प्रकट होना चाहिये जिसके प्रकट होने पर आगे नीचा देखना पड़े। व्यावसायिक चातुर्य (tact) एक सीमा तक ही आवश्यक होता है। मंहगी चीज़ को सस्ती प्रमाणित करके बेचना छल नहीं है, परन्तु नकली चीज़ को असली कहना छल है। ऐसा छल पचता नहीं। यथार्थता का ध्यान सर्वत्र रखना चाहिये।

७—काम से मिलने पर मनोरंजन की बातें न करके कार्य-सिद्धि के लिये ही अवसर का उपयोग करना चाहिये। सबसे

बड़ी बुद्धिमानी तो इसमें है कि मनोरंजन के प्रसंग को भी व्यर्थ न जाने दे और उससे काम बना ले। एक बार में सफलता न मिले तो हतोत्साह न होकर, दोबारा 'चढ़ाई' करनी चाहिये। निराश होकर किसी से सम्बन्ध-विच्छेद करना मूर्खता है। अंग्रेजी मे कहावत है कि पहाड़ को समतल बनाकर पार करने की अपेक्षा उसको चढ़कर पार करना अधिक सुगम है—

"It is easier to climb a mountain than to level it."

८—व्यवसाय में संघर्ष से सदैव बचना चाहिये। ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि न तो दूसरे की बात कटे, न अपनी। 'बात का खाली होना' सम्मान के विरुद्ध पड़ता है। बात विगड़ने पर भी उसको सुलझाने का ही प्रयत्न करना चाहिये। आँख निकालने या लाल-पीले होने से व्यवहार मे कटुता आती है। कहा भी है कि जिसके पास क्रोध हो उसको शत्रु की कमी कैसे हो सकती है! क्षणिक उत्तेजना मे न पड़कर दूरदर्शिता से काम लेना चाहिये।

९—पत्र-व्यवहार में विशेष सतर्कता की आवश्यकता होती है। किसी विषय में अपने मत को निश्चित करके वकील-बुद्धि से शब्दों को तौलकर तब संक्षिप्त पत्र लिखने चाहियें। कार्य-सम्बन्धी पत्रों में साहित्य-शैली अनर्थकारी होती है। ऐसा न लिखना चाहिये कि पढ़ने वाला खोदे पहाड़ और पाये चुहिया।

संक्षेप मे यही समझना चाहिये कि युक्तिपूर्ण स्पष्ट व्यवहार से ही कार्यक्षेत्र में सफलता मिलती है। कार्य-क्षेत्र में व्यवहार-निपुण होना महत्त्व प्राप्त करने का सबसे सीधा मार्ग है।

मूर्ख-नीति

मूर्ख के साथ व्यवहार करना सबसे कठिन है क्योंकि वह अपनी ही बात सुनाता है और दूसरे की सुनता भी है तो

कुछ का कुछ समझकर अर्थ का अनर्थ करता है। नीतिकारों ने लिखा है कि मूर्ख की कोई औषधि नहीं है—'मूर्खस्य नास्त्यौ-षधम्।' उपाय से उसके स्वभाव को नहीं बदला जा सकता क्योंकि वह तपाये पानी की तरह फिर ठंडा हो जाता है। सुनते हैं, एक गुरु ने अपने एक मूर्ख चेले को एक बार बताया था कि सिर पर पगड़ी बाँधने से मनुष्य का सम्मान बढ़ता है। गुरु-वचन सुनकर चेला कार्यवश बाजार को चला। रास्ते में उसे ध्यान आया कि वह पगड़ी बाँध लेता तो सब उसकी बड़ी आवभगत करते। सो, पास में अन्य वस्त्र न होने के कारण उसने अपनी धोती खोलकर सिर पर बाँध ली और नग्न होकर वह यह विश्वास लेकर चला कि अब जो देखेगा वही उसको महामहो-पाध्याय समझेगा। कथा के तात्पर्य को समझिये। मूर्ख को सिखाने में भी अपनी और उसकी बुद्धि का लोप होता है।

सबसे बड़ी व्यवहार-कुशलता इसमें है कि मूर्ख को छेड़ा न जाय। अंग्रेजी में एक कहावत है—साँड़ की अगाड़ी, घोड़े की पिछाड़ी और मूर्ख के चारों ओर से बचना चाहिये। मूर्ख को वश में करना हो तो उसको कुछ खिला-पिला देना चाहिये। या उसके मनोरंजनार्थ कोई मीठी कथा सुना देनी चाहिए। उसके मन के अनुकूल कुछ कर देने से भी वशीकरण होता है। परन्तु इससे आत्म-प्रतिष्ठा के नष्ट होने का भय रहता है। ऐसे व्यक्तियों से अलग रहने ही में बुद्धिमानी है। कीचड़ लगाकर उसको धोने की अपेक्षा उसको न छूना ही अच्छा है।

मूर्खों की एक अर्द्ध-शिक्षित श्रेणी भी होती है। उस श्रेणी के व्यक्ति साधारण ज्ञान से अहंकार-विमूढ़ हो जाते हैं। भर्तृहरि ने लिखा है कि मूर्ख को रिझाना सहज है, विद्वान को प्रसन्न करना बहुत ही सहज है, परन्तु अल्पज्ञान से अपने को

महाज्ञानी समझने वाले को ब्रह्मा भी नही समझा-बुझा सकते—

"अज्ञ. सुखमाराध्य' सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्ध ब्रह्मापि च त नर न रजयति ॥"

—नीतिशतक

ऐसे व्यक्तियों के अहंकार का पोषण करके उनको गद्‌गद्‌ बनाकर ही काम निकाला जा सकता है ।

असाधारण नीति

मानव-समाज में सब साधु नहीं रहते; मायावी और दुष्ट भी रहते हैं और उन्हीं का बहुमत है। धूर्त जन्तुओं (मनुष्यो) को महात्मागण योग तथा अपनी आत्म-शक्ति से भले ही वश में कर लें, परन्तु प्रायः वे युक्ति से ही वश में होते हैं। इसलिये बुद्धिमानों को राजनीति, कूटनीति और दण्डनीति आदि का आश्रय लेना पड़ता है। सब एक स्वभाव के नहीं होते, अतः एक ही युक्ति से वश मे नहीं होते। परिस्थितियों के अनुसार कालज्ञ, युक्तिज्ञ और मर्मज्ञ लोग भिन्न-भिन्न उपायों से उनको वश में रखते हैं। प्रसंगवश इस सम्बन्ध की कुछ उपयोगी बातें हम यहाँ देते हैं।

१—महामुनि व्यास का कथन है कि अधिक सरल न बनो; जाकर वन-तरुओं को देखो; वहाँ सीधे पेड़ कटे हुए और टेढ़े पेड़ खड़े मिलेगे—

"नात्यन्त सरलैर्भाव्य गत्वापश्य वने तरून् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जाः सन्ति पदे-पदे ॥"

तुलसी ने इस बात को इस ढङ्ग से कहा है—

टेढ जानि बन्दइ सब काहू ।
बक्र चन्द्रमहि ग्रसइ न राहू ॥"

राम भी जब साधु-भाव से समुद्र को पार करना चाहते थे तो समुद्र उनको मार्ग देने को तैयार नहीं था। तब राम ने अपना क्षमा-भाव त्यागकर धनुष-बाण उठाया और कहा—असमर्थ समझने वाले जन के ऊपर क्षमा करने को धिक्कार है—'असमर्थं विजानाति धिक्क्षमामीदृशे जने।'—रामायण। समुद्र तत्काल विनीत होगया। हैदराबाद और भारत-सरकार के विषय में भी यह बात सत्य हुई।

शॉ ने गाँधीजी की हत्या के बाद कहा था कि परम सज्जन होना भयावह है—"It is dangerous to be too good." कम-से-कम साधारण समाज में बहुत सीधा बनना कष्ट-प्रद होता है। दुष्ट लोग सरल व्यक्ति को मेमना समझते हैं और मेमने के पीछे भेड़िये स्वभावतः लग जाते हैं। प्राचीन ऋषि-मुनियों को राक्षसगण घेरे रहते थे, परन्तु धनुर्धारी राम-लक्ष्मण के नाम से भी दूर भागते थे। यह स्मरण रखना चाहिये कि 'सीधे का मुँह कुत्ता चाटे।'

२—महाकवि भारवि ने लिखा है कि वे मूढ़ निश्चय ही पराभव को प्राप्त होते हैं जो मायावियों के साथ मायावी नहीं बनते—

"व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं।
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः॥" —किरातार्जुनीयम

३—पंचतंत्रकार ने लिखा है कि उत्तम को प्रणाम करके, शूर-शत्रुओं में भेद-भाव पैदा करके, नीच को दे-दिलाकर और समान पराक्रम वालों के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त करे—

"उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत्।
नीचमल्प प्रदानेन, समशक्तिः पराक्रमैः॥"

४—कालिदास का मत है कि केवल नीति का आश्रय लेना कायरता है और केवल शक्ति का प्रयोग करना पशुता है—

"कातर्यं केवलानीतिः शौर्यं श्वापद चेष्टितम् ।"

५—महाभारत में लिखा है कि जबतक अवसर न आये, शत्रु को कन्धे पर उठा रखना चाहिये; समय आने पर उसको वैसे ही पटककर फोड़ डाले जैसे पत्थर पर पटककर घड़ा फोड़ा जाता है—

"वहेदऽमित्र स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।
अथैनमागते काले भिद्येत् घटमिवाश्मनि ॥"

सिंह भी पिछड़कर छलाँग मारता है परन्तु सर्वत्र पिछड़ना भी ठीक नहीं होता। जहाँ शत्रु-द्वारा हानि की आशंका हो, वहाँ पहले ही आक्रमण कर देने में बुद्धिमानी होती है। इसीलिये नीतिकारों का मत है कि आक्रमण ही सर्वोत्तम निवारण है— "Offensive is the best defence."

६—कौटिल्य-अर्थशास्त्र मे लिखा है कि अपने गुणों-द्वारा शत्रु के दोषों को और अपने सद्गुणों से उसके गुणों को ढँक देना चाहिये—

"परदोषान्स्वगुणैश्छादयेत् गुणागुणद्वैगुण्येन ।"

७—कालिदास ने रघुवंश मे लिखा है कि शत्रु के छिद्र, अर्थात् दोष या कमजोरी को देखकर उसीपर आघात करने से विजय मिलती है—'जयोरंध्र प्रहारिणाम् ।'

८—पंचतंत्र का मत है कि बुद्धिमान् लोग नाश करने योग्य शत्रु को बढ़ाते हैं क्योंकि गुड़ से वृद्धि को प्राप्त हुआ कफ अपने-आप आसानी से निकल जाता है। हिन्दी की एक कहावत है कि "जो गुड़ दीने ही मरै, क्यों विष दीजै ताहि।"

९—अँग्रेजी में एक कहावत है कि जब चूहा बिल्ली का उपहास करे तो समझना चाहिये कि पास ही में कोई बिल भी होगा—"When the mouse laughs at the cat there is a hole."

१०—जहाँ अकारण अत्यन्त आदर हो वहाँ परिणाम में दुःख होने की शंका करनी चाहिये, क्योंकि बिना प्रयोजन कोई चाटु-कारिता का प्रदर्शन नहीं करता—

"अत्यादरोभवेद्यत्र, कार्य-कारण-वर्जितः ।
तत्र शंका प्रकर्त्तव्या, परिणामेऽसुखावहा ॥"

११—शेखसादी ने कहा है कि नाज़ उसी पर कर, जो तेरा खरीदार हो। यह सत्य है क्योंकि "अन्धे आगे नाचते कला अकारथ जाय।"

१२—अपने स्थान पर दृढ़ रहने वाला सदा बलवान् होता है। घर के पालतू कुत्ते में भी शेर का साहस होता है। पानी में रहने पर मगर हाथी तक को खींच लेता है, परन्तु उसके बाहर वह कुत्तों से भी तिरस्कृत होता है।

१३—एक विलायती विद्वान् (Francis Meehan) ने अपने एक सुप्रसिद्ध ग्रंथ ('The Temple of the Spirit'-मानस-मन्दिर) में संघर्ष के कारणों का विवेचन करते हुए लिखा है कि देशों में, जातियों में और वर्गों में होने वाले नाशक संघर्षों के मूल का पता लगाओ तो तुम्हें ज्ञात होगा कि सारी कटुता को फैलाने वाला कोई एक ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्ति है जिसके भीतर विरोधी-मानसिक-वृत्तियों का भयंकर संघर्ष चल रहा है। वह अपनी अन्तर्व्यथाओं से पीड़ित होगा; अपने मानसिक द्वन्द्व-पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ होगा, क्षुब्ध, अहंकार-ग्रस्त या भावोन्मत्त होगा; उसकी आत्मा भीतर-ही-भीतर पीड़ित होगी।

इसलिये वह भीतर के विष से बाहर के वातावरण को दूषित करता है, अपनी कटुता को बाहर फैलाता है, अपने स्वभाव की शंका और घृणा को दूसरों में फैलाता है जिसके परिणामस्वरूप बाहर कलह होती है। हम लोग ऐसे व्यक्ति को बढ़ने का और उच्च स्थान प्राप्त करने का अवसर देते हैं और प्रभावशाली पदों पर बैठे रहने देते हैं और उसके बाद आश्चर्य करते हैं कि विचारवान् मानववर्ग शान्तिपूर्वक क्यों नहीं रहता। एक के साथ दूसरे का संघर्ष चलता रहता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही साथ संघर्ष करता रहता है—

"Men are at war with one another because each man is at war with himself."

ऐसे व्यक्ति जो मानसिक-द्वन्द्व को संयमित करके आत्म-विजयी नहीं होते, समाज में निश्चय ही द्वन्द्व-भावना फैलायेंगे। आन्तरिक अशान्ति को मिटाकर ही बाहर शान्ति की स्थापना की जा सकती है।

१४—राष्ट्र-प्रतीक पं० जवाहरलाल नेहरू ने ७ सितम्बर १६४८ को भारतीय पार्लमेन्ट में हैदराबाद के सम्बन्ध में बोलते हुए कहा था कि मेरी राय में, जब कठिन परिस्थिति सामने हो तो उससे दूर भागना सबसे बड़ी ग़लती है क्योंकि साधारणतया अपने स्थान पर जमे रहनेवाले की अपेक्षा भागनेवाला अपने को उसी ख़तरे के सामने डाल देता है, जिससे वह बचना चाहता है।

"I think that when we have to face a serious situation nothing can be worse than running away from it...because a person who runs away ex poses himself to that very danger more than the person who sits or stands normally of course,"

१५—अपने अधिकारों के लिए सदैव चिल्लाना चाहिये। विना चिल्लाये बच्चे को माँ का दूध भी नहीं मिलता। कम-से-कम राजनैतिक क्षेत्र में चिल्लाने से ही कष्ट दूर होते हैं। हर एक गवर्नमेन्ट ऊँचा सुनती है क्योंकि वह ऊँचाई पर बैठती है। चिल्लाना चाहिये, परन्तु मनुष्य की तरह; गधे, सियार, कुत्ते, कौवे की तरह नहीं।

नीति-सार

एक श्लोक में एक नीतिकार ने सम्पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान का सार भर दिया है। उसका कहना है कि मित्र को सरल व्यवहार से, शत्रु को युक्ति से, लोभी को धन से, स्वामी को कार्य से, विद्वान् को आदर से, युवती को प्रेम से, बन्धुओं को समानता के व्यवहार से, महाकोपी को विनय से, गुरु को अभिवादन से, मूर्ख को कहानियाँ सुनाकर, विद्वान् को विद्या से, रसिक को सरसता से और सबको शील से वश में करो—

"मित्रं स्वच्छतया रिपुं नयबलैर्लुब्धधनैरीश्वर—
कार्येण, द्विजमादरेण युवतिंप्रेम्णा समैर्बान्धवान्।
अत्युग्रस्तुतिभिर्गुरूं प्रणतिभिर्मूर्खं यथाभिर्बुधं—
विद्याभि, रसिकं रसेन सकलं शीलेन कुर्याद् वशम्।"

अंग-प्रत्यंग की बनावट का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है, इसको कौन अस्वीकार करेगा ? मनुष्य का व्यक्तित्त्व उसके अंग-प्रत्यंग से स्वतः बोलता है। सुन्दरी स्त्री प्रमाण-पत्र लेकर नहीं घूमती; उसका रूप स्वयं दूसरों को आकर्षित कर लेता है। किसी सुडौल और सुदृढ़ शरीरवाले व्यक्ति के प्रथम दर्शन से ही लोग उसकी सत्ता को मानने लगते हैं। अतएव यह मानना पड़ता है कि शारीरिक बनावट मे मनुष्य का व्यक्तित्त्व आभासित होता है।

इस विषय का विवेचन करने से पूर्व हमें यह जान लेना चाहिये कि हमारा रूप वास्तव मे वैसा ही नहीं होता जैसा कि हम अपने विषय में कल्पना किये रहते हैं। मनुष्य अपने मनोभावों के अनुरूप अपने शरीर के रूप की एक मिथ्या धारणा बना लेता है और समझता है कि सब उसको उसी रूप में पहचानते हैं। वह दर्पण के सामने भी अपना भावना-रंजित रूप देखता है। प्रेमासक्त होने पर वह नारद की तरह बन्दर का मुख रखते हुए भी अपने को रूपवान् समझता है। प्रेम में निराश होने पर वह अपने सुन्दर शरीर को भी भद्दा मान लेता है। वास्तव मे, वह अपनी आकृति नहीं, बल्कि छायाकृति देखता है। यह कल्पना कर लेता है कि हम ऐसे लगते होंगे और साथ ही यह सोचता है कि ऐसे लगते तो अच्छा होता। इस परि-स्थिति मे उसका रूप कम-से-कम उसकी दृष्टि में विचित्र हो

जाता है। दूसरों की दृष्टि में वह जैसा बाहर से है, वैसा ही लगता है, परन्तु अपनी दृष्टि में वह चित्तवृत्ति के अनुसार कुछ-का-कुछ प्रतीत होता है। मानसिक-द्वन्द्व के कारण वह अस्वाभाविक चेष्टायें भी करता है और इस भ्रम में रहता है कि सब सूक्ष्म-दृष्टि से घूर-घूर कर उसी को देखते रहते है। इसलिये वह अपनी कल्पित शारीरिक त्रुटियों को छिपाने की चेष्टा करता है।

मन की रूपरेखा का बड़ा प्रभाव पड़ता है। मन में नारीत्व की भावना रहने से पुरुष नारीवत् आचरण करके सोचता है कि सब उसको सुन्दर स्त्री समझ रहे हैं। वह सुन्दरी तो नहीं, हिजड़े-जैसा लगता है। बहुत-से लोग मूँछों को ऐंठते हुए अपने वीर-रूप की कल्पना करते हैं, पर दूसरों की दृष्टि मे विदूषक-जैसे लगते हैं। मनोबल क्षीण होने पर मनुष्य अपने सुदृढ़ शरीर को भी अशक्त मान लेता है। इसी तरह रहन-सहन का प्रभाव पड़ता है। कपड़े गन्दे होने पर मनुष्य सभ्य-समाज में अपने को छोटा मानने लगता है। भव्यप्रासाद में रहने वाला नाटा भी अपने को बहुत बड़ा समझता है। फर्स्ट क्लास का यात्री अपने को थर्ड क्लास वालों की दृष्टि में बहुत बड़ा आदमी मान लेता है। कहीं जीतने पर ठिंगना आदमी भी अकड़कर चलता है और सोचता है कि सब उसके महान् रूप को देख रहे है।

डॉक्टर शिल्डर नामक सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कहना है कि मानसिक संघर्ष की अवस्था में मनुष्य को अपने ही शरीर का वजन कुछ-का-कुछ जान पड़ता है। प्रसन्नता में लोग अपने ही शरीर को हल्का समझते हैं और सोचते हैं कि सब हमें हलका ही समझ रहे हैं। चिन्ता-ग्रस्त होने पर शरीर भारी लगता है, परन्तु दूसरों की दृष्टि में तो वैसा ही रहता है। उच्च पद पर रहनेवाला

कभी अपने आकार की छोटाई को नहीं समझता। हट्टाकट्टा चपरासी अपनी दृष्टि में अपने को झुका हुआ, दबा हुआ तथा अपने से दुर्बल साहब को भी बहादुर और भीमकाय समझता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ उसके ज्ञान-तन्तु को आन्दोलित कर देती है और उन्हीं के अनुसार मनुष्य का अपना मनोनिर्मित रूप अपनी आँखों के आगे दिखलाई पड़ता है।

जब अपने विषय में मनुष्य अपनी एक धारणा बना लेता है तो वह उसी के अनुरूप आत्म-व्यंजना भी करता है। वह अनायास नाना चेष्टाओं से अपने को सुधारने का प्रयत्न करता है। किसी की गर्दन से अपनी गर्दन को लम्बी समझकर वह बाहर निकलने पर अपनी गर्दन को दबाये रहता है और सोचता है कि उसके कल्पित अवगुण को लोग भाँप न पायेंगे। पर उसका वह कृत्रिम रूप विचित्र बन जाता है। स्वर के विषय मे भी ऐसी ही भ्रान्ति होती है। बहुत-से लोग अपने स्वर को कर्ण-प्रिय समझते हैं, पर दूसरों के सुनने में वह कर्कश लगता है। यह वैज्ञानिक सत्य है कि हमारी अपनी ध्वनि अपने कानों में जैसी सुनाई देती है, वैसी दूसरों के कानों में नहीं। हम अपनी सुनी हुई ध्वनि के आधार पर अपने व्यक्तित्व का मिथ्या रूप अपने मन मे बना लेते है। बहुत-से लोगों की परीक्षा करके अमेरिकन डाक्टरों ने देखा है कि वे पहले-पहल ग्रामोफोन पर अपनी आवाज़ सुनकर चौकते हैं और कहते हैं कि उनकी आवाज ऐसी नहीं है। बहुत-से लोग अपनी फोटो पहले-पहल देखकर चौकते है क्योंकि वे जैसा अपने को कल्पित किये रहते हैं उससे भिन्न-रूप चित्र में देखते हैं। अधिकांश नये लोग चित्र खिंचाते समय मूर्ख बन जाते हैं क्योंकि वे अपनी किसी कल्पित कुरूपता को दबाने या छिपाने का प्रयास अवश्य करते हैं और वैसी दशा

में उनकी आकृति विकृत एवं अस्वाभाविक हो जाती है।

इस मनोवैज्ञानिक रहस्य को समझकर तब हमें अपने या किसी अन्य के सत्य-स्वरूप को देखना चाहिए। अनुमानित रूप प्राय: सत्य नहीं निकलता; सत्य वह है जो प्रत्यक्ष हो। प्रत्यक्ष रूप में शरीर के कुछ लक्षण होते हैं, जिनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। हम अपने को कैसा भी मान लें, हमारा रूप दूसरों की दृष्टि में वैसा ही होता है जैसा कि हमारे अंग-प्रत्यंग से झलकता है।

अपने कल्पित रूप को भूलकर उन सामुद्रिक लक्षणों पर विचार करना चाहिये, जिनसे वास्तविक व्यक्तित्त्व प्रकट होता है। इनमें से जो लक्षण न हों, उनको यथासम्भव धारण करना चाहिए। इनको जानने से मुख्य लाभ यह है कि हम दूसरो को उनकी आकृति या शरीर-रचना से ठीक-ठीक पहचानकर व्यवहारिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। आगे इस उद्देश्य से हम शारीरिक लक्षणों का संक्षिप्त उपयोगी विवरण देते है—

उत्तम शरीर के मुख्य लक्षण

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार स्वस्थ और सुन्दर शरीर में ये लक्षण मिलते है।

१—शरीर के पाँच अंग दीर्घ होते हैं—वाहु, नयन, कुक्षि, नासापुट, वक्षस्थल।

२—चार अंग ह्रस्व होते हैं—ग्रीवा, कान, पृष्ठदेश, जंघा।

३—छः अंग उन्नत होते हैं—नाक, नेत्र, ललाट, दन्त, मस्तक, हृदय।

४—पाँच अंग सूक्ष्म होते है—अंगुलिपर्व, दन्त, केश, नख, चर्म।

५—सात अंग लाल होते हैं—करतल, पद्तल, नख, तालु, जिह्वा, अधर और नेत्र।

६—ये तीन गम्भीर होते है—स्वर, बुद्धि, नाभि।

७—ये तीन विस्तीर्ण होते हैं—वक्षःस्थल, मस्तक, ललाट।

वाल्मीकीय रामायण में सर्वसुलक्षणयुक्त राम के सम्बन्ध में नारद के मुख से कवि ने इस प्रकार कहलाया है—

"विपुलासो महावाहुः कम्बुग्रीवो महा हनुः।
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दम.।
आजानुबाहुः सुशिरा सुललाट सुविक्रमः॥
सम समविभक्ताङ्ग स्निग्धवर्णप्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः॥"

(अर्थात्, राम बड़े कन्धोंवाला, बड़ी भुजाओंवाला, शंख के समान ग्रीवावाला, बड़ी ठुड्डीवाला, चौड़ी छातीवाला, विशाल धनुप को धारण करनेवाला, छिपी हुई हँसली से युक्त और शत्रुओं का दमन-कर्त्ता है। उसकी भुजायें घुटनों तक लम्वी है, सिर सुन्दर है, मस्तक सुन्दर है और वह शुभगमनशील है। उसके अंग न बहुत छोटे है, न बहुत बड़े। प्रत्येक अग अच्छी तरह विभक्त है। शरीर का वर्ण स्निग्ध है और वह तेजस्वी है। उसका वक्षस्थल स्थूल है, नेत्र विशाल हे। वह शोभायुक्त शुभ लक्षणों से संयुक्त है।)

शरीर के ये प्रधान-लक्षण है, जिनकी ओर आपका ध्यान चला ही जाता है। आप सामुद्रिक शास्त्र से परिचित हों या न हो, इनमे से बहुत-से लक्षण जिस व्यक्ति में मिलते हैं, वह आपको प्रिय लगता है। उसका व्यक्तित्त्व प्रभावशाली होता है। आप चुपचाप उसके व्यक्तित्त्व से प्रभावित होते है। इनमे से बहुसंख्यक लक्षण जन्मगत होते है। और यहीं यह

मानना पड़ता है कि मनुष्य के व्यक्तित्त्व का बहुत बड़ा अंश जन्म-गत होता है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की उक्ति यहीं चरितार्थ होती है। इसी जन्म-गत व्यक्तित्त्व को अँग्रेजी में Pre-Possessing Personality अर्थात् सहज व्यक्तित्त्व कहते हैं।

इन लक्षणों को ही सर्वस्व मानना भूल है। सबमें ये लक्षण नहीं मिल सकते क्योंकि सभी पुरुषोत्तम नहीं होते। हाँ, ऐश्वर्य-शाली पुरुषों मे इनमें से अनेक लक्षण उनके शरीर में मिलते है। और जब आपको ऐसा लक्षण-युक्त पुरुष मिले तो उसकी व्यक्तिगत महिमा में विश्वास कीजिये। किन्तु पूर्ण विश्वास करने के पूर्व उसकी और बातों पर भी विचार कर लीजिये क्योंकि संभव है उसने अपने साथ ही विश्वासघात किया हो। प्रकृति ने उसे सुन्दर रूप और व्यक्तित्त्व दिया हो, किन्तु उसने अपने चरित्र से अपना मार्ग बदल दिया हो। चन्द्र में जैसे आप कलंक देखते हैं, वैसे ही इन अंगों में भी कलंक देख लीजिये। इस सम्बन्ध में एक बात और समझने की है। यदि आपके शरीर मे ये लक्षण नहीं मिलते तो अपने को अधम मानकर आप निराश न हो जाइये। यदि आपका मन बलवान् हो, आपकी बुद्धि सचेत हो तो आप साधारण अंगों से भी निश्चय ही महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। साहसी व्यक्ति मामूली लाठी से भी जगली जीवों का सामना कर लेता है। शरीर से बलवान् किन्तु मन से अशक्त प्राणी यदि कंधे पर तोप रखकर भी जाए तो वह दूर से किसी जीव का चीत्कार सुनकर अचेत होकर गिर पड़ेगा। अतएव मन की प्रबलता की परीक्षा और बुद्धि-बल की परीक्षा पहले कीजिये और शरीर के बाह्य लक्षणों को ही कसौटी न मानिये।

शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो से मानव-व्यक्तित्त्व की गहराई का पता कहाँ तक चलता है, इसपर कुछ और लिखकर ,तब हम मनोभावों के पढ़ने की प्रणाली पर विचार करेंगे। जिस प्रकार एक आँख या एक कान न रहने से आपका व्यक्तित्त्व भिन्न ज्ञात होता है, उसी प्रकार शरीर के विशेष अंगों पर कुछ लक्षणों के रहने या न रहने का असर पड़ता है।

सिर

सबसे प्रथम हम सिर को लेते हैं। 'सिर बड़ा सरदार का; पैर बड़ा गँवार का।'—यह उक्ति आपने अवश्य सुनी होगी। इसमे यथार्थता है। शरीर के हिसाब से यदि मनुष्य का सिर छोटा, कॅगारू-जैसा होता है तो वह मूर्ख गिना जाता है। सिर सुन्दर, सुडौल और बड़ा होने से अवश्य ही मनुष्य प्रतिभाशाली होता है, चाहे वह पढ़ा-लिखा हो या न हो। बड़े सिरवाले को आप सज्जन मान ले, यह आवश्यक नहीं है। उसकी बुद्धि किसी भी दिशा में तीव्र हो सकती है। वह दुष्टता करने लगेगा तो उसमें भी अच्छा बुद्धि-प्रयोग दिखायेगा। उसकी बुद्धि तो बन्दूक की तरह होती है, जिसे वह सिपाही की तरह भी प्रयोग कर सकता है और डाकू की तरह भी। इसी प्रकार ऐसे व्यक्ति को आप सुखी भी मान ले, यह आवश्यक नहीं। बड़ा सिर लेकर भी यदि कोई बद्ध-कोष्ठता का रोगी हुआ तो उसका सिर तो भारी हो ही जायगा। इतना ही मानिये कि बड़े सिरवाला बड़ा दिमाग रखता है। उसमे विचारशक्ति एवं तर्कशक्ति होती है।

दूरदर्शी और विचारवान् का सिर लम्बा होता है। ऐसे सिरवाला मेधावी, गंभीर,कीर्ति-कामी और तत्त्वपारखी होता है, तथा साथ ही विद्यानुरागी भी। लोकमान्य तिलक का सिर ऐसा ही था। ऐसे व्यक्ति कल्पना-प्रेमी भी होते है। इसलिये विपरीत

दिशा में जाने पर वे संदेह-ग्रस्त और भयशील भी हो जाते है।

अहंकारी का सिर पीछे की ओर विशेष लटका रहता है। सिर के पीछे का हिस्सा नोकदार होने से आदमी वक्र-स्वभाव का; दोनों ओर उभरा होने से भावुक, रसिक और प्रेरणात्मक बुद्धिवाला होता है।

गोल सिर, जो कच्छप की पींठ की तरह से उन्नत रहे, प्रशस्त माना जाता है। ऐसे सिरवाले पुरुषार्थी, स्वावलम्बी, निर्भीक, उर्वर मस्तिष्क वाले और कष्ट-सहिष्णु होते हैं। स्वामी दयानन्द और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सिर ऐसे ही थे।

बहुत छोटे सिरवाला प्रमादी, प्रलापी, आलसी, मूर्ख या कंजूस होता है। बेडौल सिरवाला अविवेकी, चंचल, कापुरुष और चाटुकार होता है।

सिर के बालों से भी मनुष्य की परीक्षा होती है। कोमल और चमकदार बालों से भीतर की सुकुमारिता और स्वास्थ्य की कान्ति प्रस्फुटित होती है, रूखे या कड़े बालों से भीतर की अस्वस्थता और शुष्कता।

उन्नत और ताम्रवर्ण केशवाले प्राय: उन्मादी और भ्रमण करने के व्यसनी होते हैं। घुँघराले बालवाले प्राय: हर एक चीज़ ऐसी ही पसन्द करते हैं जो गोल हो, मुड़ी हुई वा पेंचदार हो—ऐसे लोग गोल चश्मा लगाना पसन्द करेंगे, पहाड़ी छड़ी, तिरछी नोकवाले जूते और कलीदार कुरते के शौकीन होंगे। उनकी चाल भी लहराती हुई होती है, बोलचाल भी नमक-मिर्च लगी हुई और लिखावट भी गोल-मोल। इनको सीधे चलने को कहिये तो एक फर्लाङ्ग जाने पर थक जायंगे। या घूमने-फिरने को कहिये तो शहर की सारी गलियों से चक्कर लगा आयेंगे। घुँघराले बालवाले विलासी ही होते है, ऐसी बात नहीं है। वे व्यसनी

अवश्य होते है—वह व्यसन चाहे विद्या का हो, या कला का
अथवा किसी दुराचार का। विद्या-व्यसनी होने पर ये लोग
उपन्यास, कहानी, नाटक तथा रहस्यवाद की कविता के अनुरागी
होते हैं। कलाप्रेमी होने पर सभी कलाओं में अच्छी प्रतिभा
प्रदर्शित करते हैं। सगीत, साहित्य में इनकी अच्छी गति होती
है। विलासी होने पर ये सबसे निर्लज्ज और दुस्साहसी हो जाते
हैं। पुरुषार्थ-सम्बन्धी काम ऐसे लोग कर सकते है। घर की
अपेक्षा बाहर ये अधिक स्फूर्तिवान् रहते हैं।

खड़े बालों वाले अक्खड़ होते है। ऐसे लोग कारण-वश मुख
से मधुर हो सकते हैं पर प्रकृति से क्रूर, दंभी या आत्माभिमानी
होते है।

मुख-मंडल

मनुष्य की सबसे अच्छी परीक्षा मुखाकृति से होती है।
मनुष्य का सारा इतिहास, चरित्र और स्वभाव उसके मुखपर
अंकित रहता है, इनको प्राचीनकाल से केवल भारतीय तत्वज्ञ
ही नहीं, पाश्चात्य विद्वान् और लौकिकज्ञ भी मानते आ रहे हैं।
मुख-मंडल की बनावट से हमारे स्थायी व्यक्तित्व का पता
चलता है; उसके प्रकृत-विकृत होने से हमारे चरित्र, स्वभाव और
मनोदशा का। आपने सुना होगा कि कुछ लोग किसी की आकृति
देखकर उसके चित्त का सारा हाल भाँप जाते हैं। इसमें सचाई
है। मनुष्य अपने को वाणी-द्वारा तथा व्यवहार-द्वारा छिपा
सकता है, लेकिन चेहरे द्वारा नहीं। बहुत-कम लोग ऐसे हैं जो
हृदय के भाव को चेहरे पर नहीं प्रकट होने देते किन्तु उनके
स्थायी भाव तो व्यंजित हो ही जाते हैं। किसी की मुखाकृति को
आप उसके व्यक्तित्व का दर्पण मान सकते हैं। लेकिन कहीं-
कहीं सावधान भी रहना पड़ता है। कुछ लोग चेहरे से भोले-

भाले होकर भी हृदय से कुटिल होते हैं। वे इसका अभ्यास किये रहते है कि उनके भावों की छाप उनके मुख पर न पड़े। अभ्यास से ऐसा हो भी जाता है। पर सौ में नब्बे व्यक्तियों का वास्तविक रूप उनकी आकृति से जान सकते हैं। मुख-मंडल के भिन्न-भिन्न अंगों से मानव-परीक्षा इस प्रकार होती है।

१—ललाट—जिसका ललाट उन्नत और विशाल होता है, वह मेधावी, कुशाग्र-बुद्धि, विचारशील, उन्नतिशील, यशस्वी, प्रभावशाली और विश्वास-योग्य होता है। मस्तक अर्द्ध-चन्द्र-सा हो और कान्ति-विशिष्ट हो तो वह व्यक्ति तेजस्वी, संयमी तथा आत्म-विश्वासी होता है; अनेक रेखाओं से भरा हो तो चतुर, चिन्ताशील, किसी मानसिक वेदना से ग्रस्त अथवा दार्शनिक होता है; निस्तेज, छोटा और अन्दर की ओर धँसा हो तो वह व्यक्ति मूर्ख अथवा विलासी या दंभी होता है। मस्तक बहुत छोटा, ऊपर से बालों के छप्पर से छाया हुआ-सा हो तो वह व्यक्ति लापरवाह, विनोदी, मानापमान के भाव से प्रमुक्त होगा। यदि ऊपर की ओर उठा और नीचे की ओर दबा हो तो वह मनुष्य मन्द-बुद्धि, आलसी, मुसीबत का मारा हुआ-सा होगा। प्रशस्त ललाट वाला उदार, शान्त, विनयी और व्यापार-कुशल होता है।

२—नेत्र—आत्मा का सच्चा प्रतिबिम्ब आँखों में दिखाई पड़ता है। आपने तरह-तरह की आँखों की प्रभावशालीनता के विषय में कुछ-न-कुछ सुना होगा। किसी-न-किसी की आँखें ऐसी लगती हैं, मानो अभी बोल देंगी। किसी की आँखें भरी हुई पिस्तौल-जैसी लगती हैं। और किसी की आँखें शराब की बोतल-जैसी। किसी की आँखों से करुणा टपकती है, किसी से दया, किसी से स्नेह, किसी से क्रोध, किसी से सरलता और किसी से

हृदय की चंचलता। माँ की ममता-जैसी चीज कई आँखों से टपकती है; तेजस्वी पुरुष का तेज उसकी आँखों से चिनगारी की तरह निकलता है। आँखो मे विचित्र आकर्षण-शक्ति होती है, विचित्र प्रभावोत्पादन-शक्ति होती है और एक मनुष्य के सारे व्यक्तित्त्व को खोलकर सामने रख देने की प्राकृतिक क्षमता होती है।

खिले हुए कमल-जैसी बड़ी और स्वच्छ आँखें सर्वोत्तम होती हैं। उनमें स्वाभाविक सरसता, कान्ति और सरलता हो तो ऐसी आँखोंवाला व्यक्ति सुखी, कीर्ति-प्रेमी, उदार, सहृदय और प्रभावशाली अवश्य होता है। वह प्रेमी, रसिक और विद्याप्रेमी विशेष होता है। लोभी की आँखे धँसी हुई और तीक्ष्ण तथा चंचल होती हैं। अहंकारी की दृष्टि फैली हुई, या फटी हुई-सी भारी और विशेष लाल होती है। दार्शनिक की आँखे बड़ी किन्तु पलकों से दबी हुई और मद्यप की आँखे प्रायः छोटी और झुकी हुई होती हैं। मूर्ख की आँखें प्रायः उल्लू की आँखों की तरह गोल होती है। धूर्त्त की आँखें बिल्ली की तरह भूरी होती हैं। चंचल हृदयवाले की आँखें, चाहे बड़ी हों या छोटी, स्थिर नहीं रहतीं। ऐसे व्यक्ति की पलकें जल्दी-जल्दी चलती हैं। भयाकुल, क्षुधातुर और भ्रमाकुल व्यक्ति की आँखे ऐसी लगती हैं मानों गिर पड़ेंगी। कवि और वेदना-ग्रस्त व्यक्तियों की आँखे तैरती हुई-सी प्रतीत होती हैं। चालाक, दुरात्मा और अविश्वस्त व्यक्ति की आँखें फीकी, छोटी कौड़ी-जैसी, प्रायः ऊँची-नीची होती है। जिसके दोनों नेत्र बहुत छोटे और अन्दर को बहुत धँस गये हों तो वह मनुष्य दूसरे की सम्पत्ति पर गुप्त दृष्टि डालनेवाला और रहस्यमय जीवन व्यतीत करनेवाला माना जाता है। जिसकी आँखें एक-दूसरे के निकट होती हैं, वह सामुद्रिक मत से चालाक,

धूर्त्त और उचक्का होता है। जिसकी आँखें ऊपर को उठी हुई-सी लगती हैं, वह पुण्यवान्, कवि या किंकर्त्तव्य-विमूढ़ अथवा असमर्थ होता है। सीधे आदमी की दृष्टि सीधी और कुटिल की कुटिल होती है। भीरु, अपराधी और संकोची स्वभाववाले की दृष्टि झुकी रहती है तथा क्रोधी की वक्र।

जो जितना गम्भीर होता है उसकी पलकें उतनी ही कम चलती हैं। कुछ देर गम्भीरावस्था मे बैठकर आप स्वयं इसकी परीक्षा कर सकते है। गम्भीर व्यक्ति की दृष्टि भी अधिक स्थिर होती है। बहुत पलकें भॉजनेवाला झेंपू, अनस्थिर और दुर्वल हृदय का होता है। दंभी, अहंकारी और शठ की भौहे धनुष की तरह चढ़ी रहती हैं। विचारक की भौंहें घनी और अपनी पूरी लम्बाई में बालचन्द्रवत् रहती हैं। भाग्य-हीन की दोनों भौंहें मिली रहती हैं। पतली पलकोंवाला तीव्र-बुद्धि, लम्बी पलकोंवाला कवित्व-शक्ति-पूर्ण होता है।

संक्षेप में, ऐसी आँखें जो कमलवत् या हरिण-नेत्रवत् हों, जिनका प्रान्त-भाग लाल हो, जो स्निग्ध हों और जिनका भ्रू-भाग उन्नत तथा विस्तृत हो, विशेष प्रभावशाली होती है। ऐसी आँखे जो मार्जारवत् हो, वक्र हों, जिनका भ्रू-भाग अर्द्धचन्द्रवत् या बहुत निम्न हो या असम हो वे अशुभ होती हैं। रक्त-प्रान्त की लालिमा से मनुष्य की श्री व्यंजित होती है।

३—कान—क्रोधी के कान खिंचे-से रहते हैं, सावधान व्यक्ति के खड़े रहते हैं। गृह-मोही के कान भी खड़े मिलते है। शंकाकुल व्यक्ति के कान बाहर निकले हुए-से और उभरे हुए प्रतीत होते है। मूर्ख और भीरु प्रायः लम्बकर्ण होते है तथा चोर के कान चूहे की तरह होते हैं। जो बहुत चौकन्ना रहता है उसका कान खरगोश की तरह होता है। बुद्धिमान का कान नीचे की ओर

खिंचा हुआ-सा मिलेगा। छोटे कानवाला कृपण और तस्कर तथा फैले हुए कानवाला धनी और उदार होता है। नोकदार कानवाला क्रूर और मांसल कानवाला सुखी एवं स्वस्थ होता है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि कान केवल ध्वनि-ग्रहण का ही कार्य नहीं करते। उनका बुद्धि से बहुत निकट सम्बन्ध है। शरीर की इन्द्रियों में कान ही बुद्धि के सर्वाधिक समीप है। कानों से कुछ नसें सीधे बुद्धि-स्थान तक जाती हैं। जब आप किसी विषय में चिन्ता-लीन होते हैं तो स्वभावतः हाथ को कान पर रखकर सिर एक ओर को झुका लेते हैं। उससे बुद्धि पर विशेष दबाव पड़ता है। विद्यार्थियों के कान खींचते ही उनकी बुद्ध सजग और सावधान हो जाती है। आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है कि कान की जड़ के पीछे मटर के बराबर दो ग्रन्थियाँ हैं, वही मनोभावों को उत्पन्न और ग्रहण करती हैं। उनके अनु-सार हृदय से नहीं बल्कि उक्त मर्मस्थलों से भावों की सृष्टि होती है। जो भी हो, कानों की बनावट से मनुष्य की आन्तरिक प्रबलता का पता चलता है। ढीले और झूलते हुए कानों से मनुष्य का बकरीपन अवश्य प्रकट हो जाता है।

४—कनपटी—जिसकी कनपटी उभरी रहती है, वह व्यक्ति अध्ययन-शील, सयमी, विचारवान् और यशोभिलापी माना जाता है। दबी हुई कनपटीवाला भोगी, धन-लोलुप, चिन्ताग्रस्त और दुस्साहसी होता है।

५—नाक—नाक-द्वारा आदमी को पहचानना सबसे आसान है क्योंकि वह सबसे आगे रहती है और किसी प्रकार न ढँकी जा सकती है और न हिलाई-डुलाई जा सकती है। वह अशोक के शिला-स्तम्भ की तरह खड़ी ही रहती है।

जिसकी नाक तोते की तरह होती है, वह कुशाग्र-बुद्धि, चतुर

और राजनीतिज्ञ होता है। दीर्घनासिकावाला गम्भीर, कार्यकुशल और आत्म-विश्वासी होता है। जिसका अग्रभाग कान्तियुक्त हो वह तेजस्वी, प्रबल आत्म-शक्ति-समन्वित, संयमी, उत्साही और भाग्यशाली होता है। जिसका नासाग्र निस्तेज होता है वह प्रतिभा-शून्य, संयम-हीन, शुष्क और प्रभावहीन होता है। यदि नाक लम्बी हो और सिरे पर कुछ उठी या मुड़ी हो तो वह व्यक्ति विवेकी और निरीक्षक होता है। यदि सिरे पर झुकी हो या ऊपर को बहुत उठ गई हो तो वह व्यक्ति चतुर और विनोदी होगा। यदि बीच में नाक दबी हो तो वह व्यक्ति जड़ होगा। चिपटी नाकवाला कंजूस होता है। फैली हुई नाकवाला लोभी, फूली हुई नाकवाला क्रोधी, कामुक तथा दंभी होता है। गोल और चिपटी नाकवाला पर-धन-इच्छुक; वक्र नासिकावाला क्रूर; स्थूल-नासिका, अर्थात् शूकर-जैसी नाकवाला, पर-छिद्रान्वेषी, निन्दक, आलसी, अल्प-बुद्धि और गन्दे तथा मन्द स्वभाव का होता है। पतली नाकवाला चोर होता है और समोसे-जैसी नाक-वाला ऐसा विमूढ़ 'जिन्हहिं न व्यापै जगत-गति।'

६—प्रफुल्लित—कमल-जैसा मुख मनुष्य का आत्मिक सौन्दर्य प्रकट करता है। सुन्दर, सुडौल, सम और कोमल मुख-वाला ऊँची मनोवृत्ति का एवं प्रसन्न-स्वभाव का होता है। बहुत बड़े मुँहवाला दुःखी, भिक्षुकवृत्ति वाला एवं मूर्ख होता है। गोल मुँहवाला शठ, विषम मुखवाला मुखचपल और निकले हुए मुखवाला महामूर्ख होता है।

लाल ओंठोंवाला व्यक्ति गुणी, मृदु और सुकुमार होता है। पतले ओंठोंवाला बक्की, झक्की और शक्की होता है। बहुत सूक्ष्म ओंठोंवाला दरिद्र एवं लोभी, विवर्ण ओंठोंवाला अल्पधी एवं संतप्त होता है। वक्र ओंठोंवाला वक्र-बुद्धि होता है। मोटे

ओंठोंवाला आलसी, नासमझ, क्रोधी वा महाकायर और व्यसनी होता है। दोनो ओंठों का स्वाभाविक ढंग से मिलना शुभ माना जाता है। यदि वे मिलकर अन्दर की ओर धँसते हुए-से दिखाई पड़े तो वैसा व्यक्ति चुप्पा, रहस्यमय और भीरु होगा। यदि वे मिलकर चोंच-जैसे निकले हों तो वैसा व्यक्ति अस्थिरमति, विवेक-हीन, बक्की तथा चाटुकार होगा। यदि नीचे का ओंठ ऊपर वाले का ढक्कन जैसा लगे तो वैसा व्यक्ति, दंभी, पाखंडी और स्वार्थी होगा। यदि ऊपरवाला नीचेवाले के ऊपर छप्पर की तरह लटका रहे तो वह व्यक्ति हास्य-विनोद-शून्य, रसिक तथा विवेकवान् और शान्त होगा। जिसके ओंठ सूखे हों वह हृदय से शुष्क व भीरु अवश्य होगा। जिसके ओंठ वक्र-दिशा मे मिलते हों वह चालाक होगा, जिसके दोनों अधर दोनों ओर कोनों पर ऊपर को मुड़ जायँ वह हठी, दंभी और क्रूर होता है।

७—दाढ़ी-मूँछ—दाढ़ी-मूँछ को लोग पुरुषत्व का परिचायक मानते हैं। यदि पुरुष के दाढ़ी-मूँछ जमे ही नहीं तो उसे धूर्त्त या नपुंसक मानिये। उसके स्वभाव में चंचलता, भीरुता और अविवेकता होगी। ऐसा पुरुष अपने को स्त्रियों से भी निर्बल समझेगा। यदि बहुत कम बाल हों तो उसके स्वभाव में नारी-स्वभाव के लक्षण मिलेंगे। बहुत-सी स्त्रियाँ भी ऐसी मिलती हैं जिनके श्मश्रु-देश मे बाल होते है। उन्हें सस्कृत मे पोटा या नर-मानिनी कहते हैं। ऐसी स्त्रियाँ पुरुषों की-सी चेष्टा करती है और क्रूर स्वभाव की होती हैं। पाश्चात्य काम-शास्त्रियों का कथन है कि स्त्रियों में कामेच्छा प्रबल होने से तथा निरन्तर अतृप्त रहने से उनके मुख पर बाल निकल आते हैं। ऐसी स्त्रियाँ स्वभावतः चिड़चिड़ी और दुःशीला हो जाती हैं।

नोकदार मूँछोंवाले वीर-स्वभाव के होते है। खुशामदी,

कंजूस, कायर और निर्वीर्य की मूँछ तराजू के पलड़े की तरह लटक जाती है। नुकीली, स्निग्ध, कोमल और नत दाढ़ी-मूँछ को लोग अशुभ मानते है। दाढ़ी-मूँछ से बहुत अच्छी मनुष्य-परीक्षा नहीं हो सकती है क्योंकि उन्हें इच्छानुसार भी इधर-उधर किया जा सकता है अथवा मुख देश से बिल्कुल निर्वासित किया जा सकता है।

८—गाल—बहुत फूले हुए गालवाला आदमी या तो भोंदू होता है या विनोदी या व्यसनी अथवा आलसी। फूले हुए गाल होने पर भी हँसते समय जिसके गाल में गड्ढे पड़ जाते हैं, वह उद्योगी, रसिक, तीक्ष्णबुद्धि और आत्म-विश्वासी होता है। बहुत छोटे या बहुत बड़े गालवाले आत्मशक्ति से हीन और परावलम्बी होते है। मांसल और कोमल गालोंवाले सुकुमार मनोवृत्ति के होंगे तथा पतले और धँसे हुए गालोंवाले चिन्तनशील, परिश्रमी, यशोभिलाषी, नारी-प्रेमी और कठोर, कर्कश, उद्दण्ड तथा दृढ़ साहसी होंगे।

९—दाँत—दाँतों से अन्दर की विद्युत् का पता चलता है। दाँतों के चमकदार होने से ज्ञात होता है कि उस व्यक्ति के शरीर में तेज है। धुँधले होने से आन्तरिक मलिनता स्पष्ट होती है। मोती-जैसे, बिजली-जैसे, कुन्द-जैसे धवल और आभाप्रद दाँत सुन्दर स्वास्थ्य के द्योतक होते हैं। बड़े दाँतोंवाले प्रायः सुखी, प्रसन्नचित्त, सरल हृदय और बुद्धिमान् तो अवश्य ही होते हैं। दाँतों की पंक्तियाँ घनी और सम होना शुभ है। वक्र दन्तवाला हिंसा-बुद्धिवाला तथा बहुत छोटे दाँतोंवाला धूर्त्त, चाटुकार और विश्वासघाती होता है। बहुत बड़े दाँतोंवाला अकर्मण्य, मूर्ख और मारा-मारा फिरनेवाला होता है। असम तथा बिखरे हुए दाँतोंवाला उच्छृंखल होता है। बगल के दाँतों के ऊपर एक नोक-

दार दाँतवाला कुशाग्रबुद्धि और शीघ्र-चेतन होता है। निस्तेज दाँतोंवाले को सदा उत्साह-हीन और भीतर से बुझा हुआ मानना चाहिये।

१०—ठुड्डी—विशेष चतुर की ठुड्डी नोकदार होती है। जिसकी ठुड्डी भरी और निकली रहती है वह आनन्दी जीव होता है। छोटी ठुड्डीवाला गृह-मोही, कंजूस, स्वार्थी और उद्दण्ड होता है। पतली ठुड्डीवाला प्रेमी और रसिक तथा चौड़ी ठुड्डीवाला उदार एवं आवश्यकता से अधिक विनम्र होता है। बड़ी ठुड्डी-वाला साहसी, कर्म-कुशल एवं विश्वासी होता है।

आकृति-परीक्षा

सम्पूर्ण मुख-मंडल को देखकर किसी के विषय में बहुत कुछ सरलता से जाना जा सकता है। किसी की आकृति में भोलापन देखकर उसके स्वभाव की निष्कटपता का अनुमान सहज ही में हो जाता है। चेहरे पर सौम्यता देखकर सज्जनता का, रूक्षता देखकर कठोरता का, कोमलता देखकर सरसता का और वक्रता देखकर कुटिलता का ज्ञान देखने मात्र से हो जाता है। चेहरे की स्वच्छता से स्वास्थ्य का पता तो लगता ही है, मन की स्फूर्ति का आभास भी मिलता है। मनुष्य के सभी गुणों की आभा उसकी आकृति में मिलती है। शरीर का सारा तेज मुख-मंडल से व्यक्त होता है। आपने प्राचीन चित्रों में देखा होगा कि महापुरुषों और देवताओं के सिर के चारों ओर एक प्रकाश-मडल बना रहता है। उसे ही अँग्रेजी में Aura कहते है। यह प्रभा-मडल केवल कल्पना से नहीं बनाया जाता। वास्तव मे, तेजस्वी पुरुषो के रक्त से एक प्रकार की आभा स्फुटित होती है जो कई फुट तक वायु-मंडल पर अपना विशेष प्रभाव रखती है। प्रत्येक वस्तु जो चमकती है, वह अपनी आभा फेंकती

है। वह आभा मनुष्य की अन्तर्ज्योति से निकलती है। महात्मा गाँधी के मुख पर जो तेज था, वह सर्वविदित है। मालवीय-जी को जिन्होंने देखा होगा, वे भी उस तेज से परिचित होंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी के मुख-मंडल पर तेज देखकर आप उसकी तेजस्विता और प्रभावशक्ति को सहज में समझ सकते हैं। संयमहीन व्यक्ति के चेहरे पर कभी तेज की झलक न मिलेगी। आत्म-तेज—मनस्वी, गंभीर, संयमी और शान्त मनुष्यों की आकृति में ही मिलता है।

जिसका चेहरा उभरा हुआ होता है वह यशोभिलाषी और क्रिया-चतुर होता है। जिसका अन्दर धँसा हुआ होता है वह दुष्ट, कृपण, छली, चिन्ताशील, मनहूस और नाना दुर्गुण-सम्पन्न कहा जाता है। लटके हुए चेहरेवाला उदास और मलिन स्वभाव का तथा पर-द्वेषी होता है। सरस हृदयवाले का मुख सदैव ऐसा लगता है, मानो वह मुस्करा रहा है। निश्छल स्वभाववाले हँसमुख होते हैं। चपल एवं उत्साही मनुष्य लम्बे मुँहवाले होते हैं। बड़े मुँहवाला दुःखी, दुःखदायी और अप-घातक कहा जाता है। गोल मुँहवाला उल्लू होता है तथा साथ ही शठ भी। छोटे मुँहवाले छोटी तबीयत के और कायर तथा कामी होते हैं। बहुत बड़े मुखवाला होने से विपत्ति-भोगी, चौकोर होने से महाधूर्त्त और चौकन्ना एवं नत होने से अपराधी होना सूचित होता है। गिलहरी-जैसा छोटे मुखवाला कृपण होता है और हर काम को बचा-बचाकर करता है। 'वृहत् संहिता' में लिखा है कि जिनके मुख गाय, वृष, सिंह या गरुड़ की तरह प्रतीत होते हैं, वे बुद्धिमान्, चैतन्य, मनस्वी, तेजस्वी, तथा उन्नतिशील होते हैं। बन्दर, भैंसा, सूअर या बकरे-जैसे मुखवाले क्रम से उच्छृंखल, बुद्धू, नीच और निर्बल होते हैं।

गर्दभ-मुख में गर्दभ के सभी लक्षण रहते हैं।

निश्चिन्त रहने वाले, सम्पन्न, शान्तचित्त और आत्म-विश्वासी के मुख पर झुर्रियाँ नहीं मिलतीं। कष्ट-सहिष्णु, परिश्रमी, चिन्ता-ग्रस्त या धनहीन के मुख पर रेखायें मुख्यतः व्यक्ति-विशेष के परिश्रम, अभ्यास और चिन्तनशीलता का परिचय देती हैं। सर्वाङ्गसुन्दर मुखवाला रसिक, भोगी, कला-संगीत-प्रेमी और जनानुरागी होता है। विकृत मुखवाला प्रपंची, कटु-भाषी, तथा नाना विकार मन में लिए रहता है। मुख के रंग से नहीं, उसके गठन और उसकी स्वाभाविकता एवं समता से मनुष्य के व्यक्तित्त्व का पता चलता है। बुद्धिमान् का आप रंग नहीं देखते। यदि किसी के चेहरे का ऊपरी भाग तो संकीर्ण और पीछे की ओर झुका हो और गाल तथा ठुड्डी का भाग विस्तीर्ण तथा आगे की ओर निकला हो तो आप भाँप जाएँगे कि वह दंभी, महालोलुप औ निकम्मा है।

मुख की आकृति की बनावट से लोग सदा से प्रभावित होते आये हैं। इंगलैंड की रानी एलिजाबेथ कहा करती थी कि किसी का सुन्दर मुख सबसे सुन्दर प्रशंसापत्र है—"A good face is the best letter of recommendation." इंगलैंड के विश्वमान्य कवि शेक्सपीयर ने भी एक पात्र के मुख से इसी बात को ध्वनित करते हुए कहा है कि मैं तुम्हारे चेहरे को सम्मान, सत्यवादिता और अनुराग का एक मानचित्र मानता हूँ—

"In thy face I see the map of honour, truth and loyalty."

—Shakespeare.

चेहरे की बनावट में मनुष्य-स्वभाव और चरित्र की बनावट अवश्य झलकती है, लेकिन कभी-कभी धोखा भी हो जाता है।

इसलिये मुखाकृति-मात्र देखकर ही किसी को सज्जन-दुर्जन न समझना चाहिये। अभ्यास से और नाना वस्तुओं के प्रयोग से लोग तरह-तरह के मुँह बना लेते हैं। अँग्रेजी में अभी हाल में एक अच्छी पुस्तक निकली है; उसका नाम है 'Ideas Have Legs.' अर्थात् विचारों में बढ़ने की शक्ति होती है। उसमें लिखा है कि इस समय के सुप्रसिद्ध वक्ता चर्चिल ने अपने युवाकाल में वर्षों तक सामने शीशा रखकर मुँह बनाने का अभ्यास किया था। किसी भाव को व्यक्त करते समय आकृति की बनावट कैसी होनी चाहिये, इसका अध्ययन करके उसने यथा-अवसर अपने मुँह को वैसा ही बनाना सीखा और तब वह सफल भाषक बन सका। ऐसे धूर्त्तराज और भी मिल सकते हैं जो अपने व्यक्तित्त्व को छिपाकर कृत्रिम व्यक्तित्त्व प्रकट करें।

सम्भवत: उक्त ग्रन्थ में ही, या अन्यत्र कहीं, हमने इटली के सुप्रसिद्ध मुसोलिनी के सम्बन्ध में पढ़ा है कि उसने लोगों को प्रभावित करने के लिये एक विचित्र प्रकार का अभ्यास किया था। किसी से बातचीत करते समय वह अपनी आकृति में ऐसा परिवर्तन कर लेता था कि लोग उसी के वश में हो जाते थे। यह परिवर्तन वह केवल नेत्रों के सहारे करता था। आँखों को दीर्घाकार बनाकर वह पुतली के सहारे काले गोले को नेत्र-मण्डल के ठीक बीचोंबीच अवस्थित कर देता था। इससे काले भाग के चारों ओर सफेद भाग का एक मण्डल घिर जाता था और अधिक देर तक इसी प्रकार एकटक देखने पर सामने बैठनेवाला एक प्रकार से मेस्मेराइज्ड (मोहित) हो जाता था। मुसोलिनी ने भी अपने सामने शीशा रखकर कुछ दिनों में इस कला का अभ्यास कर लिया था।

इस तरह के और भी कला-कुटिल मिल सकते हैं, जिनकी मुखाकृति से सहसा धोखा हो सकता है; पर नब्बे प्रतिशत आदमी चेहरे से प्रकट हो जाते हैं। सोते समय उनके चेहरे को देखकर उसकी ठीक-ठीक परीक्षा हो सकती है। अथवा जब वे हँसते हों तो ध्यान से उनके चेहरे को देखिये। उस दशा में उनकी बनावट खुल जाएगी। बहुत-से ऐसे लोग मिलेंगे जो हँसते हुए भी रोते-से प्रतीत होंगे क्योंकि उनका हृदय रोता रहता है।

१२—अब ग्रीवा को लीजिये। गले की बनावट से भी आदमी का कुछ पता लग जाता है। लम्बी गर्दनवाला मूर्ख, भटकने वाला, बक्की तथा बहुत खानेवाला होता है। जिसका गला बहुत भरा हुआ रहता है, वह कामी और व्यसनी होता है। जिसका गला नीचे भारी, ऊपर एकदम पतला हो, वह खा-पीकर मस्त रहने में ही जीवन की उपयोगिता मानता है। सिर एकदम कन्धे से जुड़ा हुआ लगे तो वह व्यक्ति परिश्रमी, शुष्क, अहंकारी और कृपण होता है। शुष्क या नसों के कई भागों में बँधा हुआ गला निर्धनता का चिह्न है। भैसे-जैसे गलेवाला बलवान् होता है। शंख-जैसी ग्रीवावाला गुणी, यशोभिलाषी और स्वाभिमानी होता है।

१३—वक्षःस्थल—जिसका वक्षःस्थल उन्नत, चौड़ा और भरा हुआ होता है वह सुखी, शक्तिशाली और कर्मशील होता है। ऐसा व्यक्ति स्वभाव से ही शूरवीर होता है। संकीर्ण वक्षःस्थलवाला कायर, अकर्मण्य और छोटे विचारों का होता है। ऊँचे वक्षःस्थलवाला साहसी, उत्साही और सर्वदा सामर्थ्यवान् होता है।

१४—कन्धा—सहनशील, परिश्रमी और पुरुषार्थी का

कन्धा बैल की तरह उठा हुआ और मांसल होता है। अपराधी-का कन्धा स्वभावतः झुका हुआ और कृश होता है।

१५—पेट और कमर—लम्बे पेटवाला वहुभक्षी, अस्थिर-चित्त और चिड़चिड़े स्वभाव का होता है। गोल पेटवाला प्रायः विनोदी, रसिक, प्रत्येक दशा में सुखी एवं सन्तुष्ट तथा विश्वास-पात्र होता है। शरीर-सम्बन्धी कार्य वह कम कर सकता है। किन्तु बुद्धि-क्षेत्र में वही गणेश हो सकता है। जब आपको सरल चित्त का मित्र बनाना हो तो किसी मोटे आदमी को ढूँढ़िये। कृशोदर सबसे निकृष्ट होते हैं। सर्वोत्तम वे होते हैं जिनके वक्ष से उनका पेट थोड़ा नीचा होता है, न बहुत उठा हुआ, न अधिक लम्बा। पतली कमर स्त्रियों की शोभा है। पुरुष की कमर भरी हुई ही श्रेष्ठ होती है। लचकदार कमर वाले को लचकदार स्वभाव का मानना चाहिए। वह स्त्रियों का अनु-रागी और पुरुषों से दूर भागने वाला होगा। समान पेट होने से वह मनुष्य भोगी होगा।

१६—हाथ—श्रेष्ठ पुरुष के हाथ उसके घुटनों तक जाते हैं। हमने सुना है कि गांधीजी के हाथ घुटनों के पास तक पहुँचते थे। अच्छे हाथ हाथी की सूँड़ की तरह ऊपर से क्रमशः पतले होते हैं, अधिक लम्बे और भरे हुए होते हैं। ऐसे व्यक्ति यशस्वी, कार्य-कुशल, उदार एवं शक्तिशाली होते हैं। ऐसे व्यक्ति जिनके हाथ बहुत छोटे या असमान, और बालों से भरे रहते हैं वे प्रायः दुःखी, कापुरुष, बातों के बली और उलटा-सीधा काम करने-वाले होते हैं। जिनके हाथ ऊपर-नीचे एक-से होते हैं, अर्थात् शुण्डाकार नहीं होते वे प्रपची, निष्फल क्रोधी, चालाकी के काम में पटु और कर्कश होते हैं।

१७—हथेली—मनुष्य को परखने की सबसे अच्छी कसौटी

हथेली है। हमने कई वर्ष पहले एक प्राचीन एवं अनुभवी फ्रेंच लेखक का एक ग्रंथ पढ़ा था। वह ग्रंथ हस्त-विज्ञान पर था। उस लेखक ने लिखा था कि जब आप किसी नये आदमी से मिलते हैं तो हाथ मिलाते समय उसके हाथ को देख लीजिये—यदि आप हस्त-विज्ञान के दो-चार प्रमुख लक्षणों के जानकार भी होंगे तो उस आदमी के स्वभाव आदि के विषय में उनसे बहुत कुछ जान जायँगे और सतर्क होकर बातें करेंगे।

हथेली पर दृष्टि डालते ही सर्वप्रथम नाखूनों पर दृष्टि डालिये। यदि वे चिकने, चमकदार, सुडौल और लाल या ताम्रवर्ण के हों तो निश्चय ही मान लीजिये कि वह व्यक्ति तेजस्वी और शरीर-मन से शुद्ध एवं स्वस्थ है। नखों के मूल में अर्द्ध-चन्द्र का चिह्न होना सुन्दर स्वास्थ्य का परिचायक होता है। जब आपकी पाचन-क्रिया ठीक होती है और रक्त शुद्ध होता है, तब वह चिह्न उक्त स्थल पर प्रकट होता है। अस्वस्थ होने पर वह चमड़े से ढँक उठता है और नाखूनों पर सफ़ेद-सफ़ेद छींटे पड़ जाते हैं। यदि किसी के नख विवर्ण हों तो उसे तर्क-कुतर्क-प्रेमी मानिये। रूक्ष नखवाला निर्धन होता है। काले या फटे हुए नख मनुष्य की हीनता प्रकट करते हैं। यदि किसी के नख गन्दे हों तो वह स्वभाव का भी गन्दा होगा। किसी के नख धँसे हों तो वह मन्द बुद्धि होगा। किसी के नख पिलपिले हों तो बड़ा निर्बल और डरपोक होगा। नखों से उँगलियों की शक्ति बढ़ती है। अतएव नख यदि मज़बूत रहेंगे तो उँगलियाँ विशेष क्रियावान् होंगी; और उँगलियाँ ही सारे हाथ को सुदृढ़ करती हैं; तथा हाथ ही मनुष्य का मुख्य सहायक एवं सखा होता है। अतएव नखों पर विशेष ध्यान रखिए।

अब उँगलियों पर दृष्टि डालिये। उँगलियों का राजा अँगूठा

है। हाथ की सारी चाबी अँगूठे के हाथ में रहती है। अन्य चारों उँगलियाँ मिलकर भी किसी वस्तु को दृढ़ता से नहीं पकड़ सकतीं। जब वे अँगूठे का सहयोग पाती हैं तभी सबल होती हैं, तभी हाथ की मुट्ठी बँधती है और तभी आपकी मुट्ठी में कोई वस्तु आती है। अँगूठे को अलग खड़ा रखकर केवल चारों उँगलियों को मिलाकर किसी को एक मुक्का लगाइये तो उसे कुछ भी चोट न लगेगी किन्तु, अँगूठे का आश्रय लेकर मारिये तो आपकी पूरी शक्ति केन्द्रित होकर प्रहार करेगी।

अँगूठे की बड़ी महिमा है। उसी से राज-तिलक होता है, उसी से आप लिखते हैं और उसी से किसी वस्तु को पकड़ते हैं। यदि अँगूठा न हो तो एक अक्षर भी लिखना कठिन होगा। वह न हो तो आप एक लोटा भी सीधे नहीं उठा सकते। अँगूठा जब चैतन्य होकर खड़ा हो जाता है तो सारा हाथ चैतन्य हो जाता है, उस समय चारों उँगलियाँ सारी शक्ति लगाकर भी हथेली को ढँककर नहीं रख सकतीं। इतना प्रभावशाली अंग मनुष्य के प्रभाव और पुरुषार्थ का निश्चय ही प्रतीक होगा।

एक अँग्रेजी विद्वान् ने मानव-परीक्षा की एक अच्छी युक्ति बताई है। मुट्ठी बाँधने पर जिसका अँगूठा चारों उँगलियों के ऊपर रहता है वह मनुष्य आत्म-विश्वासी, धैर्यवान्, चेतनावान्, शक्ति-सम्पन्न, स्वाभिमानी, दृढ़-निश्चयी और साहसी तथा क्रिया-कुशल होता है। जो व्यक्ति अँगूठे को उंगलियों के बीच में रखकर मुट्ठी बाँधता है, वह भीरु, साहसहीन, निर्बल, सन्देह-ग्रस्त, आलसी, अकर्मण्य, परावलम्बी और चेतना-हीन तथा चंचल-चित्त होता है। इसकी आप स्वयं परीक्षा करके देखिये। अँगूठे को ऊपर रखकर मुट्ठी बाँधने से हाथ ही में नहीं, मन में भी दृढ़ता आती है, नवीन स्फूर्ति आती है और एक प्रकार का

आत्म-बल अनुभूत होता है। अँगूठे को अन्दर रखने से मुट्ठी कसकर नहीं बाँधी जा सकती। उस अवस्था में मन भी ढीला रहता है और अँगूठे के बंधने से सारी आत्मा बँधी हुई-सी लगती है। अतएव स्पष्ट है कि अँगूठा हमारी शक्ति का द्वारपाल है और अपने स्थान का सरदार। यदि बच्चे अँगूठे को उंगलियों से दबाकर रखते हों तो समझिये कि वे निकम्मे होंगे। यदि आप घरेलू काम के लिये परम स्वामिभक्त सेवक चाहते हों तो ऐसे आदमी को लीजिये; वह कभी स्वतन्त्र मनोवृत्ति का न होगा। यदि आप महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये किसी व्यक्ति की खोज में हों तो ऐसे व्यक्ति को देखिये जो मुट्ठी बाँधना जानता हो।

मनुष्य के अँगूठे में जन्म से ही कुछ विशेषताएं होती है। एक विशेषता तो यह होती है कि प्रत्येक व्यक्ति के अँगूठे की रेखायें भिन्न होती हैं। इसलिए सरकारी कागजों पर अँगूठे के निशान लिये जाते है। सब जगह की रेखायें बदलती रहती हैं। पर अँगूठे की रेखायें सदैव एक-सी रहती है। यही इसका प्रमाण है कि अँगूठा हमारे स्थायी व्यक्तित्व का सच्चा प्रतीक होता है। व्यास के मत से मनुष्य की सूक्ष्म-देह अथवा आत्मा अँगूठे के बराबर होती है।

अब अँगूठे की बनावट पर संक्षेप में इतना जान लीजिये। अँगूठा न बहुत बड़ा, न बहुत छोटा होना अच्छा माना जाता है। बहुत बड़े अँगूठेवाला उच्छृंखल और असहनशील होता है। छोटे अँगूठेवाला दयाहीन, मन्द, अल्पधी और संकीर्ण विचारों का होता है। वह सुविभक्त अर्थात् उंगलियों से सुदूर रहे तथा स्वतन्त्र एवं प्रभावशाली प्रतीत हो तो मनुष्य की श्रेष्ठता का बोधक होता है। उंगलियों के बहुत निकट और हथेली से सटा हुआ होने पर वह किसी व्यक्ति की अयोग्यता प्रकट करता है।

अंगूठा इतना बड़ा होना चाहिये कि वह मुट्ठी बाँधने पर बीच की उंगली की गाँठ के ऊपर जाकर उसको ठीक से दबाकर पकड़ सके। वीर-स्वभाव के मनुष्य का अँगूठा नीचे स्थूल, बीच में तलवार की धार-सा उभरा हुआ और ऊपर पीछे की ओर कुछ झुका हुआ किन्तु मांसल होता है। मूर्ख का अँगूठा लोटे-जैसा होता है। जिसका अंगूठा जितना ही चैतन्य होगा, उतना ही वह व्यक्ति भीतर से क्रियाशील और उत्साही होगा। जिसका मूल भाग पतला, ऊपर का अंगुष्ठ-भाग स्थूल होता है, वह निर्बल होता है।

उँगलियों के सम्बन्ध में कुछ जानने-योग्य मुख्य बातें ये हैं। ढीली और उभरी नसों से युक्त उँगलियों वाले कला-प्रेमी हो सकते हैं पर वे शक्तिमान् नहीं होते। अपने-अपने स्थान पर सब सुदृढ़ हों, स्वतन्त्र हों और मिलने पर बिखरी हुई-सी न लगें तो वे उँगलियाँ मनुष्य की दृढ़ता को सूचित करती हैं। जिसकी उँगलियों के मिलने पर किन्हीं दो उँगलियों के बीच से छेद नहीं दिखाई देता वह धन-संग्रह में प्रवीण एव धनी माना जाता है। विरली उंगलियाँ निर्धनता सूचित करती है। जिसकी हस्तांगुलियाँ दीर्घ होती हैं वह दीर्घायु होता है। टेढ़ी-मेढ़ी उँगलियों वाले वक्र स्वभाव के होते हैं।

कर-तल स्निग्ध, सुकोमल, कान्तिमय और भरा हुआ रहने से मनुष्य के ऐश्वर्य, उन्नत स्वभाव और सुन्दर स्वास्थ्य का बोध होता है। निस्तेज, शुष्क और दबे हुए हाथों वाले कर्कश, कृपण और कठोर कर्म में अभ्यस्त होते हैं। चौड़ी हथेली का मनष्य उदार और कृति-कुशल होता है। जिसका पाणितल लाल होता है, कमल-जैसा लगता है, उँगलियों के मूल-स्थान में उभरा रहता है, सुन्दर लाल रेखाओं से हस्ततल विभक्त रहता है, वह

प्रभुतावान्, शासन-प्रवीण, जनानुरागी और बुद्धि-कुशल माना जाता है। जिसका पाणि-देश संकीर्ण, नतोन्नत अथवा एकदम खाली-सा लगता है, काली या धुँधली रेखाओं से भरा या मुख्य रेखाओं से हीन होता है, वह पितृ-धन-वंचित, मृत्यु-भीत, आलसी, प्रमादी, पुरुषार्थ-हीन तथा केवल शारीरिक परिश्रम में कुशल होता है। सौम्य पुरुष की हथेली न बहुत गरम होती है, न बहुत ठंडी। डरे हुए, अस्थिर चित्त और छली की हथेली ठंडी लगती है। निकम्मे आदमी की हथेली पसीने से भीगी रहती है। क्रूर, शूर और अहंकारी की हथेली गरम और कठोर होती है।

उँगलियों और अँगूठे के नीचे के स्थान उभरे रहने से मनुष्य की शक्ति का आभास मिलता है। सामुद्रिक शास्त्र को आप चाहे न मानिये पर इतना तो मानेंगे कि जिस उँगली का मूलदेश उभरा रहता है, वह अधिक सजीव और सक्रिय होती है। उँगलियों की सारी शक्ति उनके मूल-देश से मिलती है। इन उभरे हुए स्थानों को सामुद्रिक भाषा में ग्रह-स्थान कहते हैं। अँगूठे के नीचे शुक्र का निशान होता है। जिसका शुक्र-स्थान उच्च होता है वह आदर्शवादी, सौन्दर्य-साहित्य-संगीत-कला-नृत्य-प्रेमी, कलाविद् और शिल्प-विद्या का अनुरागी होता है। जिसका यह स्थान बहुत ऊँचा होता है वह कामी, निर्लज्ज और महा-भोगी होता है। यदि यह स्थान नीचा हो तो ऐसा मनुष्य स्वार्थी, आलसी और द्वेषी तथा निकम्मा होता है। तर्जनी के मूल-देश को बृहस्पति का स्थान कहते है। यह स्थान बहुत ऊँचा होने से मनुष्य महान् अहंकारी और उच्छृंखल होता है, ऊँचा होने से प्रभुत्त्व-प्रेमी, शासन-पटु और तेजस्वी होता है। नीचा होने से वञ्चक और नीच प्रकृति का होता है। मध्यमा उँगली—के नीचे शनि-स्थान होता है। शनि-स्थान उच्च होने से मनुष्य अल्पभाषी

आमोद-प्रमोद-प्रेमी और एकान्त-प्रिय होता है। उसके नीचा होने से वह व्यक्ति नीच विचारोंवाला, उद्धत और प्रायः आत्म-हत्या की प्रवृत्ति रखने वाला होता है। अनामिका के मूल में रवि रहता है। उच्च रवि-स्थान वाला मनुष्य चंचल, कला-प्रेमी, खोजी और स्त्री-भक्त होता है। ऐसे व्यक्ति प्रायः लम्बे केश पसन्द करते हैं। जिसका यह स्थान नीचा होता है वह आलसी और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होता है। कनिष्ठा के नीचे बुध का स्थान है। बुध का स्थान ऊँचा रहने से मनुष्य शास्त्रज्ञ, वक्ता, परिश्रमी, साहसी, भ्रमणशील एव चतुर होता है। अत्युच्च होने से शठ, झूठा, विश्वासघाती और स्त्री-सुख से वंचित होता है। नीचा होने से विद्या-द्रोही, अकर्मण्य और मूर्ख होता है। हथेली के जिस हिस्से से टेक लगाकर लिखते हैं, वह चन्द्र का स्थान है। जिसका यह स्थान ऊँचा होता है वह आत्म-ज्ञानी, संगीत-प्रेमी, आस्तिक और चिन्तनशील तथा गम्भीर होता है। जिसका चन्द्र-स्थान नीचा होता है, वह चिन्तन-शक्ति से रहित होता है। चद्र-स्थान और बुध-स्थान के बीच में तथा शुक्र-स्थान और बृहस्पति-स्थान के बीच के मंगल के स्थान होते हैं। यदि अंगूठे के ऊपर वाला मंगल-स्थान उच्च हो तो वह व्यक्ति महा साहसी, पराक्रमी, विवाद-प्रेमी और तत्काल ज्ञानवान् होगा। चन्द्र के ऊपर वाला मंगल-धाम ऊँचा रहने से मनुष्य धीर, न्याय-प्रिय, विनम्र, दृढ़-प्रतिज्ञ और साहसी तथा धर्म-प्रेमी होगा। जिसके दोनों मंगल-स्थान उच्च रहते हैं, वह निष्ठुर, अत्याचारी, उग्र, दुःशील, कामी और रक्त-पात-प्रेमी होता है। दोनों स्थान निम्न होने से स्वभाव में अस्थिरता और भीरुता व्यंजित होती है।

सामुद्रिक मत से बृहस्पति और रवि, दोनों के स्थान उच्च होने से मनुष्य धनी होता है। साथ में बध भी ऊँचा हो तो विज्ञान

और न्यायशास्त्र में प्रवीण होता है; मंगल भी उच्च हो तो रण-कुशल। शनि, बृहस्पति जिनके उच्च होते है वे धैर्यवान् किन्तु मूर्च्छा या वायु-रोग से आक्रान्त होते है। शनि, बुध उच्च होने से वह व्यक्ति चोर, क्रोधी और उच्छृंखल स्वभाव का होता है। शनि, मंगल की उच्चता से निर्लज्ज और क्रूर होता है।

हथेली का पिछला भाग यदि कछुए की पीठ की तरह हो तो शुभ है। वह व्यक्ति उन्नतिशील होगा जिसका पाणि-पृष्ठ समुन्नत हो, चमकदार और मुलायम हो। जिसके इस भाग में बहुत नसें उभरी हों वह कर्कश और निर्बल होगा। जिसका यह भाग बहुत फूला हो वह रोगी, निकम्मा और सुस्त होगा। जिसका सम्पूर्ण हाथ शेर के पंजे-जैसा लगे वह खतरनाक होगा।

१८—हाथ की रेखायें—हाथ की रेखाओं पर कुछ लिख देना भी अप्रासंगिक न होगा। हस्त-रेखा-विज्ञान पर प्राचीन विद्वानों ने बहुत-कुछ लिखा है। पाश्चात्य विद्वानो मे 'कीयरो' (Cheiro) इस विषय का प्रकांड पण्डित था। उसने इस भारतीय शास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन किया था और हस्त-रेखा से स्वयं अपनी मृत्यु-तिथि और ऐसी ही कितनी घटनाओं की पहले से ही घोषणा कर दी थी जो सत्य निकली। लार्ड किचनर की युवावस्था मे ही उसने उनका भविष्य-फल बता दिया था और यह भी कह दिया था कि उनकी मृत्यु जल में होगी। अन्त मे सचमुच उन्हे जल-समाधि प्राप्त हुई। हस्त-रेखा की सत्यता के ये श्रेष्ठ प्रमाण हैं।

वास्तव मे, हाथ की रेखायें व्यर्थ या केवल हाथ की शोभा-सामग्री नहीं होतीं। यदि प्रकृति ने उन्हें शोभा के निमित्त बनाया होता तो वे इस रूप में नहीं, सुन्दर पुष्पो के रेखा-चित्र के रूप में होतीं। इन रेखाओं से मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्बन्ध होता

है। एक-दूसरे की हस्तरेखा नहीं मिलती क्योंकि सबका व्यक्तित्त्व भिन्न-भिन्न होता है। सत्य बात यह है कि कर-तल सारे व्यक्तित्त्व का ऑफ़िस होता है जहाँ व्यवसाय-सम्बन्धी सारे बही-खाते रहते हैं। किसी वस्तु पर जब अन्य वस्तु की रगड़ अधिक समय तक पड़ती है तो वहाँ निशान पड़ जाता है। हमारे मन पर जब चिन्ता की रगड़ पड़ती है तो माथे पर बल पड़ जाता है और जब बहुत रगड़ पड़ती है तो गालों पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। हाथ की रेखायें भी हमारी प्राकृतिक शक्तियों के सम्मिलन या संघर्ष के फल-स्वरूप बनती हैं। वे मनुष्य के व्यक्तित्त्व के साथ-साथ बनती-बिगड़ती हैं, यही इस बात का एक अच्छा प्रमाण है कि वे हमारी आन्तरिक दशा को व्यक्त करती हैं। आपमें यदि मनोबल हो तो आप कुछ समय में रेखाओं को बदल सकते हैं। बुद्ध के नौ तरह के हस्त-चित्र मिलते हैं, जिनमें नौ तरह के रेखा-क्रम हैं। अवस्थानुसार और आत्मिकशक्ति की ह्रास-वृद्धि के साथ ये परिवर्तन होते रहते हैं। भीतर से स्वस्थ होने पर रेखायें लाल हो जाती हैं और स्वास्थ्य बिगड़ने पर या चित्त-वृत्ति विकृत होने पर काली या पीली पड़ने लगती हैं। इससे मालूम होता है कि रेखायें आन्तरिक क्रियाओं की सूचना देती हैं।

हस्त-रेखा का विषय बहुत विस्तृत है। उसकी विशेष जानकारी के लिये आप तद्विषयक किसी ग्रन्थ का अध्ययन कीजिये। बहुत संक्षेप में हम उसकी दो-चार मुख्य बातों का उल्लेख यहाँ पर करते हैं। हाथ में मुख्य लम्बी रेखाओं के अतिरिक्त कम लम्बी रेखायें होना शुभ माना जाता है। जिसके हाथ में अधिक रेखायें भरी रहती हैं वह व्यक्ति दुःखी, कर्कश, दरिद्र, भाग्यहीन और शरीर से दुर्बल होता है। जिसके हाथ की रेखायें लाल रंग

की होती हैं वह व्यक्ति वाक्पटु, उग्र और भोग-विलास का अनु-रागी होता है। जिसकी बहुत लाल होती हैं वह भयंकर, क्रोधी, दुष्ट और पर-द्रोही होता है। पीली रेखावाला पित्त-पीड़ित, उग्र स्वभाव का महत्त्वाकांक्षी, परिश्रमी और द्वेषी होता है। काली रेखाओंवाला दोषी, द्वेषी, मलिनबुद्धि और मृत्यु के निकट रहने-वाला होता है।

हाथ की चार रेखायें मुख्य होती है। वह रेखा जो मणि-बंध के मध्य से उठकर अँगूठे को घेरती हुई तर्जनी के नीचे जाती है उसे जीवन-रेखा या पितृरेखा कहते हैं। हथेली के मध्य में जो रेखा एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व तक जाती है, उसे मातृ-रेखा कहते हैं। उसके ऊपरवाली प्रधान रेखा को आयु-रेखा मानते हैं और जो रेखा मणि-बंध से उठकर सीधे ऊपर की ओर जाती है उसे ऊर्ध्व-रेखा या भाग्य-रेखा कहते हैं।

(दाहिने हाथ में) जिसकी पितृ-रेखा बहुत चौड़ी और कान्ति-हीन होती है वह चिन्तातुर, अस्वस्थ, स्वभाव का कुटिल और आत्म-शक्ति से हीन होता है। इसका शृंखलामय होना दुर्बलता एवं शारीरिक अस्वस्थता का द्योतक है। यदि यह छोटी हो और हाथ की पार्श्व-सीमा तक न पहुँचे तो प्राणी का आयुर्बल कम होता है। जिसकी यह रेखा स्थान-स्थान पर खंडित रहती है, वह समय-समय पर नाना प्रकार की व्याधियों से पीड़ित होता है। जिसकी यह रेखा अँगूठे के मूल प्रदेश की ओर चली जाती है उसकी पुरुषार्थ-शक्ति व्यर्थ होती है। यदि इसका मूल नाना रेखाओं से कटा हो तो वह प्राणी मिथ्याभिमानी और अस्थिर बुद्धिवाला होता है किन्तु विवेकवान् और विश्वास-योग्य होता है। जिसकी पितृ-रेखा से एक रेखा निकलकर भाग्य-रेखा में मिलती है वह व्यक्ति यशस्वी, विद्वान् और सिद्धि-साधक होता

है। जिसकी इस रेखा से उसकी मातृ-रेखा आकर नहीं मिलती है वह व्यक्ति हठी, उद्धत, महाभिमानी और आतुर मतिवाला होता है। ऐसा व्यक्ति हाव-भाव दिखाने में कुशल, लम्बी-चौड़ी बातें हाँकने और व्याख्यान देने में अनन्य तथा आत्म-विज्ञापन में सबसे आगे रहता है। साथ ही, वह किसी काम को मन लगाकर करने में समर्थ होता है; किसी विषय का विशेषज्ञ और दुस्साहसी होता है।

जिसकी मातृ-रेखा (इसे मस्तक-रेखा भी कहते हैं।) लम्बी और सुडौल हो वह धैर्यशाली, व्यवसायी और आत्म-विश्वासी होता है। जिसकी यह रेखा खण्डित होती है, उसे मस्तक में चोट लगने का भय रहता है। यदि इसके अन्त में बहुत-सी शाखायें हों तो वह व्यक्ति बड़ा ढोंगी और विलासी होगा। यदि यह रेखा और पितृ-रेखा दोनों छोटी हों तो किसी आकस्मिक घटना से मनुष्य मरता है। यदि यह रेखा अथवा पितृ-रेखा या आयु-रेखा किसी के हाथ में न हो तो वह व्यक्ति आकस्मिक घटनाओं या चोट आदि से विशेष कष्ट पाता है।

आयु-रेखा—(इसे हृदय-रेखा भी कहते हैं) इसके शृंखलामय होने से मनुष्य निकम्मा और कामुक होता है। यदि यह कटी न हो तो मनुष्य दीर्घजीवी होता है। जिसके दोनों हाथों में यह शाखा-विहीन होती है वह अल्पायु होता है। यदि यह रेखा बीच उँगली के नीचे ही टूट जाय तो हृदय-वेदना और मानसिक कष्ट अथवा चोट का भय रहता है। जिसकी आयु-रेखा झुककर मातृ-रेखा से बीच उँगली के नीचे मिलती है उसकी हठात् मृत्यु होती है। जिसकी यह रेखा मातृ-रेखा की ओर झुकी रहे और मातृ-रेखा इस रेखा की ओर तनी रहे अर्थात् यदि बीच उँगली के निम्न भाग में आयु-रेखा और मातृ-रेखा में कम अन्तर

हो तो वह व्यक्ति रहस्यमय प्रकृति का और रिश्वती होगा अथवा अनुचित रूप से धन-संग्रह का आकांक्षी होगा। यदि इस रेखा की एक शाखा निकलकर मातृरेखा से मिले और बीच ही में किसी अन्य रेखा से खंडित भी हो गई हो तो उस व्यक्ति का विवाह शोचनीय होगा तथा वह व्यक्ति मानसिक कष्ट से पीड़ित होगा। कनिष्ठा के नीचे इसमें शाखायें न रहने से पुत्र-प्राप्ति की आशा कम रहती है।

भाग्य-रेखा—(इसे भोग-रेखा भी कहते हैं।) इसको हम मनुष्य के कर्म-बल को नापने का माप-दण्ड कह सकते हैं। किसीसे मिलते ही आप उसके हाथ की ओर दृष्टि डालने पर तत्काल इस रेखा को देख सकते हैं और अनुमान कर सकते हैं कि वह व्यक्ति उन्नतिशील है अथवा नहीं। यदि यह रेखा मणिबंध से उठकर मध्यमांगुली के मूल-देश तक सीधी, अबाध जाय तो वह व्यक्ति परम सुखी और उन्नतिवान् एवं ऐश्वर्यशाली होगा। वह जिस स्थिति में भी होगा, अपने वर्ग में सुखी और मान्य होगा। जहाँ यह रेखा खण्डित होगी, वहाँ मनुष्य का ऐश्वर्य खण्डित होगा। खंडित होने पर यदि पास से दूसरी भाग्य-रेखा फिर चल पड़े तो उस व्यक्ति का व्यक्तित्व पुनः प्रभावशाली होगा। यदि हथेली के बीच से यह उठे और बुध की ओर जाय तो वह व्यक्ति व्यवसाय-कुशल या विज्ञान-कुशल होगा। जहाँ वह वक्र होगी, तो मनुष्य के लिये विपत्ति सामने खड़ी मिलेगी। यदि शुक्र के स्थान से कुछ रेखायें निकलकर इसको और पितृ-रेखा को काटें तो उस व्यक्ति को स्त्री-वियोग होगा। जिसके हाथ में यह रेखा बिल्कुल नहीं होती वह उद्यमहीन, निराश और अर्थ-कष्ट से दबा रहता है। यदि यह रेखा पितृरेखा से उठे तो वह व्यक्ति मनस्वी और पौरुषवान् होता है। मूल में इसकी एक शाखा

शुक्र स्थान और दूसरी शाखा चन्द्र-स्थान की ओर जाने से वह व्यक्ति कल्पना-प्रिय और रसिक होता है। हाथ में जहाँ से यह रेखा चले उस अवस्था से उन्नतिकाल का आरम्भ मानना चाहिये। जहाँ यह रेखा मातृरेखा को काटती है वहाँ ३५ वर्ष की आयु मानी जाती है।

१९—मणिबंध—मणिबंध से पुरुष के पुरुषार्थ और उसकी दृढ़ता का पता चलता है। वीर पुरुष का मणिबंध, सुदृढ़, सुश्लिष्ट और सन्धि-विशिष्ट होता है। जिसकी कलाई मज़बूत होती है उसका दिल भी मज़बूत होता है। लचकदार कलाईवाले का स्वभाव भी लचकदार अर्थात् चंचल होता है। झुकी हुई या ढीली कलाई वाला पुरुष नारी-स्वभाव का होता है, अकर्मण्य एवं विलासी होता है। प्राचीन काल से बहनें भाइयों की कलाई में राखी बाँधती आ रही हैं, युद्ध-काल में पत्नियाँ रण-कंकण पहनाती आ रही हैं, यह क्यों? इसका एकमात्र कारण यह है कि वे मणिबंध की दृढ़ता में विश्वास करती हैं और चाहती हैं कि वे झुके नहीं। इसी से उक्त अंग का महत्त्व प्रकट होता है।

स्वस्थ और ऐश्वर्यशाली पुरुष के मणिबंध में तीन सरल और सुन्दर रेखायें होती हैं। स्वास्थ्य जितना अच्छा होता जाता है, उतनी ही वे रेखायें स्पष्ट होती जाती हैं। कर्मशील व्यक्ति की कलाई खड़ी रहती है, अकर्मण्य और भीरु की झुक जाती है।

२०—नितम्ब—कठोर और बहुत बड़े नितम्बवाला व्यक्ति आलसी, अक्खड़ और दंभी होता है। मांसल और उभड़े हुए नितम्ब का मनुष्य साहसी, शक्तिमान् तथा स्वावलम्बी होता है। नितम्बहीन व्यक्ति निकम्मा होता है।

२१—जंघा—हाथी के सूंड या केले के पौधे-जैसी जंघा

उनकी होती है जो शक्तिवान्, स्वस्थ और भोग-समर्थ होते हैं। साधारण व्यक्ति की जंघायें कुत्ते या शृगाल की तरह विरल और मांसहीन होती हैं। पैर ही शरीर-सदन का खम्भा होता है। वह मजबूत होता है तो शरीर भी मजबूत होता है। वह टेढ़ा-मेढ़ा या निर्बल होता है तो मनुष्य भीतर-बाहर दोनों से निर्बल होता है। पतली टाँगोंवाले ऐश्वर्य-भोगी नहीं होते।

२२—पद्-तल—उत्तम पुरुष का पद-तल लाल, मांसल और सरस रहता है। ऐसा व्यक्ति जब चलता है तो उसका पूरा पैर ज़मीन पर पड़ता है। मार्ग में उसके पूरे पैर की छाप मिलती है। अवनतिशील व्यक्ति के पैर की पूरी छाप नहीं मिलती।

अंग-प्रत्यग द्वारा मनुष्य-परीक्षा के यही मुख्य लक्षण हैं। प्राचीन आर्य-ग्रन्थों मे इनपर अच्छी छानबीन हुई है। वैद्यक ग्रन्थों में इनपर वैज्ञानिक रीति से विचार किया गया है। सुश्रुत ने तो एक-एक अंग की नाप तक निर्धारित कर दी है। उसने सारे शरीर की भी प्राकृतिक लम्बाई बताई है। उसके अनुसार पदाग्र पर खड़े होकर दोनों हाथ ऊपर उठाने से नीचे से कराग्र तक मनुष्य अपनी उँगलियों के माप से १२० अंगुल का होता है। चरक और कौटिल्य के मत से साधारण रीति से खड़े होने पर पैर से सिर तक मनुष्य ८४ अंगुल लम्बा होता है। ३६ अंगुल का अन्तर पैर और हाथ उठाने के कारण हो जाता है। जो व्यक्ति १२० अंगुल (या सम-भाव से खड़े होने पर ८४ अंगुल) लम्बा होता है वह वैद्यक के मत से स्वस्थ, दीर्घायु और सुखी एवं प्राकृतिक विभूति-सम्पन्न होता है। 'वृहत् संहिता' के मत से साधारण रूप में खड़े होने पर जो १०८ अंगुल लम्बा हो वह असाधारण श्रेणी का सज्जन होता है। ६६ अंगुलवाला मध्यम श्रेणी का और ८४ अंगुलवाला साधारण श्रेणी का सत्पुरुष होता

है। इससे कम लम्बा व्यक्ति अधम होता है। साधारणतया लोग अपने अंगुलों से ८४ अंगुल लम्बे ही होते हैं।

सुश्रुत ने अंगों-द्वारा आयु-परीक्षा का विधान भी बताया है। उदाहरणार्थ, जिसके संधिस्थल, शिरायें और स्नायु गूढ़ होते हैं, इन्द्रियाँ स्थिर, शरीर पैर से सिर तक उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुडौल होता है, वे दीर्घायु होते है। जिसके पैर छोटे, शिश्न दीर्घ, छाती की पसलियाँ संकुचित, पृष्ठ भाग संकीर्ण, कान अपने स्थान से अधिक ऊँचे, नाक ऊपर चढ़ी हुई हो और जिसके हँसने पर उसके मसूड़ों का मांस दिखलाई पड़ता हो और जो आँखों को बहुत फेरता हो, वह अल्पायु होता है। इसी प्रकार जो जन्म से ही नीरोग हो, जिसके शरीर, ज्ञान, विज्ञान की धीरे-धीरे अवस्थानुसार वृद्धि होती है, वह दीर्घायु होता है। जिसके शरीर, ज्ञान आदि की वृद्धि तीव्रता से होती है, वह अल्पायु होता है। प्राय: यह देखा जाता है कि जिनका बड़ा सुन्दर शारीरिक विकास होता है, जिनका भविष्य बड़ा उज्ज्वल समझा जाता है, उनको अल्प-आयु में ही काल छीन ले जाता है। सुश्रुत के निदान से इसका रहस्य समझ में आ सकता है।

वैद्यक-ग्रन्थों में शरीर-परीक्षा के ऐसे ही कई नियम हैं। वात, पित्त, कफ आदि के आधिक्य या क्षीणता से मानव-स्वभाव किस प्रकार का होता है, इसका वर्णन भी है। बाहरी अंग-दशा से भीतर का सारा हाल अब भी कुशल वैद्य बतला देते हैं। उनका विशेष उल्लेख न करके हम अब यहाँपर कुछ अन्य विधियों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

एक प्रकार की परीक्षा-विधि यह है—२५ वर्ष की आयु के पति-पत्नी अपने को तौलें। यदि वे करीब-करीब बराबर वज़न के हों तो सुखी और परस्पर प्रेमी होंगे। पुरुष स्त्री से कम भारी हो

तो निर्बल दुःखी और स्त्रीजित् होगा। स्त्री कम भारी हो तो वह सुशीला और पति की आज्ञाकारिणी होगी। स्वर से भी मानव-परीक्षा होती है। श्रेष्ठ व्यक्ति का स्वर हाथी, रथ, भेरी, मृदंग, सिंह या मेघ-जैसा होता है। मूर्ख का स्वर गर्दभ-जैसा और दुष्ट का स्वर काक-जैसा कर्कश होता है। चाल से भी अच्छी परीक्षा होती है। बिना शब्द किये चलने वाला व्यक्ति सामर्थ्यवान् और सज्जन होता है। द्रुतगामी और बहुगामी चंचल तथा आतुरमति होता है। दंभी उछलता-कूदता पैर पटकता हुआ चलता है। श्रेष्ठ प्रकृति का पुरुष सिंह, मतंग, सांड या मोर की गति से चलता है। सीधे आदमी के पदतल चलते समय सीधी दिशा में पड़ते हैं, नीति-निपुण और चालाक आदमी के पंजे दाहिने-बायें निकले रहते हैं तथा मूढ़ के पंजे एक-दूसरे की ओर झुके हुए होते हैं।

सारांश

इन सारी बातों का सारांश यह है—मनुष्य के व्यक्तित्व का एक प्रमुख अंश उसके अंग-प्रत्यंग की बनावट से प्रकट होता है। मनुष्य में दृढ़ मनोबल हो तो वह इच्छानुसार अंगों को सुडौल, सतेज, अर्थात् लक्षण-सम्पन्न बना सकता है। वह अंगों को छोटा-बड़ा भले ही न कर सके पर एक स्थान की कमी को दूसरे स्थान से पूरी कर सकता है। अंगों की बनावट से अपनी स्वाभाविक प्रकृति को जानकर वह अधिक सावधान होकर बुद्धिबल से उसको दबा सकता है। और वह दब भी जाती है। जैसे किसी नाटे आदमी को आप देखिये, वह विशेष चैतन्य, कार्य-पटु और दूसरों पर प्रभुता जमाने के लिये प्रयत्नशील मिलेगा। उसकी क्रियायें प्राकृतिक नहीं, बौद्धिक होती हैं। इसलिये वह उस कमी को पूरा करने के लिये अधिक फुर्तीलापन, कार्य-पटुता दिखाकर अपने को श्रेष्ठ दिखलाना चाहता है और

द्वेष-वश बड़े शरीरवालों पर शासन चलाने की मनोवृत्ति रखता है। लम्बे आदमी में यह भाव नहीं उठता।

सम्पूर्ण शरीर को देखिये

किसी की परीक्षा जब आप अंग-प्रत्यंग को देखकर करते हैं तो एकांगी दृष्टिकोण से न करिये। उसमें गलती हो सकती है। किसी का एक अंग प्रभावशाली हो सकता है, किन्तु उसी का एक विरोधी अंग विरोधी दिशा में उससे भी अधिक प्रभावशाली होकर पहले के प्रभाव को मन्द कर सकता है। अतएव, सभी अंगों से मनुष्य को पहचानिये। उदाहरणार्थ यदि किसी की नाक गोल और बगल से चिपटी हो, उसकी आँखें भी धँसी हों, ओंठ भी पतले हों और जीभ भी बहुत लपलपाती हो, उसे आप लोभी समझिये। किसी की आँखें भी धँसी हों, कान तने हों, भौहें वक्र हों, माथा संकुचित या सपाट हो, नाक वक्र हो, नीचे का ओंठ ऊपरवाले पर शासन करता हो तो उसे अभिमानी, क्रोधी या शीघ्रकोपी मानिये। किसी के कान खड़े हों, सिर गोल हो, नाक लम्बी हो, ओंठ पतले और ठुड्डी छोटी हो तथा गर्दन लम्बी हो तो उसे गृह-मोही, स्त्री-प्रेमी मानिये। किसी की आँखें फटी-सी हों अर्थात् ऐसा लगता हो जैसे देखनेवाला आंखें फाड़-फाड़कर देख रहा हो, माथा धँसा हो, केश रूक्ष या खड़े हों, सिर लम्बा, पैर पतले हों और ऐसा लगता हो जैसे उसके सब अंग शरीर के भीतर सिमटे जा रहे है तो उसको भयशील मानिये। जिसके गाल फूले हों, छाती पीछे की ओर विशेष झुकी हो, नाक त्रिकोण हो, शिर पीछे की ओर विशेष निकला हो, ओंठ आपस में चिपटे-से हों बाल बिखरे तथा खड़े हों, आँखें ऊपर-नीचे तनी हों, मत्था या तो बहुत छोटा हो अथवा बहुत धँसा हो, उसे अहंकारी मानिये। जिसका मुँह

निकला हो, ओंठ मोटे, गाल उभरे और आँखें बैल जैसी हों उसको मूर्ख, आलसी, मानहीन मानिये। जिसका सारा मुँह लटका हुआ-सा हो, आवाज़ में मरीहट हो, हाथ बहुत मोटे या पतले हों, वह असुखी और चिन्ताग्रस्त होगा। जिसके अंग आपस में गोंद से चिपकाए हुए से लगते हैं, नाक विशेष चिपटी होती है, नीचे का ओंठ निकला रहता है, मुँह फैला रहता है, कपाल दबा-सा रहता है, वह कंजूस होता है। जिसका मस्तक उठा रहता है, छाती चोड़ी और तनी रहती है, आँखे जिधर भी उठती हैं सीधी दिशा मे देखती हैं, प्रत्येक अंग नपा-तुला-सा रहता है, सिर छत्ताकार होता है, वह मेधावी, यशस्वी एवं शूरवीर समझा जाएगा। जिसका भाल विशाल होता है, नासिका का अग्रभाग कुशाग्र होता है, कपाल का बुद्धि-स्थान विशाल और उठा होता है, शरीर के सभी अंग सुविभक्त होते हैं, वह विशेष कार्यार्थी, उद्यमी, प्रबल विवेचक, तेजस्वी और सर्वगुण सम्पन्न होता है—(गाँधीजी की आकृति को देखिये)। जिसका चेहरा मलिन हो, आँखें धुँधली या कीचड़ से भरी हों, ओंठ विवर्ण हों, ललाट निष्प्रभ हो, अंग-प्रत्यंग सुस्त हों, उसे आप रुग्ण, मुख्यतः उदर-विकार से ग्रस्त मान सकते हैं।

समूचे शरीर की परीक्षा करते समय आप मुख्य रूप से यह देखिये कि दाँत, त्वचा, नख, रोम और केश चमकते है या नहीं। जिसके शरीर मे तेज होता है, वह इन स्थानों से झलकता है। शरीर में जितने स्थान रूखे, मांसहीन और उभरी नसोंवाले होंगे वे अशुभ होंगे और बहुत क्रियाशील न होंगे। एक और बात यह देखने की होती है कि जो अग इस समय किसी रूप में है उसका मूलरूप क्या रहा होगा। स्वभाव से, खान-पान की विशेषता से और परिस्थितियों के आघात-प्रतिघात

से अंगों की बनावट में अन्तर आ जाता है। आप कुछ दिन चिन्ता कीजिये तो बालों की चमक निकल जायगी; उनमें रूक्षता आजायगी और वे अपना प्राकृतिक रंग त्यागकर असमय में ही श्वेत हो जाएँगे। आपके नेत्र कितने भी उन्नत हों, मद्य-सेवन कीजिये तो वे नत हो जायँगे। जन्म से आप अच्छी कमरवाले हो सकते हैं, पर बे-सिर-पैर का खाना खाइये और पड़े रहिये तो कमर की जगह पर तोंद निकल आएगी। अतएव मनुष्य के मूल रूप की परीक्षा करते समय उसकी परिवर्त्तित कर देनेवाली शक्तियो या परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना चाहिये—यद्यपि सत्य यही है कि शरीर की मूल प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं हो सकता। जिन बच्चों की बनावट ही दुबली-पतली होती है उनमें से बहुत-से, चाहे वे कुबेर के पुत्र हों और रोज सुवर्ण और मुक्ता-भस्म खायँ, तो भी दुबले ही बने रहते हैं। यदि किसी दरिद्र की बनावट अर्थात् प्रकृति में मोटापन रहता है तो वह साग खाकर भी मोटा होता ही जाता है। जो लोग पुनर्जन्म और कर्मफल में विश्वास करते है वे इसके रहस्य को अवश्य स्वीकार करेंगे। पूर्व कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को नया शरीर मिलता है।

अन्त में, हम पुनः कहेंगे कि अंगों की बनावट को ही सर्वस्व न मान लेना चाहिये। उनका साँचा न बदले यह ठीक है, पर उनका संस्कार प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। और मुख्य बात यह है कि मनुष्य अपनी आत्मा को प्रबल बनाकर शारीरिक असमताओं के रहते हुए भी अपना एक ऊँचा व्यक्तित्त्व बना सकता है। महाकुरूप भी अपने सद्‌गुणों से अपनी सारी कुरूपता को ढँक सकता है। प्रकृति द्वारा किसी को सुन्दर अंग-प्रत्यंग मिल सकते हैं, पर यदि उसका मन ही निर्बल हो

तो वे अंग केवल मुर्दे के शरीर के आभूषण ही होंगे। अतएव आप किसी की परीक्षा करते समय उसके मन की विशेष रूप से परीक्षा कीजिए। मन की परीक्षा व्यवहार, अंग-प्रत्यग के संचालन और शारीरिक चेष्टाओं से होती है। इस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

[विना विवेक न संग्रह कीजिए न त्याग—तुलसी]

इन बातों को ध्यान में रखिये

व्यहार से, बातचीत से, अंग-चेष्टा या आकृति-परिवर्त्तन आदि से आप दूसरों की दृष्टि में कैसे लगते हैं और दूसरे लोग आपकी दृष्टि में कैसे लग सकते हैं, अर्थात् शरीर के बाहरी व्यापार से, उसके मनोभावों या व्यक्तित्त्व का पता कहाँ तक और कैसे लगता है; इसको समझने के लिये इन कुछ बातों को ध्यान में रखिये।

१—मन ही सब इन्द्रियों के प्रवर्त्तन का हेतु है—(मनोहि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्त्तने—वाल्मीकि)—यह महा-बुद्धिमान् हनूमान की उक्ति है। मनुष्य के शरीर का प्रत्येक अंग मन के आदेश से ही संचालित होता है। मन मे जैसे विचार उठते हैं, शरीर के अंग उन्हीं के अनुकूल व्यक्त होते हैं। मन की चैतन्यता से इन्द्रियाँ चैतन्य होती हैं, उसके शिथिल होने से वे शिथिल पड़ती हैं और उसके अस्तव्यस्त होने से वे भी भूलें करती हैं। सारांश यह है कि अंग-प्रत्यंग की चेष्टा से, मन की चेष्टा या मनोवृत्ति का ज्ञान हो सकता है।

२—मनोभाव के लक्षण शरीर पर तुरन्त ही प्रकट होते हैं—मन अपने को छिपा कर नहीं रख सकता। आकृति से वाणी से, व्यवहार से या किसी चेष्टा से वह अपनी दशा को

अभिव्यंजित कर देता है। इसको इन उदाहरणों से समझिये। जब मन काँपता है तो वाणी काँपती है, पैर-हाथ भी काँपने लगते हैं। मन संदेह-ग्रस्त रहता है तो वाणी अस्पष्ट हो जाती है, आँखे स्थिर हो जाती हैं और अंगों की क्रिया-शक्ति मंद पड़ जाती है। किसी बात से जब मन फड़कता है तो शरीर के कोमल स्थान भी फड़कते हैं। जब मन भयभीत होता है तो हृदय ज़ोर से धड़कता है, रोयें खड़े हो जाते हैं, शरीर के सब अंग विकल हो जाते हैं। जब मन काँपता है तो पलकें बार-बार झपकती हैं। वह जब लोभग्रस्त होता है तो लार टपकने लगती है। वह जब चौंकता है तो कान खड़े हो जाते हैं। वह जब हत्या करने का निश्चय करता है तो आँखों में खून सवार हो जाता है। वह जब क्रुद्ध होता है तो साँस की गति बढ़ जाती है, चेहरा लाल हो जाता है, अंग-प्रत्यंग फड़कने लगते हैं। उसपर कोई आकस्मिक आघात पहुँचता है तो चेहरा सफेद हो जाता है। मन के वेदना-ग्रस्त होने पर स्वर भारी और शिथिल हो जाता है। और सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जब कोई माता अपने छोटे बच्चे के मोह से व्याकुल होती है या उसकी कीर्ति-कथा सुनकर आनन्द-विह्वल होती है तो उसके स्तनों से दूध टपकने लगता है। इन सबसे यह स्पष्ट है कि आपके भावजगत् की छाया आपके बाह्य जगत् पर पड़ती है। बहुत कम लोग अपने भावों को पचाने में समर्थ होते हैं। इनको या तो योगी पचा सकता है या परम विमूढ़ अथवा कोई निर्लज्ज फक्कड़। साधारण व्यक्ति जब मनोभावों को दबाता है तो उसे नाना विकार हो जाते हैं। कभी-कभी देखा गया है कि कोई स्त्री अपने बच्चे की मृत्यु के बाद संस्तब्ध हो जाती है, उसके मुख से न आवाज निकलती है, और न आँख से आँसू की धारा। उस दशा में लोग उसे रुलाने का प्रयत्न करते हैं, अन्यथा उसके पागल होने या मर जाने की

आशंका रहती है। साधारण दशा में मनोभाव अभिव्यक्त हो ही जाते हैं और अंग-प्रत्यंग उनको छिपा नहीं सकते क्योंकि वे शरीर के स्वतंत्र अवयव नहीं होते। मन की हवा चलने से तन-तरुवर के सभी पत्ते हिलते है और उनके हिलने से हवा के रुख़ और उसकी तेज़ी का पता चल जाता है।

३—स्वभाव मूर्द्धा पर रहता है ('स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'—हितोपदेश।) आपका स्वभाव प्रत्येक बात में आगे रहता है, प्रत्येक काम में सामने दिखलाई पड़ता है और उसके अनुसार आप व्यवहार करते है या किसी के व्यवहार से प्रभावित होते है। वह आपकी आकृति से प्रकट होता है, स्वर से, दृष्टि से प्रकट होता है तथा बातचीत के विषय एवं उसके ढंग से और आपके सम्पूर्ण आचरण से प्रकट होता है। साथ ही, आपके स्वभाव की विभिन्नता से इन सब मे विभिन्नता आ जाती है। अतएव किसी के ज्ञान आदि को देखने के पूर्व उसके स्वभाव से उसकी मनुष्यता की परीक्षा कीजिए।

स्वभाव की बहुत-सी विशेषतायें जन्मगत होती हैं। पूर्व-संस्कारों और बाल्य-काल के वातावरण के अनुसार मनुष्य की प्रकृति का सच्चा निर्माण और विकास होता है, इसे सभी स्वीकार करते है। आगे चलकर मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार और ज्ञान-विवेक के अनुसार भी अपने स्वभाव का परिष्कार करते हैं। यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि मनुष्य अपने मस्तिष्क के केवल १/१० भाग पर ही शासन करता है, शेष ९/१० भाग उसके स्वभाव या उसकी आदतो से ही अपने-आप शासित होता हैं। यह भी कह देना असंगत न होगा कि मनुष्य में ७५ प्रतिशत बुद्धिभाग जन्मगत होता है। विद्या, अभ्यास, अनुभव से वह केवल २५ प्रतिशत ही उसमें मिलाता है। इन

सबसे अन्तर्मन और उसके संस्कारों की महत्ता समझ में आ सकती है। यदि स्वभाव पर आरंभ से ही नियंत्रण न रखा जाए तो आगे चलकर ज्ञान-बल से उसका सुधार नहीं होगा। सब प्रकार से यही स्पष्ट है कि ज्ञान की अपेक्षा स्वभाव से किसी के व्यक्तित्व की परीक्षा करना अधिक सुगम है। किसी का स्वभाव अच्छा होगा तो उसका प्रेरणात्मक ज्ञान उसका सहायक ही होगा। स्वभाव विपरीत होगा तो उसकी चेतन-बुद्धि भी विपरीत दिशा में कार्य करने वाली होगी। बुद्धिबल से और जिह्वा-बल से कभी-कभी स्वभाव को छिपाया जा सकता है, पर सर्वदा नहीं।

४—रूप के मोह में न पड़िये—किसी के रूप को देखकर ही उसको प्रधानता न दीजिये। आचरण से भी उसकी परीक्षा कीजिये। वेश्या रूपवती होकर भी दुराचारिणी होती है। कस्तूरी को काली समझकर फेंकने की चेष्टा न कीजिये। तालाब की पहली ही सीढ़ी तक जाने से उसकी गहराई का अनुमान नहीं होता; और अन्दर तक जाइये। कोई आपसे मिलता है तो उसकी सफ़ेद कमीज़ देखकर ही उसको स्वच्छता-प्रेमी न मान लीजिये। उस कमीज़ के नीचे भी देखिए, वहाँ शायद एक बड़ी गन्दी बनयान मिलेगी जो गन्दे स्वभाव के सार्टीफिकेट की तरह उसके गले में टँगी होगी।

किसी के मुख से सीता-सावित्री के उपाख्यान सुनकर ही उसको महात्मा न मान लीजिये, उसके कमरों की दीवारों पर भी दृष्टि डालिये; संभव है वहाँ उसके स्वभाव को प्रिय लगनेवाली संसार की चुनी हुई कुलटाओं के चित्र टँगे मिलें। उसके ग्रामो-फोन के रेकार्ड देखिये। हो सकता है, वह आपको भजन सुनाता हो और घर में कव्वालियाँ सुनकर अपनी स्वाभाविक तृप्ति करता

हो। उसकी मेज़ को नहीं, पुस्तकालय को देखिये। मेज़ पर सम्भव है वह धर्मशास्त्र के ग्रंथ रखता हो और पुस्तकालय में सचित्र कोकशास्त्र मिल जाय। किसी को स्वच्छता कहाँ तक प्रिय है, इसे जानना हो तो उसका बैठक-घर नहीं बल्कि उसका रसोई-घर देखना चाहिये। किसका जीवन कहाँ तक सुखी है, इसको उसकी आकृति पर नहीं उसके स्त्री-बच्चों की आकृति पर पढ़ना चाहिये। किसी कवि के व्यक्तिगत जीवन के आनन्द को उसके काव्य से नहीं बल्कि उसके रोजनामचे से जानना चाहिये। काव्य में तो वह सुवर्ण-कोष लुटाता होगा, पर निजी जीवन में संभवतः दूसरों से रुपये उधार लेकर जीविका चलाता हो। किसी का साहस-बल उसके शब्दों में न देखिये और न उसकी सम्पत्तिशालीनता की अवस्था में। विपत्ति में देखिये कि उसकी जिह्वा तेज़ चलती है या उसके पैर। मित्र की परीक्षा अपने सुख के दिनों में नहीं, संकट के दिनों में कीजिये। दाढ़ी देखकर ही किसी को सरदार न मान लीजिये, बल्कि देख लीजिये कि उसके पास सरदार का दिल भी है या नहीं। रुपये की गोलाकृति और उसकी चमकदमक देखकर ही उसको खरा न मान लीजिये; उसे बजाकर भी देख लीजिये; हो सकता है, वह जाली हो या खोटा निकले। प्रत्येक वस्तु के सामान्य रूप को ही नहीं, उसके विशिष्ट रूप को भी देखकर तब उसके विषय में निर्णय कीजिये। मनुष्य की योग्यता-अयोग्यता को संभवतः उसके रूप से आप न पढ़ पायें, पर उसके कार्य, व्यवहार और स्वभाव के विज्ञापन से अवश्य पढ़ लेंगे।

इस सम्बन्ध में आप उस उपदेश को याद रखिये जो मछलियों ने राम को दिया था। पम्पासर में बगुलों की ओर लक्ष्मण की दृष्टि आकृष्ट करके राम ने कहा था कि हे लक्ष्मण! देखो

यह जीव कैसा साधु है, धीरे धीरे पैर उठाकर रखता है; डरता है कि कहीं उसके पैरों के नीचे किसी जीव की हिंसा न हो जाय। सरोवर की मछलियो ने इसको सुनकर तत्काल कहा—हे राम ! तुम क्या कह रहे हो, इस धूर्त्त ने हमारे वंश-के-वंश निर्मूल कर दिये हैं—साथ रहने वाला ही साथी के चरित्र को जान सकता है—"सहवासी विजानाति चरितं सहवासिनः।"

५—देश-काल-परिस्थिति को ध्यान में रखिये—किसी व्यक्ति अथवा किसी वस्तु का निरूपण करते समय देश, काल और परिस्थिति के अनुसार विचार कीजिये। विचार ही न कीजिये अपने जीवन मे भी आप देश, काल, परिस्थिति के अनुकूल सुधार कीजिये, जिससे आप सामयिक बन सकें। 'जैसा देश वैसा भेस' की कहावत न भूलिये। यदि पण्डित जवाहरलाल नेहरू भारतवर्ष मे हिन्दू-राज्य की स्थापना का विरोध करते है तो आप उन्हे हिन्दू-द्रोही कहने के पहले एक बार इन बातों पर भी विचार कर लीजिये कि आप एक ऐसे देश मे हैं जहाँ और भी धर्मों के लोग स्वाधिकारपूर्वक रहते है, आप एक ऐसे काल में हैं जिसे बीसवीं शताब्दी कहते है और जिसमे सर्वत्र प्रजातन्त्र राज्यों की स्थापना हो रही है और आप एक ऐसी परिस्थिति मे हैं जिसमें धर्मान्धता से देश-समाज की हानि हो सकती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से आप वन्चित हो सकते है। समय परिवर्त्तनशील है और समय के साथ सभ्यता का प्रत्येक अग परिवर्त्तनशील है। सम्भवतः हम आप उस युग में होते जब राजनीति धर्म की एक शाखा-मात्र थी और सौभाग्य से यही पण्डित जवाहरलाल नेहरू होते और सभी आधुनिक साधन भी सुलभ होते तो यह सम्भव था कि धार्मिक भावना से प्रेरित होकर गवर्नमेण्ट ऐसे भी नियम बना देती कि रेलें साइत से चले, दिशाशूल में न चले; गार्ड लोग

सीटी नहीं, शंख बजाया करें; गाड़ी चलते समय गार्ड के डिब्बे में हवन और मंगल-स्तोत्र का पाठ होता चले जिससे यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो जाय। पर वर्तमान काल में ऐसी बातों की कल्पना करना भी मूर्खता है।

यह तो सार्वजनिक विषयों के सम्बन्ध मे हुआ। व्यक्तिगत व्यवहार में भी हमारी परीक्षा इसी से होती है कि हम समय के साथ कहाँ तक आगे बढ़ रहे हैं। आप किसी से मिलते है तो इसी दृष्टि से उसको देखिये। इस बात को विवेकपूर्वक देख लीजिये कि वह व्यक्ति जैसा आचरण कर रहा है, वैसा करने के लिये वह बाहरी वातावरण से कहाँ तक विवश है। अपने को उसकी परिस्थिति में रखकर तब उसके व्यक्तित्त्व को तौलिये।

इस प्रश्न को और भी निकट से तथा अन्य प्रकार से देखिये। कभी-कभी एक ही प्रकार का कर्म भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे पड़कर भिन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ, साधारण दशा में कोई व्यक्ति किसी की हिंसा करता है तो वह हत्यारा माना जाता है और फाँसी पर लटका दिया जाता है। युद्ध में शत्रु-हिंसा करने पर वही व्यक्ति शूरवीर और राज-सम्मान का पात्र माना जाता है। कर्म एक ही प्रकार का होने पर भी परिस्थितियाँ कर्त्ता के रूप को भिन्न कर देती हैं। यदि आप परिस्थितियों को न जाने और इतना ही जानें कि अमुक व्यक्ति ने दस आदमी मार डाले तो आप उस व्यक्ति को महाहिंसक मान लेगे। एक अन्य उदाहरण लीजिये। एक समय था जब हिटलर विजेता की स्थिति मे था। उसकी सेनायें दिग्विजय करती हुई सारे विश्व को कँपा रही थीं। उस समय लोग उसे सर्वशक्तिमान्, ऐतिहासिक युग का सर्वश्रेष्ठ योद्धा मानते थे। कालान्तर मे परिस्थिति ने पलटा खाया। अब किसी को हिटलर के वीर-रूप का ध्यान नहीं आता;

सब उसकी अदूरदर्शिता और अमानुषिकता की कथायें ही कहते-सुनते हैं। उसकी विशेषताओं को कोई सोचता भी नहीं। परिस्थितियों का इतना प्रभाव किसी के व्यक्तित्त्व पर पड़ सकता है। विजेता हमारी दृष्टि मे सदा से देव-तुल्य हो जाता है और विजित रावण का अवतार। जब परिस्थितियाँ स्वाभाविक रूप से हमारी मनोदशा पर इतना प्रभाव डालती हैं तो हम उनकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं? हाँ, इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि हम केवल परिस्थितियों को ही न देखे; देश-काल ही को न देखे, बल्कि मानव के व्यक्तित्त्व को उनके बीच में खड़ा करके देखे और स्वयं भी उन्हीं के बीच मे अपने को रखकर विचार करे।

६—स्वतन्त्र बुद्धि से विचार कीजिये—किसी के व्यक्तित्त्व की शुद्ध परीक्षा करते समय उसके रंग-रूप, उसकी स्थिति और उसके कार्य-क्रम आदि का ध्यान रखना तो आवश्यक ही है। इस बात की और भी अधिक आवश्यकता है कि आप अपने स्वभाव और स्वार्थ के आधार पर किसी की रूपरेखा न बनायें। प्रायः यह होता है कि आदमी अपनी ही स्थिति मे सबको रखकर उनके विषय में अपनी एक धारणा बनाता है। ऐसा भी होता है, और प्रायः होता है कि हम स्वयं जैसे हैं, वैसे ही दूसरों को देखना चाहते है। यदि वे वैसे नहीं होते तो हम उनके व्यक्तित्त्व का सम्मान नहीं करते। यहीं बुद्धि विवेक-भ्रष्ट हो जाती है।

वास्तव में, प्रत्येक बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य में एक दूसरे को पहचानने की शक्ति है, वह नित्यशः इस शक्ति का उपयोग भी करता है। उससे त्रुटि वहीं होती है जहाँ वह भावुकता के आवेश मे या अपने स्वभाव की विवशता से या अनुभव-

शून्यता से अथवा अज्ञानावश निष्पक्ष होकर किसी के वास्तविक रूप को नहीं देखता। वह जो कुछ देखता है उसे एकाङ्गी दृष्टिकोण से और अपने मन के संकल्प के अनुसार देखता है। मन मे किसी पूर्व वासना के होने से हर एक देखी हुई वस्तु उसी के रंग में रँग उठती है। मान लीजिये आप धर्मान्ध है, उस दशा मे अन्य धर्म का सभ्य व्यक्ति भी आपको चांडाल-जैसा लगेगा। आप पुराने ढंग के कट्टर सनातनधर्मी पण्डित होंगे तो अपने से भी अधिक किसी साफ-सुथरे शूद्र को महा गन्दा और अछूत ही मानेंगे। यदि आप उदारबुद्धि होंगे तो महापतित को भी अपना बन्धु ही मानेंगे। इसी को दूसरे रूप में यों समझिये। एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को उसकी माता महा निर्दोष और दुर्बल मानती है। उसकी स्त्री उसीको रसिकराज समझती है, अपना देवता मानती है। उसके बच्चे उसी को अपना सरक्षक और शासक मानते हैं। उसके सेवक उसी को धर्मावतार; मित्रगण एक समर्थ बन्धु और शत्रुगण साक्षात् दानव समझते हैं। वे उसके व्यक्तित्व को उसी रूप में देखते हैं, जिससे उनका सम्बन्ध है। पर क्या सबके विचारों को अलग-अलग लेकर आप उस व्यक्ति का समूचा व्यक्तित्व चित्रित कर सकते हैं ? कभी नहीं। अनुरागी व्यक्ति अपने प्रेम-पात्र की त्रुटियों को कभी नहीं देखता। द्वेषी व्यक्ति अपने शत्रु के सीधे आचरण को भी सदोष मानता है। जब हमारे मन में किसी व्यक्ति या किसी वस्तु के पक्ष-विपक्ष में कोई धारणा पहले से बनी रहती है तो हम उसके सम्बन्ध मे विचार करते समय उसके साथ न्याय नहीं करते। हम उसके रूप को नहीं बल्कि अपने स्वभाव या स्वार्थ को उसी के रूप में मूर्तिमान् देखते हैं और भ्रम में पड़ जाते हैं। जिससे हमारा स्वार्थ-साधन नहीं होता, उसे हममें से अधिकांश लोग दो कौड़ी का आदमी समझ लेते है। यदि कोई अनीति-

पूर्वक भी हमारा उपकार कर देता है तो हम उसको बड़ा भला आदमी मान लेते हैं।

जब तक हम व्यक्तिगत प्रश्नों को अलग रखकर किसी के विषय में विचार नहीं करते तब तक हम उसको समझने में अवश्य भूल करेंगे। अतएव यह आवश्यक है कि पहले आप अपने परीक्षा-यन्त्र को ठीक करलें। यदि आपका कोई हाथ पक्षाघात से निर्जीव होगा तो उसमें किसी जीवित व्यक्ति की नाड़ी भी यदि पकड़ा दी जायगी तो आप उसको निर्जीव घोषित कर देंगे। नेत्र-दोष होने पर सुन्दर दृश्य भी कष्टप्रद होता है। यदि आप लोभी होंगे तो उसी व्यक्ति को सज्जन समझेंगे जो कुछ भेंट-पूजा लेकर आपसे मिलेगा; खाली हाथ मिलनेवाला महास्वार्थी-जैसा लगेगा। यदि आप हृदय के दुर्बल होंगे तो बलवान् व्यक्ति आपको ब्रह्म-राक्षस-जैसा प्रतीत होगा और यदि आततायी होंगे तो बड़े-से-बड़े आदमी को मिट्टी का कच्चा घड़ा समझेंगे। विना टिकट के रेल-यात्रा करनेवाले को टिकट-कलक्टर यम-दूत-जैसा लगता है।

इसलिये यदि आप दूसरे को समझना चाहते हैं तो पहले मिथ्या धारणाओं को मन से निकाल दीजिये। यदि कोई आपके सत्कर्मों का सम्मान नहीं करता तो आप समझ लीजिये कि उसके मन में भी आपके प्रति कोई दुर्भावना है जिसके कारण वह आपके रूप को नहीं देख पा रहा है। एक-दूसरे के निकट जाने के लिये ऐसी धारणाओं को निर्मूल करने की परम आवश्यकता होती है।

७—मनुष्य-मनुष्य में स्वाभाविक स्नेह या विद्वेष भी होता है। इसका यही अर्थ नहीं है कि यदि किसी से किसी के स्वभाव का मेल बैठता है—तो वे परस्पर स्नेही होते हैं, नहीं मेल

खाता तो द्वेषी हो जाते हैं। इसमें सत्यता है, चोर-चोर मौसेरे भाई कहे भी जाते हैं। पागल आदमी पागलों को देखकर आनन्दित होता है, सज्जन सज्जन को और सत्यवादी सत्यवादी को।

स्वाभाविक स्नेह और विद्वेष का एक गूढ़ रहस्य भी होता है; उसको जान लेना चाहिये। मनुष्य के मस्तिष्क में विचारों की जो तरंगें उठती हैं वे शरीर में ही नहीं विलीन हो जातीं; वे मनुष्य के शरीर के चारों ओर के वायुमंडल को आन्दोलित करती हैं। तरंगों की यह क्रिया स्वाभाविक होती है। वे विचार-तरंगे निकट के अनुकूल विचारों को ग्रहण करती हैं और प्रतिकूल विचारों से टकराती हैं। उनका आघात मस्तिष्क पर पड़ता है। शरीर के चारों ओर यह संघर्ष वायु-मंडल में निरन्तर चलता है। मस्तिष्क में चुपचाप उसकी अनुभूति होती है। किसी पवित्र मन्दिर में जाने पर आपको जो शान्ति मिलती है, उसका एक कारण यह है कि वहाँ जो शुभ विचार वायु-मंडल में तैरते रहते हैं, वे आपके अनुकूल विचारों को और सबल कर देते हैं। कभी-कभी आपने अनुभव किया होगा कि किसी मकान या स्थान-विशेष मे जाने पर आपके मन में अकारण विरक्ति या भय की भावना उठती है। उस जगह को आप मनहूस मानते हैं। इसका कारण यह है कि वह किसी समय दुष्टों का केन्द्र रहा होगा। वहाँ वही विचार अधिक समय तक फैले रहते हैं।

इसी प्रकार, आपको इसका अनुभव भी हुआ होगा कि कभी-कभी किसी अपरिचित व्यक्ति से मिलते ही आपके मन में उसके प्रति श्रद्धा-अनुराग के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति आपसे बार-बार मिलकर

प्रतिबार आपके समक्ष सुन्दर भाव प्रकट करता है फिर भी आपके चित्त में उसके प्रति अनायास अश्रद्धा और विरक्ति की भावना ही उत्पन्न होती है। ऐसे आदमियों की शक्ल से ही आपके मन में चिढ़ पैदा होती है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण भी वही है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। जो व्यक्ति आपके मुँह पर मीठी बातें करता होगा, उसके मन में आपके प्रति निरन्तर दुर्भावनायें व्याप्त रहती होंगी, जिनकी विद्युत्-तरंगें आपकी विचार-तरंगों से चुपचाप टकराती होंगी। कोई हृदय से आपके साथ सहानुभूति रखता होगा तो उसकी तरंगे आपकी तरंगों से मिलकर आप के मन को और भी चेतनावान् बना देती होंगी। इसका यही वैज्ञानिक रहस्य है जिसको आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक मानते हैं।

इस सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिकों ने एक और खोज की है। उनका कहना है कि हृदय मे जब किसी भाव की तीव्रता होती है तो भिन्न-भिन्न प्रकार की गंधे निकलती हैं। उन्हें हम नहीं जान पाते क्योंकि मनुष्य की घ्राण-शक्ति सीमित है। ऐसे जीव-जन्तु जिनकी सूँघने की शक्ति तीव्र है, उनको शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं। भय-भीत होने पर शरीर से एक दुर्गन्धि निकलती है। उसे अँग्रेजी में Fear-Scent (भय-गंधर) कहते हैं। वह जानवरों को असह्य हो जाती है। इसमे सत्यता है। जो लोग रात में बहुत बचा-बचाकर चलते हैं उन्हें साँप-बिच्छू मिल ही जाते हैं। निडर लोग नंगे-पॉव घूमते हैं, पर उन पर ऐसे जीव-जन्तु अनायास आक्रमण नहीं करते। आप डरते हुए गाय-बैल के पास जाइये तो वे भड़कते हैं और मारने को दौड़ते है। आपका नौकर निडर होकर जाता है तो उनमें ऐसी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इसकी परीक्षा आप स्वयं कर सकते हैं। भय की दशा में

शरीर के दूषित पदार्थ बाहर निकलते हैं, इसको तो आप मान ही लेंगे। प्रायः पसीना निकलता है और कभी-कभी मल-मूत्र भी; जब कोई गन्दी वस्तु बाहर निकलेगी तो निकटस्थ जीव को वह अप्रिय अवश्य लगेगी और वह उसका प्रतिकार भी करेगा।

यह कोई नई खोज नहीं है। ऋग्वेद के ऋषि इस रहस्य की खोज दूर तक कर चुके थे। उनका कथन है कि जब मनुष्य के चित्त में कोई भावना बलवती होती है तो उसके शरीर से उसी भावना से अनुप्राणित एक प्राण-सूत्र निकलता है जो समीप के वायुमंडल में व्याप्त हो जाता है। रात में चोर को देखते ही कुत्ते भौंकने लगते हैं। शीघ्र-चेतन होने के कारण वे उस प्राण-सूत्र से प्रभावित हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कौवे घर की छत पर या द्वार पर बोलते है तो लोग कहते हैं कि कोई अतिथि आने वाला है। अतिथि आये या न आये, ऋग्वेद के उक्त मत के अनुसार इसका यह रहस्य है कि किसी स्नेही का मन आपमें लगा है, उसकी भावनायें आपकी ओर केन्द्रित हैं। कौवे उस प्रकार के वायु-व्याप्त प्राणसूत्र से शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं। वेद का कथन है कि जब मनुष्य चलता है तो उसकी पद-ध्वनि भी प्राण-सूत्र की विद्युत् से यथेष्ट काल तक अनुप्राणित रहती है। यही कारण है कि बहुत-से कुत्ते चोर को या उसके पद-चिह्नों को देखे बिना भी सवेरे जाकर दूर की किसी झाड़ी आदि को नखों से खोदने लगते है और वहाँ प्रायः चोरी का धन भी पड़ा या गड़ा हुआ मिल जाता है। चोर जिस दिशा में गया हुआ रहता है, कुत्ते वहाँ की मिट्टी को सूँघते हुए पहुंच जाते हैं। इस विद्या की खोज अथर्वा ऋषि ने खोई हुई गायों का पता लगाने के लिये की थी। इससे उन्हीं के नाम पर इसको अथर्वा प्राण-सूत्र कहते है।

इस प्राण-सूत्र का विशेष महत्त्व है। निकट के प्राणी सद्‌-भावनाओं और दुर्भावनाओं से भीतर-ही-भीतर प्रभावित होते हैं। प्राण की आकर्षण-शक्ति इसी पर अवलम्बित रहती है। कोई जनानुरागी व्यक्ति जब सामने आता है तो लोग उसके प्रति श्रद्धावश झुक जाते हैं। इसका कारण यही है कि उसका प्राण-सूत्र सबके प्राणों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। एक-दूसरे के प्राण-सूत्र पर परस्पर बँध जाते हैं। जो अपने को सबका बन्धु मानता है, उसको सभी बन्धुवत्‌ ही है। इस प्राण-सूत्र का सम्बन्ध रक्त से भी होता है। महाभारत के अन्त में युधिष्ठिर ने स्वीकार किया है कि जुए के समय जब कर्ण उनके प्रति कठोर-से-कठोर वाक्य कह रहा था तो उन्होंने सिर उठाकर देखा। तत्काल ही उनके नेत्र कर्ण के प्रति श्रद्धावश झुक गये। वे उसके चरणों की ओर देखने लगे। तब वे यह न जानते थे कि कर्ण उनका सहोदर है। कोई आन्तरिक शक्ति ही उनके मन में आत्मीयता जगाती थी। वह शक्ति 'अथर्वा शक्ति' थी। ऐसा भी आप देखेंगे कि कभी-कभी लोग एकाएक घर लौट जाने को व्यग्र हो जाते हैं, उनके मन में उच्चाटन हो जाता है, घर जाकर वे किसी आत्मीय को बीमार या संकट-ग्रस्त देखते हैं। रक्त रक्त को पुकारता है। किसी की माता बीमार होकर, या आपदा-ग्रस्त होकर जब अपने पुत्र का ध्यान करती है तो उसका चित्त जल्दी प्रभावित हो जाता है। पत्नी की विचार-धारा उतनी जल्दी नहीं दौड़ती। रक्त-सम्बन्ध की दृढ़ता और मतैक्यता में प्राण-सूत्र ही भीतरी सहायक होता है।

मन की भावनाओं का कितना प्रबल प्रभाव बाहर की वस्तुओं पर पड़ सकता है, इसको आप इन प्रत्यक्ष प्रमाणों से समझिये। कछुआ अपने अंडों का पोषण स्वयं नहीं करता। उन्हें वह तीर

पर बालू में गाड़ देता है, स्वयं जल-स्थित होकर दूर से ही उन पर अपना आन्तरिक प्रभाव डालता है। उस प्रभाव से वे अंडे बढ़ते हैं। कछुए को हटा दीजिए तो अंडे निर्जीव हो जायँगे। कई प्रकार के सर्प ऐसे मिलते हैं जो शिकार के लिये कहीं नहीं जाते। वे एक जगह मुँह खोलकर अपनी क्षुधा-भावना या इच्छा-शक्ति को तीव्र करते हैं। दूर के कीड़े-मकोड़े उनकी ओर आकर्षित होकर इस प्रकार चले जाते हैं जैसे चुम्बक की ओर लोहा। इसी प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

सारांश यह है कि विचारों की अनुकूलता-प्रतिकूलता से आकर्षण या उच्चाटन स्वाभाविक रीति से होता है। आपके विचार शुद्ध होंगे तो शुद्ध विचारों के व्यक्ति आपकी ओर आकर्षित होंगे। आपके हृदय मे कालिमा होगी तो कलुषित विचारों के व्यक्ति विना ढूंढ़े आपको मिल जायँगे। चोर चोर को बहुत जल्दी पहचान लेता है। रिश्वत लेनेवाला अफसर रिश्वत देनेवाले को पहचानने में प्रायः भूल नहीं करता।

इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाणित है कि एक-दूसरे की आन्तरिक भावना से मनुष्य निरन्तर प्रेरित होता है। अतएव किसी विचार-संकट में पड़ने पर अपनी आत्मा को साक्षी मानना चाहिये। प्राचीन शास्त्रों का एक निश्चित मत यह भी है कि मनुष्य में स्वाभाविक आकर्षण या विद्वेषण पूर्वजन्म के व्यवहारों के आधार पर होता है। पूर्वजन्म के सस्कार आत्मा के साथ आते हैं। गाय का अबोध बच्चा पैदा होते ही अपनी माँ की ओर आकर्षित होता है। हजारों गायों में भी वह अपनी माँ को पहचानकर उसी की ओर दौड़ेगा; पैदा होते ही अज्ञात प्रेरणा से वह थन की ओर दौड़ता है। इन्हीं सबको ध्यान में रखकर शास्त्रकार पूर्वगत सस्कारों को मानते हैं। आप इसको मानें या

न मानें, इतना तो स्वीकार करेंगे ही कि बहुत-सी प्रेरणायें मन में ऐसी उठती हैं जिनके कारण का पता नहीं चलता। वे प्रेरणायें निकटवर्ती व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणाओं से प्रभावित होकर भी उठती हैं। एक की आत्मा दूसरे की आत्मा को शीघ्र पहचान लेती है। इन प्रेरणाओं की उपेक्षा आप बिना विचारे हुए न कीजिये। इनके आधार पर दूसरों के व्यक्तित्त्व की परीक्षा कीजिये।

८—किसी महापुरुष के व्यक्तित्त्व की परीक्षा तत्काल न कीजिये—किसी भी महापुरुष को उसके शरीर मे न ढूँढ़िये। उसके व्यक्तित्त्व की आभा उसकी वाणी और उसके कर्म में देखिये। वाणी, कर्म में भी तत्काल नहीं, कुछ समय बाद उनके परिणाम या प्रभाव में देखिये। महापुरुष शरीर से हमारी ही तरह लौकिक होते हुए भी अलौकिक होते हैं। उनका मन अगाध होता है, उनकी वाणी गम्भीर होती है और उनके चरित्र विलक्षण प्रतीत होते हैं। इसलिये उनके मन की गहराई आप शीघ्र नहीं नाप सकते। उनका चित्त हर्ष-विषाद से शीघ्र आन्दोलित नहीं होता अतएव चित्त के ये भाव भी उनकी आकृति में लक्षित नहीं होते। उनका चित्त-संयम विशेष प्रबल होता है। उनकी वाणी में गूढ़ता होती है अतएव उसका अर्थ उनके कर्म के साथ ही प्रकट होता है। उनके चरित्र का लक्ष्य-मार्ग लम्बा होता है। वे किसी दूर की वस्तु की प्राप्ति के लिये सतर्क होकर चलते हैं। सर्वसाधारण उस लक्ष्य को न देखकर उनकी गति-विधि पर सन्देह कर सकता है।

इस सम्बन्ध में इन श्लोकों को ध्यान में रखिये—

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणा चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥"—भवभूतिः

(अर्थात्, उत्तम पुरुषों का हृदय वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल होता है ! उसे जानने में समर्थ कौन है ?)

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥"—पंचतन्त्र

(अर्थात्, सम्पत्ति और विपत्ति में महात्माओं का एक रूप रहता है । सूर्य उदयकाल में भी लाल रहता है और अस्तकाल में भी ।)

चरित्र की गूढ़ता को समझने के लिये आप महात्मा गाँधी के जीवन का अध्ययन कीजिये । उनके बहुत-से कामों को पहले लोग उनकी अक्षम्य राजनीतिक भूलें समझते थे, पर कुछ दिनों बाद उनके सुन्दर परिणाम को देखकर गाँधीजी की दूरदर्शिता की प्रशंसा करते थे ।

इन बातों को देखते हुए यही जान पड़ता है कि हम सत्पुरुषों को उनकी आकृति में नहीं बल्कि उनकी कृति मे देखें । ईश्वर-दर्शन के विषय में गाँधीजी कहते थे कि परमात्मा शरीर-द्वारा नहीं, कर्म-द्वारा प्रत्यक्ष होता है । यही बात उन महापुरुषों के लिये भी सत्य है जो ईश्वर के निकट पहुँचे हुए होते हैं ।

छोटी बातों से ही किसी के बड़प्पन की परीक्षा होती है—मनुष्य साधारण बातों मे या साधारण व्यक्तियो के साथ जैसा आचरण करता है उसीसे उसके स्वभाव के उन सूत्रों का पता चलता है जिनसे वह बना हुआ होता है । बड़े कामों या बड़े आदमियों के सामने तो सभी सावधान रहते है और अपने कृत्रिम स्वभाव का विज्ञापन करते है । छोटे कामों में या सर्व-साधारण के समक्ष वे अपने को बनाने की विशेष चेष्टा नहीं करते । अतः अपने वास्तविक रूप में खुल जाते हैं । बड़ों के सामने कोई विनम्रतापूर्वक बातें करता हो तो उसको स्वभाव से

विनम्र या मृदुभाषी न मान लीजिये। यह देखिये कि अपने से छोटों के सामने जाते ही वह ऐंठने और कण्ठ-व्यायाम तो नहीं करने लगता। विशेष अवसर पर प्रदर्शित आचरण से नहीं, बल्कि दैनिक आचरण से मनुष्य के जीवन-क्रम का पता चलता है।

किसी की अंग-चेष्टा को पढ़ते समय भी उसके सूक्ष्म स्थानों को देखने से अधिक ज्ञान हो सकता है। प्रेम, भय आदि के आक्रमण से रोम खड़े मिल सकते हैं। सिर के बाल तो उनकी अन्तिम दशा ही में खड़े होंगे।

इसी प्रकार समाज की दशा जन-साधारण की दशा को देखकर जानी जाती है। भारत में बड़े-बड़े धनकुबेर है, पर उनके कारण हम सारे देश को सम्पन्न नहीं कह सकते। सम्पन्न तो तब कहेंगे जब जन-साधारण की आर्थिक स्थिति भी सन्तोषजनक हो।

इस बात को कभी न भूलिये कि हवा के रुख का पता छोटे-छोटे तिनकों, धूलिकणों और पेड़ की पत्तियों से लगता है। लकड़ी के कुन्दों; पर्वत की चट्टानों और पेड़ के तनों से आप पता नहीं लगा सकते कि हवा किधर को जा रही है। किसी व्यक्ति, किसी समाज अथवा किसी वस्तु की स्वाभाविक गति किधर को है, इसका पता उसके साधारण लक्षणो से ही लग सकता है। उसको पहले साधारण स्थिति में देखिये और उसके बाद असाधारण स्थिति मे देखकर इसका पता लगाइये कि उसमें कितने असाधारण गुण भी हैं। इन सबको ध्यान मे रखकर मनुष्य को पहचानने का प्रयत्न कीजिये।

मनुष्य-परीक्षा के ढंग

मनुष्य-परीक्षा के कई ढंग पहले भी प्रचलित थे, अब भी प्रचलित हैं। विद्या और ज्ञान-सम्बन्धी परीक्षाओं के अतिरिक्त मनुष्य के गुण-स्वभाव-आचार-विचार की परीक्षा भी आदि काल से होती आ रही है। यही नहीं, पहले तो चरित्र की जाँच

के लिये अग्नि-परीक्षा जैसी कठिन परीक्षा होती थी। मानव के अग-प्रत्यग आदि की परीक्षा के सम्बन्ध मे हम इसके पूर्ववाले अध्याय में विशेष रूप से लिख चुके हैं।

इस युग में भी स्कूली परीक्षाओं के अतिरिक्त कई अन्य ढंगों से भी परीक्षायें होती हैं। अब तो मनुष्य की विचार-तरंगों को जाँचने के वैज्ञानिक यन्त्र भी निकल गये है। पाश्चात्य देशों में, मुख्यत: अमेरिका में, Brain Test, Intelligence Test तथा Thought-Reading आदि नामों से बुद्धि-परीक्षा की कई प्रणालियाँ आजकल प्रचलित हैं। कई प्रकार के प्रश्नों के उत्तर लेकर लोग व्यक्ति-विशेष की प्रतिभा, योग्यता अथवा विचार-धारा की थाह लगाते हैं। मनोवैज्ञानिक जगत् में अवसर-विशेष पर मनुष्य के व्यवहार की क्रिया-प्रतिक्रिया देखकर विशेषज्ञ लोग उसकी चित्त-दशा अथवा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नापते है।

ये सब विधियाँ विदेशियों के लिये आधुनिक हो सकती हैं, भारतवासियों के लिये प्राचीन ही है। महाभारत में यक्ष ने युधिष्ठिर से जो प्रश्न पूछे थे वे सब बुद्धिमापक प्रश्न ही थे। राम ने भरत से चित्रकूट में बहुत-से प्रश्न उनके चरित्र और उनकी क्रियाप्रणाली को समझने के लिये किये थे। उनमें से कुछ अनुवादित रूप में ये हैं—

"—कभी सन्ध्या-आगमन के समय सोते तो नहीं हो?... प्रहर भर रात्रि रहे जगकर कार्य-सिद्धि के उपाय पर विचार तो करते हो?...अल्प व्यय से किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के सिद्ध होने का निश्चय करके उसको शीघ्र प्रारम्भ तो कर देते हो?... तुम्हारे बिना कहे अन्य लोग तुम्हारे अभिप्राय को भाँप तो नहीं लेते? सहस्रों मूर्खों की अपेक्षा एक पण्डित को निकट रखने की

इच्छा रखते हो कि नहीं ?...क्या अपनी स्त्रियों को समझाते रहते हो ? उनकी बातों का विश्वास तो नहीं करते ? अपने मन की गुप्त बातें तो उनसे नहीं कह देते ?...तुम्हारे सब कर्मचारी निःशंक होकर, जब चाहें तब, तुम्हारे पास तो नहीं चले आते अथवा भय से तुमसे बहुत दूर तो नहीं भागे फिरते ? तुम्हारी आमदनी से तुम्हारा खर्च कम है कि नहीं ?...क्या तुम्हारा वेदाध्ययन और तुम्हारे कर्म सफल होते हैं ?"

इस प्रश्नावली का उल्लेख हमने इसलिये विशेष रूप से कर दिया है कि आप इसपर भी विचार कर लें कि राम-जैसे बुद्धिमान् महापुरुष किसी मनुष्य की सफलता के लिये उसमे किन-किन गुणों का होना आवश्यक समझते थे। रामायण, महाभारत में ऐसे अनेक प्रसंग है। उन ग्रंथो की रचना का एक प्रयोजन ही यह ज्ञात होता है कि लोग भिन्न-भिन्न परिस्थिति में भिन्न-भिन्न योग्यता और स्वभाव के मनुष्यों के आचरण देखकर तथा उनके उन आचरणों के परिणाम देखकर मनुष्य-जीवन के रहस्यों से परिचित हो जायँ। प्राचीन शास्त्रों मे इन्द्र और धर्म आदि प्रायः मनुष्य की परीक्षा ही लेते घूमते थे। इनको विशुद्ध रूपक मानकर आप इस बात को समझ सकते हैं कि किन-किन बातों के आधार पर तथा किन स्थलों पर मनुष्य की परीक्षा होती है। हमारे नीतिशास्त्र मुख्यतः मनुष्य को पहचानने के लिए लिखे गये हैं। अतएव मनुष्य-सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति के लिए उन ग्रन्थों का आश्रय लेना चाहिये।

आजकल किसीको उसकी लिखावट से भी पहचानने की विद्या चल पड़ी है। वैज्ञानिकों का कहना है कि जब हम लिखने बैठते है तो शरीर की ५०० छोटी-छोटी नसें संयुक्त हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में अवश्य ही अक्षरों की बनावट पर हमारे

स्वभाव का प्रतिविम्ब पड़ता होगा। एक बात तो स्पष्ट है कि जिसका चित्त स्थिर होता है उसके अक्षर सुडौल, नपे-तुले रहते हैं। घबड़ाये व्यक्ति के अक्षर असम और टूटे-फूटे-से रहते हैं। कागज़ी जालसाजी को पकड़नेवाले विशेषज्ञ अक्षरों की बनावट देखकर ही निर्णय करते हैं। नकली कागज़ बनानेवाले या हस्ताक्षर करनेवाले का हाथ उस सफ़ाई से नहीं चलता जैसा सही-सही लिखनेवाले का चलता है। उसके अक्षरों में कम्पन की लहर स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। वह डरता हुआ और बना-बनाकर लिखता है, इससे अक्षरों में कृत्रिमता आ ही जाती है। यह विषय बहुत विस्तृत और जटिल है। इसपर जानकारी के लिए अँग्रेजी मे आप कई ग्रंथ पा सकते है।

परम आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने एक और मनोरंजक प्रणाली निकाली है। वे आपसे अपना ही रेखा-चित्र बनाने को कहते हैं। आप अपने को जैसा समझते हैं, वैसी आकृति जिस तरह भी बना सकते हैं बनाइये। चित्रकार का कौशल दिखलाने की आवश्यकता नहीं। टेढ़ा-मेढ़ा जैसा भी बने आप अपना रूप बनाते जाइये। आप जो-कुछ बनायेंगे उसपर आपके व्यक्तित्त्व की कुछ-न-कुछ छाप अवश्य होगी। उसीके आधार पर भी मानव-शास्त्र के परिडतगण आपके स्वभाव के छिपे हुए रहस्यों को पढ़ते हैं। उनका कहना है कि आपका अन्तर्मन अपने स्वभावानुकूल आपके हाथों को चलाता है। उन चित्रों से पता चलता है कि आपके भीतर अपने प्रति क्या विचार हैं, या वास्तव में भीतर से आपकी बनावट कैसी है?

इस विषय पर अमेरिका की एक प्रसिद्ध पत्रिका (Maclean's Magazine, January 1, 1948.) में एक विद्वान् (George Kisker) का एक उपयोगी लेख है। उसके अन-

सार पहले आपको अपना वैसा चित्र बनाना पड़ता है जैसा आप अपने को तत्काल समझते हैं। उसके उपरान्त दूसरे कागज़ पर मनोवैज्ञानिक आप से आपका वैसा चित्र बनाने को कहता है जैसा होने की आपके मन में आकांक्षा रहती है। इसके बाद मानस-हंस नीर-क्षीर-विवेक करता है। वह मुख्यतः इन बातों के आधार पर परीक्षा करता है—

(१) जो स्वस्थ-चित्त और सरल होते हैं वे कैसा भी चित्र बनायें, कम-से-कम अपने को मनष्य-जैसा बनाते हैं और उसमें बुद्धि का कौशल नहीं दिखाते हैं, अथवा जिन अगों को सुन्दर मानते हैं उनको बढ़ा-चढ़ाकर दिखाते हैं, अथवा जिन अंगों को दुर्बल समझते हैं उनको मोटी रेखाओं आदि से सजीव बनाने का प्रयत्न करते हैं। प्रबल भावुक और मन से क्षुब्ध लोग अपनी आकृति पशु-जैसी बना डालते हैं।

(२) दुर्बल चित्तवाले, जड़मति और बाल-बुद्धिवाले लोग पहले एक गोला बनाते हैं, उसमें नाक-मुँह आदि चित्रित करते हैं, फिर उसी गोले के आधार पर इधर-उधर रेखायें खींचकर हाथ-पैर लटका देते हैं। अस्पताल में मस्तिष्क की दुर्बलता के रोगी और नादान बच्चे अपना चित्रांकन इसी प्रकार करते हैं।

(३) संकोची, शंकाकुल और कायर स्वभाववाले बहुत सोच-सोच कर हलकी, टूटी-फूटी या लहरदार लकीरें खींचते हैं। उत्तेजित स्वभाववाले, अहंकारी तथा महत्त्वाकांक्षी लोग बड़ी गहरी लकीरों से अपना चित्र अंकित करते हैं। दुस्साहसी तथा निर्भीक व्यक्ति जल्दी-से-जल्दी चित्र बना डालता है। दीर्घ-सूत्री, आवश्यकता से अधिक चौकन्ना रहनेवाला और प्रत्येक कार्य को साङ्गोपाङ्ग पूर्ण करने का अभ्यासी बड़ा समय लेता है।

(४) अपने को सर्वश्रेष्ठ समझनेवाला व्यक्ति अपने वास्तविक रूप से अपने चित्र-रूप को विशेष सुन्दर बनाता है। उसकी गर्दन चाहे झुकी हो, पर चित्र में वह तनी हुई दिखायेगा क्योंकि अहंकार-वश वह उसको वैसी ही समझता होगा। नाटे आदमी अपना रूप प्रायः लम्बा चित्रित करते हैं। इससे उनकी मनोवृत्ति का पता चलता है। अतृप्त आदमी प्रायः अपने वास्तविक चित्र में अपने को दुर्बल और कल्पित चित्र में मोटा बनाता है। इससे पता चल जाता है कि उत्तम भोजन, पर्याप्त धन, सुख की प्रबल आकांक्षा उसके मन में है।

(५) खिलाड़ी मनोवृत्ति के लोग अपने हाथ या पैर को विशेष महत्त्वपूर्ण चित्रित करते है, अपने को विद्वान् मानने वाले ललाट को, रसिक लोग आँखों को, आत्म-हत्या की मनोवृत्ति वाले अथवा जीवन से विरक्त लोग अपने को सचमुच भूत-जैसा चित्रित करते हैं।

ऐसे ही अन्य लक्षणों से विशेषज्ञ लोग मनष्य की अन्तर्दशा को समझने का प्रयास करते है। अमेरिका और कनाडा के प्रत्येक अस्पताल में इस प्रणाली का व्यवहार आजकल किया जाता है। वहाँ की जेलो में भी अपराधियों की मनोदशा को समझने के लिये इस प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। बड़ी-बड़ी कम्पनियों मे वे लोग इसका प्रयोग करते है। और पति-पत्नी के झगड़ों में भी इसके सहारे उनके अन्तर्मन में छिपी हुई भावना का पता लगाते हैं।

इन बातों से परीक्षा कीजिए

सर्व-साधारण के लिये उक्त प्रयोग झंझटी हैं। दैनिक जीवन में हम किन लक्षणों से किसको कैसा समझते हैं, इसपर अब विचार कीजिये। प्रायः वाणी, मुख-मुद्रा, अंग-चेष्टा और

व्यवहार से ही लोगों के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। इन सब मे वाणी का स्थान प्रमुख है। 'नारद पंचरात्र' नामक एक प्राचीन ग्रथ में सत्य ही लिखा है कि मनुष्य के सभी कर्मों का मूल मन है; मन के अनुसार ही वाणी निकलती है और वाणी से मन का रहस्य खुलता है—

"मानस प्राणिनामेव सर्वकर्मैककारणम् ।
मनोनुरूप वाक्य च वाक्येन प्रस्फुट मन ॥"

वास्तव में, मन के सहयोग से ही शब्दोच्चारण होता है। पाणिनि ने लिखा है कि जब मन शरीराग्नि को उत्तेजित करता है तो वह वायु को प्रेरित करती है; तदनन्तर वही वायु छाती में प्रविष्ट होकर स्वर उत्पन्न करती है—

"मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥"

वाणी-मन का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार शरीर की ७८ छोटी-बड़ी नसें जब एक-दूसरे से सम्बद्ध होती है, तब जाकर एक शब्द मुख से निकलता है। ऐसी दशा में अवश्य ही वाणी से कंठ की ही नहीं शरीर के एक बड़े भाग की क्रिया-शक्ति व्यंजित होती है। पर यह मानना पड़ेगा कि वाणी-द्वारा ही किसी का सर्वस्व नहीं प्रकट होता। मनुष्य अन्यमनस्क भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त चतुर लोग शब्दों में, उनकी ध्वनि मे बनावट भी करते हैं। अतः व्यवहार-शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित चेस्टरफील्ड का मत है कि किसीसे मिलने पर उसके शब्दों पर ही ध्यान न दो, बल्कि उसकी आकृति से भी उसके मनोभावों को ताड़ो। इससे भी बुद्धिमत्तापूर्ण उपदेश राम का है। राम ने लंका से लौटते समय हनूमान को पहले ही भरत के पास यह कहकर भेज दिया था

कि मुख के वर्ण से, दृष्टि से और बातों से भरत के मन का सारा रहस्य जानने का प्रयत्न करना—

"ज्ञेया सर्वेच वृत्तान्ता भरतस्येगितानि च।
तत्त्वेन मुख-वर्णेन दृष्ट्या व्याभापितेन च॥"—रामायण

अब इनमें से एक-एक पर विचार कीजिये और देखिये कि किस प्रकार इनके द्वारा मनुष्य अपने को व्यक्त करता है।

१—वाणी—अवसर के अनुकूल, सार्थक, स्पष्ट, सरल, हितकारी, तर्क-सम्मत, विपयानुकूल शुद्ध शब्दावली से मनुष्य की श्रेष्ठता और बुद्धिमत्ता तथा सुजनता प्रकट हो ही जाती है। इनके अतिरिक्त कौन किस विपय पर कितनी मौलिकता के साथ बोलता है, कैसे स्वर में बोलता है, और कहाँ तक अपने भावों की पुष्टि कर सकता है, इससे भी मनुष्य की गहराई का पता चलता है। शब्दों से जिस प्रकार की विचारधारा व्यक्त होती है और उसके अनुकूल कहाँ तक बोलनेवाले की आकृति में साम्य रहता है, इससे भी मनुष्य की भीतरी सचाई या बनावट का पता चलता है।

चतुर आदमी समयानुसार श्रोता के स्वभाव; परिस्थिति को ध्यान में रखकर मुख्य विपय को आगे रखकर बोलता है। मूर्ख का प्रधान लक्षण यह है कि सब भूलकर बेमौके बोलता है। जो सार्थक, सुबोध और संयत भाषा में बोलता है, वह बुद्धिमान् गिना जाता है। जो निरर्थक, अस्पष्ट और विशृंखल भाषा का व्यवहार करता है वह प्रलापी, धूर्त्त, मूर्ख और अविवेकी माना जाता है। तर्क-सम्मत वाणी का व्यवहार करनेवाला सज्जन, क्रिया-कुशल, प्रतिभाशाली और शिष्ट होता है। तर्कहीन बोलनेवाला दंभी, जड़मति, असत्यवादी, छली और दुराग्रही होता है। जो सद्भावना लेकर बातें करता है वह किसी

निर्णय पर शीघ्र पहुँच जाता है। दुर्भावनावाले बात में गाँठ पर गाँठ बाँधते चलते हैं।

बुद्धिमान् पुरुष गंभीर विषयों पर गंभीर स्वर में और गंभीर आकृति से बात करता है। सज्जन और सरल प्रकृति के लोग सामयिक विषयों पर मधुर स्वर में और सरल आकृति से बात करते हैं। दंभी और दुर्विनीत व्यक्ति अपने विषय में उत्तेजनात्मक स्वर में, दूसरे के विषय में कर्कश स्वर में, अपनी आकृति को विकृत करके तब बोलता है। धूर्त्तों का विषय पर-निन्दा, स्वर बहुत दबा हुआ और चेहरा परम रहस्यमय होता है। विशेष विवरण आगे के लक्षणों से जानिये—

बुद्धिमान् व्यक्ति एक-एक शब्द को तौलकर बोलता है। वह एक बार में एक ही विषय पर बात करता है, जमकर बात करता है और कोमल शब्द किन्तु अकाट्य तर्क प्रस्तुत करता है। उसके विचारों में क्रमबद्धता, स्वर में दृढ़ता और भावों में गंभीरता होती है। अनावश्यक विषयों की चर्चा में वह प्रायः नहीं पड़ता और काम की बातें करता है। वह अपने मौलिक विचार आकर्षक ढंग से व्यक्त करता है और एक ही बात को बार-बार नहीं घोटता। स्वयं कुछ कहकर वह दूसरों को भी कुछ कहने का अवसर देता है। बातचीत के समय उसकी आकृति में घबराहट के चिह्न नहीं दिखलाई पड़ते क्योंकि उसमें आत्म-विश्वास रहता है।

सज्जन व्यक्ति कम बोलता है। जो बोलता है विम्रतापूर्वक बोलता है। बातचीत में वह पर-निन्दा, पर-स्त्री-चर्चा, आत्म-प्रशंसा और उपहास-जनक विषयों से विरक्त रहता है। उसकी आकृति में सौम्यता रहती है। उसका स्वर गंभीर किन्तु मृदु होता है। सज्जन की सज्जनता उसकी साधुवाणी से ही झलक उठती है।

मनस्वी मनुष्य की वाणी में गंभीरता रहती है किन्तु कर्कशता नहीं। वह ठनकती हुई निकलती है। मनस्वी व्यक्ति निश्चित विषयों पर निश्चयात्मक बुद्धि से और ओजमयी भाषा में बोलता है। प्रायः भविष्य-सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के विषय में बातचीत करता है। बोलते समय उसके मन का सारा तेज उसकी आकृति में रहता है। उसकी बातचीत और आकृति दोनों से स्वाभिमान टपकता है।

सरल स्वभाव का व्यक्ति प्रायः सामयिक विषयों की चर्चा करता है। हास्य-विनोद और व्यंग्य के साथ बात करता है तथा सरल भाषा का व्यवहार करता है। वह लच्छेदार बोली कम पसन्द करता है।

रसिक स्वभाव का व्यक्ति सरल और काव्यमय भाषा में प्रायः सरस विषयों पर बातें करता है। और जब बात करता है तो उसकी आकृति पर उसकी आन्तरिक मुग्धता, विह्वलता और भावुकता रहती है। उसके मुख से छलकती हुई वाणी निकलती है। यह प्रायः चुटकियाँ लेते हुए बातें करता है।

चतुर आदमी जिससे मिलता है पहले उसी के अनुकूल बातें करता है। कोई मनोरंजक विषय छोड़कर उसी को अधिक बोलने का अवसर देता है और स्वयं उसकी बातों का समर्थन करता है। उसके विचारों को अच्छी तरह जानकर तब उन्हीं का भाष्य करता है। इस प्रकार एक बार में या कई बार में किसी को रिझाकर तब अवसर के अनुसार प्रयोजन की बात करता है।

धूर्त्त बड़ा बातूनी होता है—(बहुवक्ता भवति धूर्त्तजन :—कौटिल्य)। कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा लेकर वह भानुमती का कुनबा तैयार कर देता है। उसकी भाषा अतिरंजित होती है। दृष्टान्त से भरी हुई, वादों से लदी हुई और विचारोत्तेजक वाणी-

द्वारा वह एक ही विषय पर कई तरह से बातें करता है। तर्क-वितर्क से वह घबराता है और श्रोता को किसी स्थल पर प्रभावित करके धाराप्रवाह बोलने लगता है। कहीं पकड़ में आने पर मुख्य विषय से जान छुड़ाकर इधर-उधर की बातें करता है। ऐसा व्यक्ति बातचीत में बहुत देर तक नहीं अड़ता। प्रायः वह अपनी ही बातों को खण्डित करता चलता है। वार्त्तालाप में वह चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख अवश्य करता है और अपने अनुभवों की विशेष चर्चा करता है तथा दूसरों पर अपने कल्पित उपकारों का दिल खोलकर वर्णन करता है। वह ऐसी ही बातें करता है जिनसे सुनने वाले उसको अपना शुभचिन्तक, सज्जनों का शिरोमणि और दुर्जनों का काल समझे। सभी बड़े कार्यों का श्रेय वह स्वयं लेना चाहता है।

मूर्ख तो अपनी वाणी से तत्काल खुल जाते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने मूर्खों को मौन रहने का उपदेश किया है। सर्व-प्रथम तो मूर्ख अशुद्ध भाषा बोलता है और जो बोलता है उसको भी कर्कश स्वर में। बोलते-बोलते वह बातों का क्रम भूल जाता है और किसी अन्य दिशा की ओर वह निकलता है। उससे कोई बात छेड़ दीजिये तो वह चुप हो जाता है या 'जी हॉ, जी हॉ' करने लगता है। बातें सुनते-सुनते 'तब, तब' या 'तब क्या हुआ' ही कहता है और समझता कुछ नहीं। प्रायः वह दो-चार वाक्य स्वयं बोलकर बार-बार श्रोता से पूछ लेता है 'क्या समझे ?' औ॰ रह-रहकर भौंचक्का हो जाता है, हकलाने लगता है या अकारण अपनी ही बात से गद्‌गद् हो जाता है अथवा अट्टहास करने लगता है। अधिकतर एक ही विषय पर वह हमेशा बात करता है और बातों का कबन्ध खड़ा करके उसी को नचाता है।

पीड़ित व्यक्ति के सम्बन्ध में तुलसी की यह उक्ति ही पर्याप्त है—

"आरत के हित रहत न चेतू।
पुनि-पुनि कहत आपनी हेतू॥"—मानस

चाटुकार आवश्यकता से अधिक विनीत और लच्छेदार वाणी बोलता है। प्रायः वह अपना अस्तित्व मिटाकर बात करता है अर्थात्, स्वाभिमानगत होकर दूसरों की बनावटी प्रशंसा करता है। वह सदा हाँ-में-हाँ मिलाता है, 'बहुत अच्छा,' 'हमारी जान आपके लिये हाजिर है,' 'हमारे रहते आपका बाल न बाँका हो सकेगा' आदि अनेक प्रकार की बनावटी शब्द-माला का व्यवहार करता है। प्रायः वह दबी जबान से ही बात करता है और शकल से खोया हुआ या आपकी सेवा के लिए उतावला-सा प्रतीत होता है। 'छोटा मुँह बड़ी बात' की उक्ति को वह पद-पद पर चरितार्थ करता है।

विश्वासघाती की बातों में चाटुकारिता होती है' साथ ही साथ आत्म-विज्ञापन भी होती है। वह बार-बार शपथ खाता है, सत्य-भगवान् की दुहाई देता है और अकारण अधिक स्नेह दिखाकर रहस्यमयी बातें सुनाता है और कहता जाता है कि किसी से कहियेगा नहीं, हम आप ही से कह रहे हैं। घुमा-फिरा कर वह आपका भेद जानने के लिए तरह-तरह की बातें करता है। प्रायः वह धीरे-धीरे आश्चर्य प्रकट करता हुआ और संवेदना प्रकट करता हुआ बात करता है। बात की लम्बी-लम्बी भुजायें फैलाकर वह दूसरों के दिल टटोलता है।

वचनवीर बड़ी लम्बी-चौड़ी बाते करता है। ऐसे आदमी को गप्पी कहते हैं। उसकी बातों का अन्त नहीं दिखलाई देता। 'हमने यह किया, हमने वह किया' के अतिरिक्त वह और कुछ

बहुत कम जानता है। अपने किस्से खतम हो जाते हैं तो अपने बाप-दादों के मन-गढ़न्त किस्से सुनाता है। वह भी खतम हो जाते हैं तो राजा बीरबल आदि के चुटकुले ही सुनाता है। बात-बात में वह शूरवीरता दिखलाता है, गरजता है और उफनता है। धमकियाँ देने का वह आदी होता है, पर उसको जरा-सा डाँट दीजिये तो पिछड़ जाता है और बातें बनाकर कहता है कि मेरा मतलब यह नहीं, यह था। काम की बात वह एक भी नहीं कर सकता क्योंकि जो बहुत बोलता है उसकी विचार-शक्ति क्षीण होती है और उसको किसी बात पर मनन करने का कभी अवकाश नहीं मिलता।

निर्बल व्यक्ति भी बहुत बकबक करता है। वृद्धावस्था में भी आदमी बहुत इसीलिए बोलता है कि उसकी अन्य सभी इन्द्रियाँ अशक्त हो जाती हैं, इसीलिए वह वाणी-बल के सहारे ही अपनी पूर्व शक्ति को विज्ञापित करता है और अपनी तात्कालिक उपयोगिता को सिद्ध करने की स्वाभाविक चेष्टा करता है। जो बहुत बोलता है वह अवश्य भीरु, अस्थिर, अशक्त और अकर्मण्य होता है। क्रियावान् प्राणी सदैव मित-भाषी होंगे।

नीच का मुँह तरकश की तरह वचन-बाणों से भरा रहता है। नीतिकारों ने उसकी तुलना साँप के बिल से की है। नीच व्यक्ति दुर्मुख, गला फाड़कर बोलने वाला, असहनशील और कटुभाषी होता है। उसकी काक वृत्ति नहीं छिपती। वह पर-निन्दा को अपनी बातचीत का विषय बनाता है। अन्य प्रकार की बातों में किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। प्राय. वह उलझानेवाली बातें ही करता है और अधिक देर तक प्रलाप करता है। अपशब्द उसको कण्ठस्थ रहते हैं। उपहास करने में

वह कृतबुद्धि होता है। जहाँ उसका स्वार्थ होता है, वहाँ वह बड़ा मधुरभाषी भी बन जाता है—'व्याधा मृगवधं कर्तुं सदा गायन्ति सुस्वरम्'—व्यास (हिरन का शिकार करते समय बहेलिया बड़े मीठे स्वर में गाता है।)

२—व्यवहार—बातचीत से भी अधिक मनुष्य अपने व्यवहार से अपने को व्यक्त करता है। सज्जन पुरुष प्रत्येक परिस्थिति में मर्यादा का पालन करता हुआ देखा जाता है और दुर्जन प्रायः मर्यादा का उल्लंघन कर देता है। सभ्य मनुष्य छोटी-से-छोटी बात में भी शिष्टाचार, शील तथा सौजन्य का ध्यान रखता है। असभ्य व्यक्ति के सम्बन्ध में इन्हीं शब्दों के आदि में 'अ' जोड़कर समझ लीजिये।

३—मुख-मुद्रा और अंग-चेष्टा—जैसा कि हम कह चुके हैं, मनुष्य की आकृति में उसके मनोभाव तत्काल अंकित हो जाते हैं। वाणी, व्यवहार में आसानी से बनावट हो सकती है, पर आकृति में भाव-परिवर्तन करना सहज नहीं होता।

भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों की स्वाभाविक चेष्टायें किस प्रकार की होती हैं, इस पर संक्षेप में कुछ जान लीजिये।

स्थिर स्वभाव का व्यक्ति प्रत्येक परिस्थित में स्थिर रहता है। परिस्थितियों और बातचीत के झोंके से वह कम हिलता-डुलता है। विपरीत परिस्थिति में वह और भी दृढ़ हो जाता है। उसकी इन्द्रियों में किसी प्रकार की विकलता और आकृति में तनिक भी विवर्णता नहीं दिखलाई पड़ती। गीता में कहा भी है कि जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है—'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।' धैर्यवान् और बुद्धिमान् सदा स्थिर ही मिलेगा। ऐसा व्यक्ति पुरुषार्थी,

समाज का रक्षक, सज्जनों का पालक और परम विश्वासपात्र होता है।

अस्थिर चित्त का व्यक्ति अनेक रंग बदलता है, अंग-अंग से छटपटाता रहता है और तरह-तरह की शारीरिक चेष्टायें दिखलाता है। उसकी आँखों पर दृष्टि डालिये तो आँखें अस्थिर दिखलाई पड़ेंगी। साधारण बातों से कभी उसका चेहरा दमक उठेगा, कभी सूख जायगा, कभी सफेद पड़ जायगा। प्रायः बातचीत करते समय उसके पैर मशीन पर काम करनेवाले दर्जी के पैर की तरह हिलने लगते हैं, हाथ बार-बार मुँह पर चले जाते हैं; सामने यदि मेज हो तो वह उसकी चीजों को उलटने लगता है या दांत से अपने नाखून काटने लगता है।

अपराधी आदमी की आँखें झुकी रहती हैं। आँखें नीची करके वह नीचे ही नीचे इधर-उधर देखता है, पर सामने नहीं देखता। वह आँख से आँख मिलाकर बात नहीं कर सकता। प्रायः हरएक बात दबी जबान से करता है। उसको कहीं बैठने में परेशानी-सी लगती है। उसका मुँह कुछ मैला-सा लगता है, कान लाल और चेहरा शैतान-जैसा। उसकी आकृति में विशेष मलिनता रहती है और मस्तक खिंचा हुआ-सा। उसके मन में पकड़े जाने का भय सदा रहता है। इसलिये वह दूर पर होती हुई बातों को भी कान लगाकर सुनता है और एक-एक आदमी को भेद-भरी दृष्टि से देखता है। उसके पाथ-पैर प्रायः काँपते हैं।

अहंकारी व्यक्ति दाएं बाएं बहुत घूरकर देखता है, सामने कम। उसकी आँखें चढ़ी ही मिलती हैं। छाती आवश्यकता से अधिक तनी हुई और भौंहें बंक रहती हैं। प्रायः वह हाथ पटक-पटककर बातें करता है। बात-बात में उसके अंग फड़कते हैं, गर्दन उचकती है और मस्तक रेखांकित हो जाता है। उसके दाँतों

की पंक्ति एक-दूसरे पर बैठ जाती है और वह गहरी साँस लेता है। अहंकारी और क्रोधी हाथ-पैर सब पटकने के बाद लपकता हुआ-सा विशेष चंचल दिखलाई पड़ता है अथवा विवश होने पर अपना ही सिर पीटने लगता है। वह किसी सभ्य व्यक्ति से मिलने जाएगा तो कुर्सी को खींचकर भड़भड़ाकर बैठेगा और चलते समय मित्र से भी हाथ मिलाते समय उसको इतने ज़ोर से झटकेगा कि उसका अंग-अंग झटक उठेगा।

भयभीत आदमी हक्का-बक्का-सा रहता है और उसके रोम-रोम हिलते हुए दिखाई देते हैं। शास्त्र में लिखा है कि जिसका मन भयसंत्रस्त रहता है उसके हाथ-पैर आदि निश्चेष्ट हो जाते हैं, मुख से वचन नहीं निकलते और शरीर में कम्पन अधिक होता है।

"भय संत्रस्तमनसा हस्तपादादिकाः क्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत्॥"

वह रह-रह कर चौंकता है, बिना परिश्रम के भी पसीने से भीगा रहता है। प्रायः वह बातों के बीच में या तो चुप हो जाता है या हकलाने लगता है। उसके चेहरे का रंग तो बिलकुल उड़ ही जाता है, शरीर के अंग सिमटने लगते हैं, आँखें निस्तेज हो जाती हैं, बाल या तो काँपते हैं या खड़े हो जाते हैं। आकृति से वह पिघलते हुए बर्फ-जैसा लगता है। हर एक चीज़ को वह आँखें फाड़-फाड़कर देखता है। उसका दिल धड़कता है, आँख फड़कती है और दृष्टि भड़कती है।

जिसका हृदय पीड़ित होता है उसकी क्रियाएं शिथिल होती हैं, मुखमण्डल मुरझाया रहता है, हाथ-पैर भी निचेष्ट-से रहते हैं और वह जिधर भी देखता है, झुकी आँख से, पर एकटक देखता है। उसके स्वर में भर्राहट रहती है और चेहरे पर

बल पड़ जाता है। उसकी प्रत्येक क्रिया में उद्विग्नता रहती है।

संतुष्ट एवं स्वस्थ व्यक्ति का अंग-अंग मुस्कराता है। उसका प्रत्येक अङ्ग निकला हुआ और विशेष सचेत रहता है। उनमें स्फूर्ति दिखलाई पड़ती है; चहरे पर शान्ति दिखलाई पड़ती है। प्राय: वह अपने अङ्गों का संकोचन कम करता है।

घबराया हुआ या किंकर्त्तव्य-विमूढ़ व्यक्ति बार-बार जम्हाई लेता है या छींकता है, बात करते-करते नाक खोदने लगता है या सिर खुजलाने लगता है और पैर की उंगलियों से जमीन को खॅरोचने लगता है। उसके कान उठ जाते हैं, आँखें आकाश-विहार करने लगती हैं और अङ्ग-प्रत्यंग कभी आगे, कभी पीछे को चलते हैं। मुँह तो खुला हुआ रहता ही है।

उन्मादी मनुष्य यों तो उछल-कूद मचाता ही है, पर रात्रि में और विशेषकर चाँदनी रात में विशेष चेष्टायें करता है। यह एक परीक्षित वैज्ञानिक सत्य है कि चन्द्र-किरणों से मस्तिष्क-रोगी का उन्माद बढ़ जाता है। पागलखानों में देखा गया है कि सन्ध्या तक पागल लोग कुछ ठीक रहते हैं, पर चन्द्रोदय के साथ ही उनकी उन्माद-तरंगें सागर-लहरों की तरह उमड़ती हैं। पूर्णिमा की रात्रि में तो पागल लोग उन्मत्त सागर की तरह उछलते-कूदते और नाचते हैं। अतएव किसी मानसोन्मादी, प्रेमोन्मादी, भावोन्मादी या क्रोधोन्मादी की परीक्षा रात्रि में अच्छी हो सकती है। रात्रि में साधारण मनुष्य की भावनायें भी तीव्र हो जाती हैं।

पुरुषार्थी और आत्म-विश्वासी व्यक्ति अचंचल रहता है और आदि से अन्त तक उसके मुख का वर्ण विकृत नहीं होता। वह प्रभावित होता है, सहमत होता है, पर किसी से भीत होकर कभी आत्म-समर्पण के भाव नहीं दिखलाता। निकम्मा

आदमी तो अपना तन-मन दूसरों के हाथ बेच देता है। वह दूसरों के हँसाने से हँसता है, उनके रोने से रोता है। मल-मूत्र-विसर्जन के अतिरिक्त उसकी कोई शारीरिक क्रिया अपने मन से नहीं होती। उन्मत्त व्यक्ति बार-बार अँगड़ाई और जम्हाई लेता है। एक वैज्ञानिक ने लिखा है बार-बार अँगड़ाई लेना और जम्हाना पागलपन का लक्षण है।

कूपमंडूक या मिथ्याभिमानी बड़ा भयंकर होता है। वह किसी की नहीं सुनता। अपने कुल और अपनी विद्या के अहंकार को ही वह वाणी, व्यवहार और आचरण से प्रकट करता है। जहाँ उसके मिथ्याभिमान का समर्थन होता है वहाँ वह मंत्र-मुग्ध हो जाता है; जहाँ कोई सामाजिक प्रसंग आता है वह नाक-भौं सिकोड़ता है और मूढवत् या क्रूरवत् आचरण करता है। ऐसा व्यक्ति अपनी अहंमन्यता पर आघात होते देखकर कोई भी दुष्ट आचरण कर सकता है। वह अपने को समाज के प्रति उत्तरदायी नहीं समझता, उल्टे सारे समाज को अपने प्रति उत्तरदायी मानता है, क्योंकि उसके अनुसार जो वह समझता है वही उसको समझना चाहिये, जो वह करता है वही सबका कर्त्तव्य होना चाहिये और जिन वस्तुओं का वह परित्याग करता है सबको उनका परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार के संकीर्ण विचारोंवाले व्यक्ति अपने घर में परम सन्तुष्ट और चैतन्य प्रतीत होते हैं किन्तु बाहरी जगत् में आते ही वे सनकी-जैसे और शकल से ही डूबते-उतराते से लगते हैं। वे प्रायः दूसरों के साथ दुर्व्यवहार कर बैठते हैं क्योंकि उन्हें सामाजिक शिष्टाचार और लोक-व्यवहार से स्वाभाविक अरुचि होती है। ऐसे लोगों के लिये अमेरिका की एक सुप्रसिद्ध पत्रिका (Science Digest. November, 1946) में एक बड़ा मनोरंजक और उपयोगी लेख है। उसका

एक अंश इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। लेखक ('Allan Carpenter) ने लिखा है कि वृद्धावस्था के कारण मस्तिष्क में जो खराबियाँ स्वभावतः उत्पन्न हो जाती हैं; उनको छोड़कर कूप-मंडूकता मस्तिष्क की बीमारियों में सबसे अधिक व्यापक है। इस रोग से पीड़ित लोग अपनी एक छोटी-सी दुनिया बनाकर उसी में रहते हैं। जनसाधारण में जो बाहरी प्रतिक्रियायें स्वभावतः होती हैं, वे उनमें नहीं होती। जगद्-गति से वे न तो प्रभावित होते हैं और न उसको समझते ही हैं।

"Excluding mental diseases incidental to old age, Schizophrenia (ससार के प्रति पूर्ण विरक्ति किन्तु अपने प्रति पूर्ण अनुरक्ति का मानसिक रोग) is the most prevalent of all diseases of the mind. Sufferers from it exist in a small world of their own which they themselves have created. Influences to which normal people react have become deadened and meaningless to the Schizophrenic "

ऐसा व्यक्ति विचारों से, स्वभाव से, आकृति से, सभी बातों से संकुचित प्रतीत होता है। वह संकुचित स्थान में रहना भी पसन्द करता है और डरता रहता है कि कोई उसके हवाई क़िले पर हमला न कर दे। यदि कोई हमला करता है तो वह उत्तेजित होकर आक्रमक का वध भी कर सकता है क्योंकि उसको दूसरों की परवाह नहीं रहती। वह अपने को सत्य-युग के आदमियों का वंशधर समझता है और शेष लोगों को कलियुगी। 'ज्यों तेली के बैल को घर ही कोस पचास' की उक्ति उसके विषय में पूर्णतया चरितार्थ होती है। किसी तेली के बैल को देखकर ऐसे व्यक्ति के रूप को उसी के अनुरूप समझ लीजिये।

उद्योगी, विजयाकांक्षी, स्वस्थचित्त और बातचीत-व्यवहार में कुशल मनुष्य प्रायः भविष्य के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करते हैं। उनके मुख पर विषाद, निराशा या किसी प्रकार की चिन्ता की छाप नहीं मिलती। प्रायः वे अपने दाहिने अंगों को अधिक संचालित करते हैं। इसका एक रहस्य है। हमारे मस्तिष्क का बायाँ भाग शरीर के दाहिने भाग का संचालक होता है और उसका दाहिना भाग शरीर के बायें भाग का। दूसरे शब्दों में, शरीर के दाहिने अंग से बायें मस्तिष्क का सम्बन्ध रहता है और बायें से दाहिनी ओर के मस्तिष्क-खंड का। यही कारण है कि जब किसी को वाम अंग का पक्षाघात होता है तो उसके दक्षिण पार्श्व का मस्तिष्क शिथिल या विकृत हो जाता है। विचार-गर्भित वाणी के उत्पादक, उत्तेजक वा संचालक तंतु मस्तिष्क के वाम भाग में रहते हैं, ऐसा शरीर-शास्त्री डॉक्टरों का मत है। मस्तिष्क में जब नये विचारों की सृष्टि होती है और वे प्रकट होना चाहते हैं तो दाहिने अंग विशेष सक्रिय होते हैं। अधिकारी पुरुष जब कोई विचार निश्चित करके आज्ञा देता है तो दाहिने हाथ की तर्जनी स्वभावतः उठ जाती है। विचारवान् व्यक्ति किसी बात को समझाते समय दाहिनी तर्जनी इंगित करता है, लिखने वाले अपने विचार दाहिने हाथ से व्यक्त करते हैं, व्यख्यान देने वाले या अच्छे बोलनेवाले दाहिने हाथ को उठा-उठाकर विचारों का संकेत करते हैं या मस्तिष्क-क्रिया को संतुलित करते हैं। कोई उत्तेजनात्मक विचार आते ही दाहिना अंग अपने-आप फड़कने लगता है। स्त्रियों का बायाँ अंग इसलिये फड़कता है कि उनमें प्रायः भावों की लहरें ही उठती हैं अथवा आशंका या किसी चित्त-स्थित चिन्ता की। बायें अङ्ग प्रायः उन स्वभावों के अनुसार कार्य करते हैं जो दाहिनी ओर के मस्तिष्क में बैठे रहते हैं। तत्काल निश्चय करने का काम

बाँया मस्तिष्क करता है। प्राचीन मानस-शास्त्री इस रहस्य को जानते थे। दाहिने अंग के फड़कने पर शुभ कार्य करने का शकुन वे इसलिये बताते थे कि उससे प्रकट हो जाता था कि मनुष्य की बुद्धि उक्त कार्य के लिये दृढ़ हो चुकी है। रामायण में जब शूर्पणखा ने रावण को राम पर आक्रमण के लिए उत्तेजित किया तो उसने उससे यही कहा था कि जय-प्राप्ति का निश्चय करके शीघ्र अपने दाहिने पैर को उठाओ—"शीघ्रमुद्ध्रियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः।" जिसका दक्षिण अंग निश्चेष्ट हो उसे हतबुद्धि या लकीर का फकीर मानना चाहिये। साधारण व्यवहार में भी जिसको आप अपने से बड़ा समझते हैं, उसको दाहिनी ओर आसन देते हैं। अपनी पत्नी के स्वामी होने के स्वाभाविक अभिमानवश आप उसको बाईं ओर स्थान देते हैं। यदि कोई स्त्री आपकी पत्नी या प्रेमिका न हो तो आप उसके सम्मान के विचार से उसको अपनी दाहिनी ओर ही स्थान देंगे।

कर्मशीलता के विचार के साथ-साथ दाहिना अंग अपने-आप चल पड़ता है, इसको एक अन्य प्रमाण से समझिए। लोग तलवार को दाहिनी कमर में नहीं, बाईं ओर लटकाते हैं—यह क्यों ? स्पष्ट कारण यही है कि वे समझते हैं कि आक्रमण या आत्म-रक्षा का विचार आते ही दाहिना हाथ ही पहले चलेगा और उसके लिए हथियार को सुगम स्थान पर रखना चाहिए। बायें हाथ पर इतना विश्वास नहीं रहता; नहीं तो लोग दाहिनी ओर भी एक तलवार लटका लेते।

इसी प्रकार के बहुत-से लक्षणों से तरह-तरह के मनुष्यों के व्यक्तित्व का निरूपण हो सकता है। सबसे सरल रीति यह है कि कुछ प्रकार के मनुष्यों की आकृति आदि का अध्ययन कर

लीजिये और उनके रूप को मन में रख लीजिये। इसके बाद जिसकी परीक्षा करनी हो उसके आचार, व्यवहार, अंग-चेष्टा आदि की तुलना उन रूपों से कर लीजिए। उदाहरणार्थ, बुद्ध या गाँधी की शांत, गम्भीर और सौम्य तथा सतेज मुखमुद्रा को मन में रखकर किसी अन्य में वैसी मुखमुद्रा को पाकर समझ सकते हैं कि वह वैसे ही आचरण का व्यक्ति होगा, जैसे गाँधी या बुद्ध थे। किसी का मनस्ताप किन लक्षणों से व्यक्त होता है, इसके लिये किसी विधवा या किसी पुत्र-वंचिता स्त्री का रूप मन में सोच लीजिये। किसी में भी उन लक्षणों को देखकर आप उसके हृदय की वेदना का अनुमान कर सकते हैं।

यद्यपि वाणी, व्यवहार और आकृति आदि से मानव के आन्तरिक रहस्य का बहुत-कुछ पता चल जाता है, पर इन सबसे धोखा भी हो सकता है। सिनेमा के पात्र या सी० आई० डी० वाले नाना रूप बना ही लेते हैं। अतएव एक ही बार में अथवा एक ही परिस्थिति में किसी को देखकर सहसा कोई विचार न निर्धारित करना चाहिए। साथ ही अन्य कुछ साधनों से भी मनुष्य की परीक्षा करनी चाहिए।

इन बातों को भी ध्यान में रखना चाहिये

१—गृह-दशा—ग्रह-दशा का प्रभाव मनुष्य पर पड़े या न पड़े, परन्तु गृह-दशा का अवश्य पड़ता है। जो कुलीन होता है, वह किसी-न-किसी अंश तक गृह-मर्यादा का पालन करता है। उसे अपने पूर्वजों के मान का ध्यान रहता है। इसके अतिरिक्त जिसके घर की दशा अच्छी होती है, अर्थात् जो सुखी गृहस्थ होता है वह बाहर भी अपने उत्तरदायित्व को सम्हालता है और दुस्साहस नहीं करता। जिसके घर में अशान्ति रहती है, वह उच्छृंखल हो ही जाता है। जिसके घर में आर्थिक संकट रहता है,

वह सामाजिक जीवन में भी छोटा बनकर, लाचार होकर रहता है या छल-कपट अथवा चोरी करने लगता है। जो स्त्री से संतुष्ट नहीं रहता वह वैरागी या दुराचारी, क्रूर अथवा नपुंसक हो ही जाता है।

मनुष्य को समझने के लिये उसके पूर्वजों के, मुख्यतः माता-पिता के जीवन की थोड़ी-बहुत जानकारी आवश्यक होती है। संयमी माता-पिता की संतान प्रायः संयमी होती है। यह भी देखा गया है कि जिस वंश में एक से अधिक पूर्वज दीर्घायु हुए होते हैं, उस वंश में आगे भी लोग प्रायः लम्बी आयु वाले होते हैं। सुश्रुत ने इसका उल्लेख भी 'सूत्र-स्थान खंड' (सुश्रुत-संहिता) में किया है। और किसी का प्रभाव पडे या न पड़े माता का प्रभाव सन्तान पर अवश्य पड़ता है। माता के मिथ्याहाराचार से सन्तान बहुत-सी व्याधियाँ जन्म से लेकर आती हैं। माता की मनोदशा का तो पूर्ण प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है। एक सुप्रसिद्ध डॉक्टर ने इस पर अनुसन्धान करके इसको प्रमाणित किया है। उसने कई घटनाओं का उल्लेख किया है। एक घटना यह है—एक किसान के पास एक पालतू सूअर था। वह बीमार होगया। किसान ने उसके कान के पास चीरकर उसका कुछ खून निकाल दिया और वह ठीक होगया। किसान की गर्भिणी पत्नी के मन में वह क्रूर कर्म कई दिनों तक ध्यानस्थ रहा। शिशु के उत्पन्न होने पर उसके कान की पाली खण्डित थी। इसी तरह के और भी सच्चे वृत्तान्त हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मानसिक आघात होने से गर्भ विकृति हो जाती है। गर्भिणी की कामनाओं का पूरा प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है। दुराचारिणी की सन्तान सदाचारिणी होती हुई कम देखी जाती है। कारण यही है कि सन्तान के रक्त की एक-एक बूँद में मातृ-

अंश रहता है। चीनी से जो भी वस्तु बनेगी उसमें चीनी के तत्त्व अवश्य रहेंगे। जन्म के बाद माता की योग्यता और बुद्धि के अनुसार ही बालक का विकास होता है। यदि माँ भीरु होती है तो लड़के को सदा उत्साह-हीन बनाती है। यदि वह तेजस्विनी होती है तो वही करती है, जो अंजना ने हनूमान के लिये, विदुला ने संजय के लिये किया था। आधुनिक उद्दंड वीरों में नेपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन आदि अपने साहसी स्वभाव के लिए केवल अपनी माताओं के ऋणी हैं। यह निश्चित है कि बालक के स्वभाव पर उसकी माता का और बुद्धि पर पिता का प्रभाव पड़ता है—गर्भावस्था में और जन्म के बाद भी। वाल्मीकि ने लिखा भी है कि मनुष्य पिता का अनुकरण नहीं करता, अर्थात् माता का ही करता है—'न पित्र्यमनुवर्त्तन्ते मातृकं द्विपदा इति'। पिता का प्रभाव न पड़े, ऐसी बात नहीं है। पिता का वीर्य दूषित होने से सन्तान शरीर से सदोष तो हो ही जाती है। गर्भ में प्राण तो पिता का ही जाता है—'आत्मा वै जायते पुत्रः।' शारीरिक, मानसिक तेज पुत्र को पिता से ही मिलता है। जन्म के बाद पिता का व्यवहार पुत्र के चरित्र-विकास पर प्रभाव डालता है। यदि पिता बड़ा क्रूर और आतंकवादी होगा तो बच्चे का उत्साह ढीला होते-होते क्रूरता-भीरुता उसके स्वभाव में समा जायगी। जो बच्चे बचपन में संत्रस्त रहते हैं वे आगे चलकर हकलाने लगते हैं, उनकी बुद्धि कुंठित हो जाती है और उनका आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता है। किसी भी कमज़ोर आदमी को डाँटकर देखिये, अत्याचार का भय दिखलाइये, उसमें ये लक्षण प्रकट होंगे। बारबार जिसका हृदय धड़काया जायगा, वह आगे चलकर धैर्यहीन तो हो ही जायगा।

घरेलू-जीवन का ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के स्व-

भाव की रूपरेखा बचपन में बनती है। जो धारणायें उस समय मन में बैठती हैं वही आगे भी पनपती हैं। उस समय की संगति का भी आगे तक प्रभाव बना रहता है। सबको जानकर तब किसी की तत्कालीन परिस्थिति देखिये। उसकी जन्मगत विशेषतायें उसके आगे की विशेषताओं पर प्रभाव डालती हैं।

गृह-दशा की जानकारी के लिये व्यक्ति विशेष की स्त्री के सम्बन्ध में या उसके दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध में भी जॉच करनी चाहिए। यदि पत्नी अधिक धनी घर की होगी, बहुत शौकीन या चंचला होगी तो पति के जीवन पर इन सबका प्रभाव पड़ेगा। वह परेशान और चिन्तित ही व्यक्त होगा। यदि परस्पर कलह रहता होगा तो पुरुष बाहरी व्यवहार में भी रूक्ष स्वभाव का प्रतीत होगा। इसी प्रकार गार्हस्थ्य जीवन की सफलता-विफलता का भी मनुष्य के स्वभाव और आचरण पर प्रभाव पड़ता है। शील-शिष्टाचार आदि कुलीनता के अंग माने जाते हैं तथा दुर्विनीतता, उद्दण्डता, असभ्यता आदि को अकुलीनता के अन्तर्गत माना जाता है। अदालतों द्वारा दंडित अपराधियों में से ८०% ऐसे होते हैं जो गृह-जीवन की भग्नता के कारण अपराधी बन जाते हैं।

२—आर्थिक दशा—किसी को समझने के लिये उसकी आर्थिक स्थिति को भी देखना चाहिए। कोई स्वभाव से परम उदार हो सकता है पर आर्थिक विवशता के कारण उसको प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। यदि बहुत परिश्रम करके भी कोई निर्धन ही बना रहता है तो उसको असमर्थ, अयोग्य मानने के पहले हमें यह भी देखना चाहिये कि कहीं वह पूर्वजों के ऋण तो नहीं पटा रहा है अथवा उसके आश्रितों की संख्या तो अधिक नहीं है। यह संभव है कि कोई स्वभाव से स्वाभिमानी हो, पर

आर्थिक दशा खराब होने से वह सब के सामने झुकने को विवश हो गया हो। यह भी संभव है कि कोई स्वभाव से महाक्रूर हो पर धनाभाव ने उसके जोश को दबा रक्खा हो। आर्थिक दशा बहुत प्रकार से मनुष्य के चरित्र को बनाती-बिगाड़ती है। ऋण लेने वाले का आत्म-सम्मान तो यों-ही समाप्त हो जाता है। और ऋण देने वाला प्रायः सद्व्यवहार भूल जाता है। लेन-देन से भावों में कैसा विचित्र परिवर्त्तन हो जाता है इस पर 'गुलिस्ताँ' में एक छोटी-सी कथा है। एक महात्मा के पास भक्तों का बड़ा जमाव होता था। दिन भर लोग दर्शन के लिये उनके पास आते रहते थे, इसलिए उनको पूजा-पाठ का समय नहीं मिलता था। एक दिन उन्होंने एक व्यवहारज्ञ से अपनी निवृत्ति का उपाय पूछा। उसने कहा—जो तुमसे मिलने आते हैं उनसे कुछ को तुम कुछ द्रव्य ऋण के तौर पर दे दो और उनमें से जो समृद्ध जान पड़ें उनसे ऋण-याचना करो। महात्मा ने ऐसा ही किया और परिणाम यह हुआ कि जो ऋण ले गये वे इस विचार से फिर नहीं आये कि कहीं महात्मा उसको वापस न माँगें और शेष लोग इस विचार से नहीं आये कि कहीं फिर न कुछ माँग बैठें।

२—संगति, व्यवसाय—संगति से मनुष्य की अच्छी परीक्षा होती है। एक योरोपीय विद्वान् ने लिखा है कि यदि मुझे यह मालूम हो जाय कि तुम किसके साथ रहते हो तो मैं बता सकता हूँ कि तुम कौन हो अर्थात् किस प्रकार के आदमी हो।

"Tell me with whom thou art found and I will tell thee who thou art." —Goethe.

व्यवसाय भी एक अंश तक व्यक्तित्व को प्रकट करता है। यदि कोई स्वतन्त्र और स्थायी व्यवसाय करता है तो वह अधिक स्वाभिमानी, प्रबन्ध-कुशल और स्थिरमति होता है। सेवा-

व्यवसाय करने वाले प्रबन्ध-कुशल हो सकते हैं पर उतने स्वतन्त्र और आत्म-विश्वासी नहीं। रोज़ कुँआ खोदकर रोज़ पानी पीनेवाले शान्त और स्थिरबुद्धि के हो ही नहीं सकते। द्यूत का व्यवसाय करने वाला विश्वासपात्र और सत्यवक्ता कहाँ से होगा ?

यदि कोई किसी का नौकर है तो उसके मालिक के व्यक्तित्व से उसका पता चल जायगा। चर्चिल का नौकर महात्मा गाँधी का अनुयायी कैसे होगा ? क्रोधी का चरण-सेवक स्वाभिमानी नहीं हो सकता। वेश्या का नौकर दलाल ही होता है। कायर का नौकर गुण्डा भले ही हो, महावीर नहीं होता। इसी प्रकार सेवक के स्वामी का पता चल जाता है। चोर का स्वामी या तो स्वयं चोर होगा या मूढ; डाकू का सरदार महाडाकू होता है। हनूमान का स्वामी हनूमान से भी बली और प्रभावशाली था।

४—वेश-भूषा—वेश-भूषा को भी देखिये। सरल स्वभाव के आदमी का पहनावा भी सादा होता है। बना हुआ आदमी बड़ा आडम्बर फैलाता है। उद्यमी का पहनावा चुस्त होता है और बुद्धि-व्यवसाय करनेवालों का ढीला-ढाला। अस्त-व्यस्त चित्त-वाले का वेश भी अस्त-व्यस्त होता है। हलके आदमियों की वेश-भूषा बहुत ढीली ढाली, सजावट से भरी हुई और बारीक-से-बारीक कपड़ों की बनी होती है। जिसके स्वभाव में कृत्रिमता नहीं होती वह मोटा कपड़ा पहनता है। भड़कीली तबीयत वाले बड़ा भड़कीला कपड़ा पहनते हैं।

वेश-भूषा का इतना अधिक प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ता है कि प्रायः साधारण लोग उसी से प्रभावित होते हैं। पुलिस के कान्स्टेबिल का व्यक्तित्व उसके चेहरे से नहीं बल्कि उसकी वर्दी से प्रकट होता है। अंग्रेज़ी राज्य में पतलून पहनना ही बड़ा आदमी होने का प्रमाण था। अब लोग खद्दर की वेश-

भूषा को देश-प्रेमी होने का एक चिह्न मानते हैं और बहुत-से लोग इसका अनुचित लाभ भी लेते हैं। देहातों में बड़ी ऊँची पगड़ी बाँधकर अब भी महामूर्ख ब्राह्मण पण्डित बनकर अपने को पुजवाते हैं। इस प्रकार बनावटी वेश-भूषा से लोग अपने व्यक्तित्व को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाते हैं। यह सब देखते हुए केवल पहनावे से किसी के रूप को पहचानने में बड़ा भ्रम हो सकता है। तो भी वेश-भूषा से कुछ-न-कुछ वास्तविकता का पता चल जाता है, यह मानना पड़ेगा।

५—विद्या-बल—मनुष्य का संस्कार विद्योपार्जन से भी होता है, इसको कौन न मानेगा। पढ़ा-लिखा आदमी चाहे स्वभाव का अच्छा हो या न हो, बुद्धिमान् और क्रियावान् हो या न हो, विद्वान् तो होगा ही। मूर्खों की अपेक्षा उसकी संगति अधिक लाभदायक होगी। उस पर शासन करना कठिन होगा। उसमें स्वाभिमान किसी-न-किसी मात्रा में अवश्य होगा। अतएव किसी के आत्म रूप पर विचार करते समय यह भी देखना चाहिए कि उसमें कितना और किस प्रकार का विद्याबल है, कितने विषयों में उसका प्रवेश है और उन विषयों का उसको कितना अभ्यास है। यह भी देखना चाहिए कि उसके मस्तिष्क में उर्वरा-शक्ति भी है या उसने रट-रटाकर केवल उपाधि ही प्राप्त कर ली है। यह भी देखना चाहिए कि लौकिक व्यवहार में वह उस विद्या का सदुपयोग करता है या दुरुपयोग। मुख्य रूप से यह देखना चाहिए कि उसको विद्या का अजीर्ण तो नहीं है।

६—शिष्टाचार—शिष्टाचार भी विशेष रूप से देखने की वस्तु है। शील, स्नेह, सौजन्य, सत्कार आदि केवल वाणी से ही नहीं प्रकट होते। वे आँखों से, आकृति से और व्यवहार से ही आकर्षक बनते हैं। शिष्टाचार-पालन से मनुष्य के बड़प्पन का

बोध होता है। मूर्ख लोग अपनी अशिष्टता के विज्ञापन से ही पकड़ में आते हैं। किस अवसर पर कैसा व्यवहार करना चाहिये, इससे अनभिज्ञ होने के कारण वे प्रायः अशिष्ट बन जाते हैं। एक रूसी कहावत है जिस का अर्थ यह है कि गधे को यदि मेज के पास कुर्सी पर बैठा दीजिये तो वह कूदकर मेज पर बैठ जायगा और सोचेगा कि मनुष्य लोग मूर्ख हैं जो इतना बड़ा सपाट मैदान छोड़कर संकीर्ण कुर्सियों में समाये हुए हैं।

७—खान-पान—कौन किस तरह का खाना खाता है, कैसे खाता है इससे भी आदमी की जाँच होती है। खाने का असर मस्तिष्क और मानव-चरित्र पर पड़ता है, इसे हम लिख चुके हैं। अधिक अनुपयुक्त प्रकार का खाना खाने वाला भी कैसा हो जाता है, यह भी लिखा जा चुका है। अधिक खानेवाला मूर्ख होता ही है। भोजन कोई किस प्रकार खाता है, इससे भी उसकी बुद्धि-स्थिति का पता चलता है। स्थिर स्वभाव का व्यक्ति मुँह बन्द करके अच्छी तरह चबाकर खाता है और खाते समय उसके मुख से चबाने की ध्वनि नहीं आती। उसकी उँगलियाँ भी ऊपर तक गन्दी नहीं होतीं। चंचल स्वभाव का व्यक्ति बहुत जल्दी खाता है, मुँह खोलकर, सड़प-सड़प की महाध्वनि के साथ खाने को निगलता है तथा हाथ ही नहीं, सामने का कपड़ा भी गन्दा कर लेता है।

८—हँसना—हँसते समय मनुष्य की सरलता अथवा वक्रता अवश्य स्पष्ट हो जाती है। शान्त प्रकृति का मनुष्य प्रायः मुसकराता है, सरल प्रकृति का खिलखिलाकर हँसता है अथवा बहुत प्रसन्न होने पर अट्टहास करता है। पुरुषार्थी प्रायः अट्टहास करता है। निकम्मा या धूर्त आदमी घोड़े की तरह हिनहिनाता है। सभ्य आदमी उचित अवसर पर हँसता है, असभ्य

अनुचित अवसर पर। सभ्य की हँसी में उसके दांत के पीछे का भाग कम दिखाई पड़ता है, असभ्य का सारा कण्ठ-देश राक्षस के गले की तरह खुल जाता है। हँसमुख प्रसन्न-चित्त होता है, कभी न हँसनेवाला महाशुष्क मनोवृत्ति का तथा सदा उपहास करनेवाला दुर्बुद्धि या कुटिल स्वभाव का होता है। सभ्य व्यक्ति व्यंग्य-विनोद से हँसते हैं। दुष्ट जीव दूसरों को संकट में देखकर या उनको बेवकूफ बनाकर हँसता है। गन्दे स्वभाव का आदमी प्राय भद्दे मजाक करता है।

और भी कुछ जान लीजिये

उपर्युक्त बातों को तो ध्यान में रखिये ही, कुछ और छोटी-मोटी बातों की सहायता से मनुष्य के रूप को पहचानिये—

(१) अभिमानी व्यक्ति की दृष्टि सबके सिर के ऊपर, रहती है; वीर स्वभाव के, सत्य तथा निश्छल स्वभाव के व्यक्ति आँख-से-आँख मिलाकर देखते हैं; सज्जन और स्नेही दूसरे के चेहरे की ओर देखते हैं; संकोची और शीलवान् वक्षस्थल की ओर; नीच व्यक्ति कमर के नीचे; महानीच जूतों पर और लज्जित व्यक्ति अपने ही अंगो को देखता है। बिल्कुल निकम्मा आदमी दूसरों की पीठ ही देखता है, क्योंकि वह पीछे-ही-पीछे चलने का अभ्यासी होता है। भाँड-स्वभाव का आदमी आँखें मटकाता है। वह किसी को नहीं देखता, दूसरे ही उसको देखते हैं।

(२) सज्जन व्यक्ति किसी के गुणों की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से करता है, दुर्जन दबी जबान से, चाटुकार ढोल पीटकर और धूर्त्त 'किन्तु' 'परन्तु' लगाकर।

(३) शब्दों का अपव्यय करनेवाला समय का अपव्ययी भी होता है।

(४) सभ्य व्यक्ति मुख पर श्रद्धा-स्नेह के भाव दिखाकर सरलतापूर्वक हाथ से किसी का अभिवादन करता है। दंभी उपेक्षापूर्वक या तो मुँह से कुछ बोल देता है या हाथ को बिजली की तरह चमकाकर गिरा लेता है। धूर्त्त बड़ी भारी दंडवत करता है और बार-बार हाथ जोडता है।

(५) सत्पुरुष कभी यह नहीं कहता कि मेरा यह सिद्धान्त है। उसका सिद्धान्त तो उसके कार्यों से प्रकट ही होता है। जिसका कोई सिद्धान्त नहीं होता, वही चिल्लाता है कि मैं तो अमुक सिद्धान्त का मानने वाला हूँ। धूर्त्त और स्वार्थी लोग छोटी-छोटी बातों को भी सिद्धान्त का रूप दे देते हैं।

(६) जब दो व्यक्तियों में परस्पर विश्वास होता है, तभी वे स्वाभाविक रीति से व्यवहार करते हैं। अविश्वास होने पर भला व्यक्ति भी प्रायः दुर्जन से अपने व्यक्तित्व को छिपाता है।

(७) किसी का प्रिय विषय क्या है, इसकी जानकारी से उसकी मनोवृत्ति का झुकाव मालूम हो जाता है। सज्जनों को सार्वजनिक विषय प्रिय होते हैं। नर-वीरों को शासन-सम्बन्धी, सर्वसाधारण को आमोद-प्रमोद-सम्बन्धी, नीच को दूसरों का अप्रिय करने वाले विषय प्रिय लगते हैं और मूढ़ को सारा संसार असार लगता है।

भ्रम में न पड़िये

किसी के सम्बन्ध में कोई विचार स्थिर करते समय भ्रम में न पड़िये। किसी में दस-पाँच दुर्गुण हो सकते हैं पर साथ ही पचास गुण हो सकते हैं। उन गुणों में वे दुर्गुण छिप जायँगे—उसी तरह जैसे चन्द्र में कलंक और आम में गुठली। साधारण परिस्थिति में किसी के गुण-दुर्गुण अच्छी तरह नहीं प्रकट होते। जिसका व्यक्तित्त्व परिस्थितियों के ऊपर उठा हुआ

दिखाई दे उसी को विजयी मानिये। जहाँ जिसके प्रति आपको भ्रम हो, वहाँ परीक्षा करके देखिये। किसी की ओर थोड़ा घूरकर देखिये कि वह स्थिर रहता है या अस्थिर हो जाता है अथवा आपकी आँखें फोड़ने दौड़ता है। किसी को छेड़कर देखिये कि उसमें सहन-शीलता है या शीघ्र जल-भुन जाने की प्रकृति। किसी की प्रशंसा करके देखिये और फिर उसी की थोड़ी आलोचना करके देखिये। संभव है वह तुलसी की इस उक्ति को चरितार्थ करें—

"नीच चंग-सम जानिये, सुनि लखि तुलसीदास।
ढील देत भुंइं गिरि परत, खैंचत चढत अकास॥"

किसी विषय में उसकी राय लेकर देखिये कि वह उसके सुलझाने में साधक होता है या बाधक। किसी को कोई जिम्मेदारी का काम सौंपिये, देखिये वह खड़ा रहता है या अपने भागने की सड़क बनाता है। जो आपसे दूसरों की रहस्य की बातें कहता है, उसको अपना भी कोई रहस्य बताकर देखिये और कहिये कि किसी से कहे नहीं। संभव है वह एक-दूसरे के रहस्य ही कहता घूमता हो। किसी का उपकार करके देखिये कि वह कृतज्ञ रहता है या कृतघ्न हो जाता है। किसी की ग़लतियाँ पकड़कर देखिये कि वह सच्चे आदमी की तरह उनको मान लेता है या संकोची व्यक्ति की तरह लज्जित हो जाता है या धूर्त्त की तरह बातों से उनको ढँकने की चेष्टा करता है अथवा दुष्ट की तरह उसके कारण आपको अपना शत्रु मानने लगता है। इन प्रयोगों से बहुतों के सम्बन्ध में भ्रम-निवारण हो सकता है।

और भी कई तरह के भ्रम हो सकते हैं। किसी को साधु-स्वभाव का, शान्त-चित्त तथा स्त्रियों से विरक्त देखकर उसको

लोग क्लीव समझ लेते हैं। वह संयमी भी हो सकता है। पुराने ढंग के लोग १४-१५ वर्ष के बालकों में कुछ स्वच्छन्दता आते देखकर समझते हैं कि लड़का बिगड़ गया। उनके मुँह पर मुहाँसे देखकर समझते हैं उनका ब्रह्मचर्य खंडित हो रहा है। यहाँ घोर भ्रम होता है। १४-१५ वर्ष की आयु में युवावस्था का आगम होने लगता है और शरीर की ग्रंथियाँ अपने स्थानों में कुछ परिवर्तन करती हैं, जिनके कारण सबका स्वभाव कुछ बदलता है और ग्रंथियों के परिवर्तन तथा रक्त में विशेष गर्मी के कारण मुहाँसे निकलते हैं। एक तरह से शरीर में बसन्त ऋतु का आगमन होता है। विचारों में पतझड़ की हवा चलती है और मुख पर ऋतु की कोंपलें फूट निकलती हैं। ऐसी दशा में किसी की परीक्षा करते समय उसकी अवस्था की स्वाभाविक विशेषताओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

अपने दोषों को भी देख लीजिये

किसी के व्यवहार में कोई त्रुटि जान पड़े तो उसका सारा दोष मानने के पहले आप यह भी देख लीजिये कि कहीं आप ही ने तो नहीं उसको उसके मार्ग से गिरा दिया है। यदि कोई उत्तेजित होता है तो उसका मूलकारण सोचकर तब उसके स्वभाव को दोष दीजिए। सम्भव है, आप उसके ऊपर या उसकी किसी बात पर हँस दिये हों, या आपने अन्यायपूर्वक दूसरों के सामने उसकी सत्य किन्तु अति कठोर आलोचना कर दी हो। उस परिस्थिति में शान्त स्वभाव का व्यक्ति भी उत्तेजित हो सकता है। हर एक व्यक्ति स्वभाव से कुछ-न-कुछ खुशामद-पसन्द होता है और चाहता है कि लोग उसका मज़ाक कम-से-कम दूसरों के आगे न उड़ायें। यदि आप इसका ध्यान नहीं रखते तो अवश्य ही पीड़ित व्यक्ति आपे से बाहर हो जायगा।

दूसरी भूल आप वहाँ कर सकते हैं जहाँ किसी भाव-प्रधान बात में तर्क का आश्रय लें। यदि कोई आपके तर्कों को न माने तो आप उसे अयोग्य, व्यर्थ या मूर्ख समझेंगे। पर आपको इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मनुष्य तर्क से कम वश में आता है, भावों के सूत्र में वह शीघ्र ही बँध जाता है। वियोगिनी स्त्री को आप तर्क से नहीं शान्त कर सकते। रुष्ट लड़के को तर्क से नहीं, स्नेह-भाव से मनाया जाता है। यदि वह आपके तर्क की अवहेलना करे तो उसको दुष्ट न मानकर अपने को अनुभव-शून्य मानिये।

तीसरी मुख्य भूल आप यह कर सकते हैं कि स्वयं विशेष सम्मान के पात्र न होकर दूसरों से आशा करें कि वे आपका सम्मान करें और न करने पर उनको अभिमानी या अशिष्ट मान लें। आपकी योग्यता-अयोग्यता, गुरुता-लघुता और उपयोगिता के अनुकूल ही दूसरों की दृष्टि में आपका स्थान बनेगा। आग चाहे जितनी भी धधके उसको देखकर कमल नहीं खिल सकता।

चौथी भयंकर भूल यह हो सकती है कि आप स्वयं तो कुछ न करें और दूसरों से आशा करें कि वे ही आपका सब काम कर दें और यदि वे न करें तो आप उनको बुरा आदमी मान लें। यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई व्यक्ति दूसरे का काम पूर्ण रूप से नहीं कर सकता। दूसरा आदमी सहयोगी ही हो सकता है। नौकर भी तभी काम करता है जब मालिक भी कुछ करता है। जो मालिक सोता है, उसके नौकर भी सोते हैं। दूसरों को लापरवाह या सुस्त समझने के पहले देख लीजिए कि आपकी लापरवाही से तो वे वैसे नहीं बन गये हैं।

पाँचवीं भूल आपकी स्मरण-शक्ति की हो सकती है। यदि

आप कोई बात भूल जायेंगे तो दूसरे अवसर पर दूसरे को झूठा बना देंगे। आप किसी की बातों की जाँच तभी कर सकते हैं जब उनको ठीक-ठीक याद रक्खें।

एक और त्रुटि यह हो सकती है कि आप स्वयं मिलनसार स्वभाव के न हों और दूसरों को दोष दें कि वे बड़े उजड्ड तथा मिथ्याभिमानी हैं। आप पहले अपनी परीक्षा कर लीजिये और देख लीजिये कि कहाँ तक आप में सामाजिक होने के सद्गुण हैं। आगे हम कुछ प्रश्न देते हैं, जिनके उत्तर देकर आप पता लगाइये कि कहाँ तक आप समाज में प्रवेश करने योग्य हैं। दूसरों से भी इन प्रश्नों को पूछकर आप उनके विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं, इसलिये हमने इसी प्रसंग में इनका उल्लेख करना उचित समझा है।

कुछ व्यक्तिगत प्रश्न

१—क्या आप किसी भी ढंग की वेश-भूषा में बड़े-छोटों के साथ आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास के साथ मिल लेते हैं ?

२—क्या आपका उच्चारण शुद्ध है।

३—जब आप किसी मित्र से मिलते हैं तो क्या आप किसी प्रश्न के साथ बातचीत का श्रीगणेश करते हैं ?

४—क्या आप प्रायः यह कहते हैं कि 'क्षमा कीजियेगा, ऐसा नहीं हो सका', 'मुझे दुःख है मैं ऐसा न कर सकूँगा' या 'आप बुरा न मानियेगा, मेरा अभिप्राय यह है' ?

५—क्या आप मित्र से प्रायः उसके कार्यालय में मिलते हैं ?

६—बड़े आदमियों से भी क्या आप आत्म-सम्मान के साथ मिलते हैं ?

७—अपनी स्पष्ट आलोचना सुनकर आपको क्या खिन्नता नहीं होती ?

८—क्या आपकी ध्वनि स्पष्ट और गम्भीर है ?

९—क्या आप अपनी बातचीत के कारण व्यवहार-कुशल माने जाते हैं ?

१०—क्या आप अपने को कुछ लोगों का आज्ञाकारी और कुछ लोगों का अफसर बनाकर योग्यतापूर्वक किसी कार्य को सुचारु रूप से कर सकते हैं ?

११—चलते समय या खड़े रहने पर अथवा बैठने पर—इन तीनों अवस्थाओं में से किसी अवस्था में—आप झुकते हैं या नहीं ?

१२—किसी से बातें करते समय क्या आपको पता चल जाता है कि सुनने वाला आपकी बातों में कितना रस ले रहा है ?

१३—कभी पहले के हास्य-व्यंग्य आपको याद रहते हैं कि नहीं ?

१४—आप अपने मित्रों के आग्रहों से प्रायः अपनी जान छुड़ा लेने में समर्थ हो जाते हैं कि नहीं ?

१५—आप हँसी-मजाक में भी अपने सत्य-व्रत का पालन करते हैं या नहीं ?

१६—क्या आपको अपने परिचितों की कमजोरियों का ध्यान रहता है ?

१७—क्या आप अपने वैवाहिक जीवन को सफल मानते हैं ?

१८—क्या आपको अपनी भूलों पर कभी-कभी हँसी आती है ?

१६—आप मित्र की मित्रता का निरन्तर लाभ लेते रहते हैं ?

२०—सच बताइये, क्या कभी आपके मन में यह भावना उठती है कि आपकी पत्नी आपके किसी सौभाग्यशाली मित्र की पत्नी-जैसी रूपवती होती तो आप अधिक सुखी होते ?

२१—क्या आपको स्त्रियों के सामने खड़े होने में कुछ झिझक मालूम होती है ?

२२—आप अपने मिलने-जुलनेवालों से प्रायः कोकशास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, कर्त्तव्य-शास्त्र, वेदान्त और दर्शन-शास्त्र की चर्चा करते हैं कि नहीं ?

२३—क्या आप मित्रों के साथ घूमने-फिरने भी जाते हैं ?

२४—जब आपके मित्र आपको सिनेमा दिखलाने ले जाते हैं तो प्रायः वे ही स्वयं टिकट खरीदकर आपको सम्मानपूर्वक अन्दर ले जाते हैं या नहीं ?

२५—किसी मित्र के घर पर आपके बार-बार जाने पर भी क्या उसके घरवालों को आपके प्रति कोई अरुचि नहीं हुई ?

२६—क्या आपको कहावतें, मुहावरे और कवियों की कुछ मनोहर उक्तियाँ याद हैं ?

२७—जब मित्र-मण्डली में किसी गम्भीर किन्तु आवश्यक विषय पर विचार-विमर्श होने लगता है तो क्या आपको शीघ्र घर लौटने का ध्यान आता है ?

२८—क्या आप अपने व्यवसायवालों या बन्धु-बान्धवों के साथ ही अधिक मेल-जोल रखते है ?

२९—क्या आप अपने मन की सभी व्यथायें मित्रों पर प्रकट करते हैं ?

३०—जहाँ लोगों में भाग्य के कुचक्र की कथायें चलती हैं

वहाँ उनमें आपका नाम भी कथा-नायक या पात्र के रूप में वर्णित होता है या नहीं ?

३१—क्या जब आप अपनी बातें समाप्त कर लेते हैं तो लोगों को आपकी स्थिति पर दया आती है ?

३२—दूसरों के व्याकरण-दोष आप उनको तत्काल बता देते हैं या नहीं ?

३३—सिनेमा के चलते हुए गाने सुनकर क्या आप मुग्ध हो जाते हैं ?

३४—क्या कभी-कभी आप स्वयं भी कुछ गा लेते हैं ?

३५—क्या शाम को आप प्राय: रेडियो सुनने की अपेक्षा कहीं बाहर जाना पसन्द करते हैं।

३६—क्या आपके घर में रोज़ सुबह-शाम आपकी कचहरी लगती है ?

३७—क्या लड़कों के कपड़े आप अपनी रुचि से नहीं पसन्द करते हैं ?

३८—क्या आपको इसका अनुभव होता है कि पहले आपका जीवन अब से अधिक सुखी था ?

३९—क्या परिचित लोगों को व्यक्तिगत पत्र लिखने में आपको बहुत देर तक सोचना पड़ता है ?

४०—क्या घरेलू चिन्ताओं से कभी-कभी आपका मन उखड़ जाता है ?

४१—क्या आपका शाम का कार्य-क्रम बँधा रहता है ?

४२—क्या आपको कभी-कभी इसका ध्यान आता है कि अब आप की वृद्धावस्था आगई ?

४३—क्या कभी-कभी आपको अपने बड़े लड़के के प्रति ईर्ष्या-द्वेष होता है और आप, इस विचार से कि कहीं वह घर में आपकी गद्दी न छीन ले, उसको नीचा दिखाने के लिये गुप्त षड्-यन्त्र या उसका मान-मर्दन करते हैं ? अथवा क्या कभी आप यह समझते हैं कि आपका लड़का आपकी मृत्यु के बाद पूर्ण वयस्क हुआ होता तो ठीक था ? अथवा क्या आप कभी यह समझते हैं कि वह आपसे दूर रहे तो आपका वैभव अधिक सुरक्षित रहेगा ?

४४—क्या आपके घर में किसी आकस्मिक गृह-संकट का दोष किसी नवविवाहिता गृहिणी या किसी नवजात शिशु पर डाल दिया जाता है ?

४५—यदि आपका कोई नौकर अलग हो जाय या बीमार पड़ जाय तो क्या आपको बाजार में खाना खाने के लिये बाध्य होना पड़ता है ?

४६—नौकर के बीमार होने पर आप उसके इलाज का यदि प्रबन्ध करते हैं तो उसके वेतन में से दवा आदि का मूल्य काट लेते हैं या नहीं ?

४७—क्या आप प्रायः पाखण्ड दिखलाते हैं जिससे लोग भयवश आपकी अधिक सेवा करें ? और कभी घर के कामों में कृत्रिम विरक्ति दिखाकर तरह-तरह के नाटक करते हैं ?

४८—किसी के रूठने पर क्या आप उसको बिना धमकाए हुए भी मना लेने में सफल हो जाते हैं ?

४९—दूसरों के मेहमान होने पर क्या आपको अपने घर से अधिक सुख मिलता है ?

५०—क्या आपके नौकर आपको प्रसन्न रखकर आपके

घरवालों का जब चाहें अपमान कर लेते हैं ?

५१—घर में क्या आप परम स्वतंत्र रह सकते हैं और विवाह आदि में भी किसी की राय नहीं लेते ?

५२—क्या आप घर में अपनी प्रभुता को स्थायी रखने के लिये किसी-न-किसी को मारते-पीटते या पेरते रहते हैं ?

५३—काम हो जाने के बाद कोई-न-कोई त्रुटि निकालकर क्या आप नौकरों-मजदूरों के पैसों में कुछ काट-कपट करने के व्यसनी हैं ?

५४—क्या आप बहुत विद्वान्, लोकप्रिय होकर भी घरवालों के प्रति आत्मीयता का भाव दिखलाने में असमर्थ हैं ?

५५—क्या आप घर में भी दो तरह की बातें करते हैं; अर्थात् मन में कुछ रखते हैं, कहते कुछ हैं तथा एक बार कुछ कहकर बाद को पलट जाते हैं ?

५६—क्या आपको घरवालों के लिये रोज नये-नये कानून बनाने और दफा १४४ लगाने का शौक है ?

५७—क्या आपके सम्बन्धी लोग आपके घर बार-बार आना पसन्द करते हैं ?

५८—आपके घर में त्योहार या मंगलोत्सव मनाये जाते हैं या नहीं ?

५९—क्या आपके लड़के और नौकर आपके चेले-जैसे लगते हैं ?

६०—क्या आपका इतना आतंक रहता है कि बच्चे दिन-रात पुस्तकों में ही अपनी आँखें गड़ाये रहते हैं ?

६१—क्या आप बहुत-सी जीवित स्त्रियों के पति हैं ?

६२—क्या आपके घर में हरएक प्राणी यह अनुभव करता है कि आप उसी को सबसे अधिक चाहते हैं ?

६३—क्या सब स्वेच्छा से आपके सुख-दुःख में सम्मिलित होते हैं ?

६४—बाहर से जब आप कुछ लाते हैं तो उसमें से पहले अपना हिस्सा अलग कर लेते हैं या नहीं ?

६५—क्या आप प्रायः घर ही में बैठे रहते हैं ?

६६—क्या आपको क्रोध करके प्रायः पछताना पड़ता है ?

६७—कभी अकेले रहने पर क्या आप ऊबने लगते हैं ?

६८—क्या आप बच्चों, बुड्ढों और नवयुवकों की संगति यथासमय आनन्दपूर्वक कर सकते हैं ?

६९—कोई जब आपके प्रति स्नेह, सम्मान या कृतज्ञता प्रकट करता है तो क्या आप उसके वश में हो जाते हैं ?

७०—क्या आप किसी को बधाई या धन्यवाद देने में प्रायः चूक जाते हैं ?

७१—जब आप रसमग्न होकर बातें करते हों तो यदि कोई अन्य व्यक्ति अपनी बातों से लोगों का ध्यान आपकी ओर से फेर ले तो क्या आप रूठ जाते हैं ?

७२—क्या आप नाना विषय में कुछ-न-कुछ प्रवेश रखते हैं ?

७३—परिचितों के नाम आपको आसानी से याद रहते हैं या नहीं ?

७४—क्या आप बहुत-से-स्थानों पर केवल हाजिरी देने जाते हैं ?

७५—क्या आप सभी से बहुत घुल-मिल जाते हैं ?

७६—क्या आप दूसरों के समय का भी ध्यान रखते हैं ?

७७—क्या आप किसी से पहली मुलाकात करने में केवल दस-पन्द्रह मिनट ही बातें करते हैं और अपने काम की चर्चा करनी भूल जाते हैं ?

७८—किसी के घरेलू काम में कभी-कभी हाथ बँटाते हैं कि नहीं ?

७९—क्या आप दूसरों के पास केवल गप्प करने जाते हैं ?

८०—दूसरों की बातें आप ध्यान से सुनते हैं या नहीं ?

८१—क्या आप दूसरों के मन में प्रायः सन्देह उत्पन्न करके फिर बताने का आश्वासन देते हैं ?

८२—दूसरे लोग जब आपका मज़ाक करते हैं तो क्या आप नक्कू बन जाते हैं ?

८३—क्या आप 'जिन्दादिल और हाजिरजवाब' हैं ?

८४—दूसरे जब चुप हो जाते हैं, तब भी क्या आप बोलते ही रहते हैं ?

८५—आप आसानी से बातचीत में विषय-परिवर्तन करने में सफल हो जाते हैं कि नहीं ?

८६—नौकरों से गाली देकर बातें करने का अभ्यास आपने किया है कि नहीं ?

८७—जिससे आपके नौकर या बच्चे सावधान रहें, आप छोटी ग़लतियों पर भी उनको बुरी तरह डाँटकर उनकी भर्त्सना कर देते हैं या नहीं ?

८८—अपनी ग़लती सुधारते समय क्या आप अपने को

बहुत नीचे गिरा लेते हैं ?

८९—क्या पास में पिस्तौल न रहने के कारण आपको बद-माशों से हमेशा भय बना रहता है।

९०—यदि आपके ये रहस्य जो इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में प्रकट हुए हैं आपके मित्रों को बता दिये जायें तो चित्त में आपको कुछ व्याकुलता तो नहीं होगी ?

९१—क्या आप उठने-बैठने, खाने-पीने में सब मित्रों के साथ समानता का व्यवहार करते हैं ?

९२—परिचितों के साधारण पत्रों का उत्तर क्या आप तत्काल दे देते हैं ?

अपने उत्तरों को तौलिये

आपने 'हा' या 'नहीं' में उत्तर दिये होंगे। हम भी उसी प्रकार उत्तर देते हैं। दोनों का मिलान कीजिये। यदि अनुकूल उत्तरों की संख्या ७५% निकले तो अपने को प्रथम श्रेणी में, ५०% निकले तो द्वितीय श्रेणी में, ३५% निकले तो साधारण श्रेणी में पास समझिये। यदि इससे कम निकले तो आप जिस श्रेणी के मनुष्य हैं, उसी श्रेणी में पड़े रहेंगे और आपके पीछेवाले शीघ्र आपके समकक्षी होकर आगे बढ़ जायंगे।

१—हाँ। २—हाँ। ३—हाँ। ४—नहीं। ५—नहीं। ६—हाँ। ७—नहीं। ८—हाँ। ९—हाँ। १०—हाँ। ११—नहीं। १२—हाँ। १३—हाँ। १४—नहीं। १५—नहीं। १६—हाँ। १७—हाँ। १८—हाँ। १९—नहीं। २०—नहीं। २१—नहीं। २२—नहीं। २३—हाँ। २४—नहीं। २५—नहीं। २६—हाँ। २७—नहीं। २८—नहीं। २९—नहीं। ३०—नहीं। ३१—नहीं।

३२—नहीं। ३३—नहीं। ३४—हाँ। ३५—हाँ। ३६—नहीं।
३७—नहीं। ३८—नहीं। ३९—नहीं। ४०—नहीं। ४१—नहीं।
४२—नहीं। ४३—नहीं। ४४—नहीं। ४५—नहीं। ४६—नहीं।
४७—नहीं। ४८—हाँ। ४९—नहीं। ५०—नहीं। ५१—नहीं।
५०—नहीं। ५३—नहीं। ५४—नहीं। ५५—नहीं। ५६—नहीं।
५७—हाँ। ५८—हाँ। ५९—नहीं। ६०—नहीं। ६१—नहीं।
६२—हाँ। ६३—हाँ। ६४—हाँ। ६५—नहीं। ६६—नहीं।
६७—नहीं। ६८—हाँ। ६९—नहीं। ७०—नहीं। ७१—नहीं।
७२—हाँ। ७३—हाँ। ७४—नहीं। ७५—नहीं। ७६—हाँ।
७७—हाँ। ७८—हाँ। ७९—नहीं। ८०—हाँ। ८१—नहीं।
८२—नहीं। ८३—हाँ। ८४—नहीं। ८५—हाँ। ८६—नहीं।
८७—नहीं। ८८—नहीं। ८९—नहीं। ९०—नहीं। ९१—हाँ।
९२—हाँ।

इन सब उपायों का सम्मिलत प्रयोग करके आप दूसरों के व्यक्तित्त्व के सम्बन्ध में विशेष रूप से जानकार हो सकते हैं। पिछले अन्य अध्यायों में वर्णित बातों को भी ध्यान में रखिये। यदि साधारण दशा में किसी को आप न पहचान सकें तो उसको उन्मत्त दशा में देखिये। चाहे जिस तरह का उन्माद हो, मनुष्य उसमें अपने असली रूप में खुल जाता है क्योंकि तब बुद्धि का चातुर्य नहीं चलता। मुख्यतः मद्य, भंग आदि के मद में तो व्यक्तित्त्व का नग्न रूप दिखलाई पड़ता है। इस पर सुश्रुत ने वैज्ञानिक ढंग से विचार किया है। उसके अनुसार सात्त्विक स्वभाव के मनुष्य में उत्पन्न हुआ मद पवित्रता, उदारता, प्रसन्नता शरीर के शृंगारित करने की लालसा, गायन, अध्ययन, कीर्ति-कर कार्य करने की इच्छा, भोग और उत्साह को भावना उद्दीप्त करता है। राजस स्वभाव वाले मनुष्य में मदाधिक्य से दुःशीलता,

आत्म-नाशक कर्म, साहस और कलह की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। तामस प्रकृति के मनुष्य में अपवित्रता, मत्सर, व्यभिचार, झूठ बोलना और तरह-तरह की कुप्रवृत्तियाँ मद्य पीने के अनन्तर जगती हैं। तभी आप नीच प्रकृति के लोगों को नालियों में लोटते हुए पाते हैं। इसका कारण सुश्रुत के मत से यह है—प्रायः सभी अपनी मूल प्रवृत्तियों को एक अंश तक रोक कर रूढ़ि और लोक-प्रथा के अनुकूल आचरण करते हैं। मद्य के प्रभाव से प्रकृति उत्तेजित होकर उस कृत्रिम बन्धन को तोड़कर स्वच्छन्द हो जाती है। उस समय मन की वे सभी गूढ़ बातें जो भीतर-ही-भीतर हमारे आचार-विचार को प्रभावित करती रहती हैं सबल होकर प्रकट हो जाती हैं। मद्य को इसीलिये चरक ने 'प्रकृति-दर्शक' कहा है। आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं कि मानव-प्रकृति के अनुसार ही मद-प्रभाव में भिन्नता होती है। शराब के नशे ही में नहीं, सिगरेट-तम्बाकू के नशे में भी मनुष्य अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति के अनुसार चेष्टायें करता है। अतएव ऐसे अवसरों पर उसकी मुख-मुद्रा, व्यवहार, बातचीत का अध्ययन करना चाहिये। यदि किसी की आकृति आपकी समझ में न आये तो वृद्धों की आकृति की परीक्षा कीजिये। किसी अंग्रेज ने सोलह आने सत्य लिखा है कि वृद्धावस्था में मनुष्य को वही आकृति मिल जाती है जिसका कि वह पात्र होता है—

"In old age men acquire the faces they deserve."

तेजस्वी का चेहरा वृद्धावस्था में अधिक सतेज हो जाता है, नीच विचारों के मनुष्य का चेहरा राख या कोयला हो जाता है। गाँधीजी की आकृति तो मरने के बाद भी सजीव लगती थी।

हम समझते हैं, इस विषय पर इस अध्याय में आपको पर्याप्त सामग्री मिल जायगी। आप दूसरों को सूक्ष्मता से देखिये और इसका भी ध्यान रखिये कि अन्य लोग भी वैसी ही सूक्ष्मता के साथ आपको देखते होंगे। अतएव दूसरों के निकट सम्पर्क में आने के लिये अपने रूप में आचार-व्यवहार और चेष्टाओं आदि में यथावश्यक संस्कार कीजिये।

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर देकर आप अपनी त्रुटियों को स्वयं समझिये क्योंकि प्रायः दूसरे लोग शिष्टता या संकोच-वश आपकी त्रुटियों को देखते हुए भी चुप रहते हैं। इन प्रश्नों को हमने जान-बूझकर एक क्रम में नहीं रक्खा है—

प्रश्न १—कई प्रसंग ऐसे आते हैं जबकि किसी कार्य के करने या न करने के सम्बन्ध में आप में और आपकी आत्मा में भीतर-ही-भीतर संघर्ष होता है। उस दशा में क्या आप अन्त में आत्मा पर विजयी हो जाते हैं अथवा आपकी आत्मा ही आपको पराजित कर देती है?

२—आपके मन में कभी-कभी अनायास हर्ष या शोक की तरंगें उमड पड़ती होंगी। क्या आप उनमें तत्काल बह जाते हैं या कुछ देर तैरते भी हैं?

३—आपके मन में कोई विस्फोटक पदार्थ तो नहीं है। जिसके कारण आप बातों की साधारण चिनगारी से दगने लगते हों?

४—क्या आपको आते देखकर लोग भय-वश मन ही-मन 'संकट-मोचन' का पाठ करने लगते हैं? दूसरे शब्दों में—क्या लोग आपसे यह समझकर डरते हैं कि 'जनि कहइ कछु बिपरीत जानत प्रीति-रीति न बात की।'—(तुलसी)?

५—जब आप बोलने लगते हैं तो आपके कंठ से सुन्दर शब्द

माला निकलती है अथवा हवाई बन्दूक दगने लगती है ?

६—क्या यह सत्य है कि दूसरों की प्रशंसा करते समय आप को शब्द-दारिद्र्य का अनुभव होता है और निन्दा करते समय सहस्रनाग की जिह्वायें मिल जाती हैं ?

७—जब आप दूसरों से मिलते हैं तो जासूस की तरह तो नहीं प्रतीत होते ? अथवा आपको लोग किसी का भेदिया तो नहीं समझते ?

८—आस-पास कोई भी झगड़ा होने पर क्या नारद की तरह आपका नाम उसके नत्थी कर दिया जाता है ?

९—किसी-न-किसी से उलझते रहने का क्या आपको 'अमल' पड़ गया है ?

१०—क्या यह सत्य है कि किसी विषय को अतिरंजित किये बिना आप उसको व्यक्त ही नहीं कर सकते ?

११—कलियुग को दोष देना, विधाता के विधान को उलटा बताकर उसकी आलोचना करना, अपनी दुर्दशा का सारा उत्तर-दायित्व गवर्नमेन्ट, भगवान् या किसी अन्य व्यक्ति पर डाल देना तथा अतीत काल के गौरव और सुखों की एक लम्बी सूची बनाकर उसका पाठ करना—क्या यही आपकी बातचीत के मुख्य विषय होते हैं ?

१२—किसी से मिलते ही क्या आप तत्काल आत्म-कथा कहने लगते हैं ?

१३—पर-छिद्रान्वेषण करके आप दूसरों के दोष कंठस्थ रखते हैं कि नहीं ?

१४—क्या आपको जो मिलता है, वही धूर्त्त, अविश्वासी या बेईमान होता है ?

१५—आप ही दूसरों का गुण-गान करते हैं या आपका भी गुण-गान करने वाला कोई है?

१६—आपकी प्रशंसा कौन अधिक करता है?—आप स्वयं या आपके मित्रगण या शत्रु?

१७—आपके मित्रों की संख्या अधिक है या शत्रुओं की?

१८—क्या हवा के साधारण झोंके से भी आप छींकने लगते हैं? दूसरे शब्दों में, क्या साधारण बातों से भी आपके हृदय में में बड़े-बड़े छाले पड़ जाते हैं?

१९—क्या आप दूसरों को भ्रम में डालने का व्यवसाय करते हैं? दूसरे शब्दों में—खाकी कमीज-हाफपैन्ट पहनकर तथा नकली तमंचा लटकाकर या प्रान्तीय रक्षा-दल में भर्ती होकर क्या आप यह प्रचार करते घूमते हैं कि आप सब थानेदारों के सिरमौर होगये अथवा किसी अफसर की हाँ-हुजूरी करके लौटने के बाद क्या आप यह प्रचारित करते हैं कि आप साहब से गप करने गये थे और उन्होंने शासन-सम्बन्धी अनेक मामलों में आपसे राय ली है; अथवा छठे-सातवे तक पढ़कर क्या आप दूसरों को यह बताने की चेष्टा करते हैं कि आप इतने योग्य हैं कि बड़े-बड़ों के कान कतरते हैं; अथवा कल्पित नौकरी पाकर क्या आप यह विज्ञापित करते हैं कि आप उच्च पदाधिकारी होगये या होने जा रहे हैं?

२०—क्या आप अपनी महिमा को पूर्वजों की गौरव-गाथा सुनाकर बढ़ाते हैं?

२१—क्या आप बात-बात में धमकी देते हैं, दूसरों को चौंकाते हैं और इस प्रकार काम निकालने की चेष्टा करते हैं?

२२—क्या आप हर प्रकार की प्रतियोगिता से घबराते

हैं और शंकित रहते हैं कि दूसरे लोग आपसे आगे न बढ़ जायँ ?

२३—क्या आपके नौकरों की सूची में भगवान् का भी नाम है ? अर्थात् क्या आप यह सोचते हैं कि अमुक काम भगवान् चाहेंगे या करेंगे, तभी होगा ?

२४—गर्मी में प्रचण्ड धूप, बरसात में मूसलाधार वर्षा, जाड़े में खांसी-बुखार और शीत-प्रकोप—ये तीनों आपके कार्य में बाधक होते होंगे ? घर छोड़ते समय घर के सुख, घरवालों के मोह के अतिरिक्त दिशाशूल, अशुभ मुहूर्त्त, अपशकुन प्रायः आपके पैर पकड़ ही लेते होंगे ? दूर जाना है, 'परदेस कलेस नरेसुहु को,' सभी तो वहाँ पराये होते हैं, काम अकेले नहीं हो सकता—ये चिन्तायें आपको प्रायः वैठा रखती होंगी ? क्या हमारा अनुमान असत्य है ?

२५—क्या अधिकांश कार्यों में आप अपने को असमर्थ पाते हैं और निराश हो जाते हैं ?

२६—क्या यह सत्य है कि आपका घर ही आपका बन्दीगृह होगया है, जहाँ स्त्री जेल-सुपरिन्टेन्डेन्ट है और बच्चे जेल-फाटक के सिपाही हैं ?

२७—यह कहाँ तक सत्य है कि यदि आपको घर के झंझट न होते तो आप अधिक सुख से रहकर लोक में बड़ी उन्नति कर सकते थे ?

२८—आपकी बात का लोग एक अर्थ लगाते हैं या अनेक ?

२९—दूसरों से आप विचारों के आदान-प्रदान के लिए मिलते हैं अथवा अपने मत की पुष्टि कराने के लिये ?

३०—प्रायः जब आप किसी से मिलते हैं तो क्या आपका श्रोता आपकी बातें सुनते-सुनते ऊँघने लगता है ? अथवा, क्या वह हाँ-हूँ करता हुआ साथ-साथ कोई अन्य कार्य भी करने लगता है ?

३१—बातचीत में आपको खंडन-मंडन अधिक प्रिय है, या हाँ-में-हाँ मिलाना अथवा बाल की खाल खींचना या ईंट का जवाब पत्थर से देना ?

३२—लोगों के बीच में जाने पर क्या आपके मन में यह भावना उठती है कि सभी आपको तथा आपकी वेश-भूषा को घूर-घूरकर देख रहे हैं, और आप पर टूट पड़ना चाहते हैं तथा चारों ओर आपकी त्रुटियों की चर्चा हो रही है ?

३३—जब किसी सभा-समाज में आप जाते हैं तो प्रायः अपने बैठने के लिये कोई कोने का स्थान अवश्य ढूँढते होंगे ? वहाँ बैठने पर आपका चित्त शान्त रहता होगा। और कहीं यदि सबके बीच में बैठना पड़ा तो आपका हृदय धड़कता होगा, आँखें फड़कती होंगी और आप रह-रहकर भड़कते होंगे। क्या हमारा यह अनुमान आप ही के सम्बन्ध में है या किसी अन्य के ?

३४—क्या दिन में कई बार आपकी टोपी या पगड़ी उछल-कर दूसरों के पैरों पर गिर पड़ती है ? अर्थात् क्या आप बहुतों के कृपा-पात्र या ऋणी हैं ?

३५—क्या आप प्रायः नतमस्तक रहते हैं या कमर झुकाकर चलते हैं ?

३६—क्या आपको किसी के साथ मित्रता निभाने में विशेष कठिनाई होती है और आप अपने मित्रों को उतनी ही बार बद-

लते हैं जितनी बार कोई धूर्त्त व्यक्ति अपनी बातों को बदलता या पलटता है ?

३७—क्या आपके पास कुछ गुप्त मित्र भी हैं जिनसे आप छिपकर मिलते हैं ?

३८—काव्य, कला, साहित्य, संगीत, नृत्य या किसी मनोरंजक कार्य से आपको सहज अनुराग है कि नहीं ?

३९—क्या आप कोई दैनिक समाचार-पत्र पढ़ते हैं ? यदि पढ़ते हैं तो कैसे समाचारों में आपकी रुचि है ? चोरी-डाके के रोमांचकारी वृत्तान्त, दुराचार के समाचार, कहीं बिजली गिरने या रेल से भैंसा कटने का हाल तथा पति ने पत्नी की नाक काट ली—ये विवरण आप विशेष रूप से पढ़ते हैं या दवाओं के विज्ञापन ?

४०—क्या यह सत्य है कि जो आपको त्रास दिखलाता है उसके आप अवैतनिक दास बन जाते हैं और जो आपके आगे विनम्रातपूर्वक झुकता है, उसकी गर्दन पर चढ़ जाते हैं ?

४१—आप कम हँसते हैं या अधिक ? अट्टहास पसन्द करते हैं या मुसकान ? कण्ठ से ही हँसते हैं या हृदय से भी ? दूसरों का उपहास करते हैं या हास्य-विनोद ? अपने से बड़ों के साथ हँसी-मजाक करते है या समान श्रेणी के लोगों के साथ अथवा नौकरों के साथ भी कर लेते हैं ?

४२—नगर-मुहल्ले या पड़ोस के समारोहों में आप आदर-पूर्वक आमंत्रित होते हैं कि नहीं ? आमंत्रित होकर जाने पर आमंत्रक आपके शुभागमन से प्रसन्न होता है या आप ही अपने को धन्य मानते हैं ?

४३—आप प्रायः कुछ ऐसी बीमारियों से पीड़ित रहते होंगे,

जिनका निदान नहीं हो पाता ?

४४—क्या यह सत्य है कि कोई भी बात आपके पेट में पहुँचते ही जुलाब की गोली बन जाती है ?

४५—आप अपने बच्चों के बाप हैं या अध्यापक अथवा दोनों ?

४६—आप अपनी स्त्री के स्वामी हैं या सखा अथवा दास ?

४७—आप किसी चंचला या चंडा के पति तो नहीं हैं ?

४८—आपके घर में पधारते ही सन्नाटा छा जाता है या तूफान चलता है ?

४९—शत्रुओं पर वज्रपात कराने के लिए आप भगवान् को रोज मनाते हैं कि नहीं ?

५०—क्या आप स्वय अपने आदर्श हैं ?

५१—एकाएक कोई ऊँचा पद पाकर आप आपे से बाहर तो नहीं हो जाते ?

५२—क्या प्रत्येक कार्य की सफलता का श्रेय आप स्वयं लेना चाहते हैं ?

५३—आप शीघ्र प्रसन्न होने वाले तो नहीं हैं ?

५४—स्वप्नावस्था में आप भयानक दृश्य देखते हैं या सुन्दरी स्त्रियों को अथवा खाद्यपदार्थों को ?

५५—क्या आप पैर पटकते हुए चलते हैं ?

५६—यदि आप दूकान खोलकर बैठे हैं तो गम्भीर बने रहते हैं या नहीं ?

५७—क्या आप नियम से प्रतिमास अपने स्त्री-बच्चों को कुछ जेब-खर्च देते हैं ?

५८—चूर्णों या औषधियों में किन-किन का प्रयोग आप करते हैं ?

५६—किसी कार्य में असफल होने पर आप मूर्च्छितावस्था में हो जाते हैं या विशेष सचेत ?

६०—क्या आपके मन में कभी-कभी आत्मघात के विचार आते हैं ?

६१—क्या कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अनायास आपको सफलता-पर-सफलता मिलती है ?

६२—आप आवश्यकता से अधिक आशावादी या निराश तो नहीं हैं ?

६३—आप आवश्यकता से अधिक प्राचीन या अर्वाचीन तो नहीं हैं ?

६४—आपके व्यवसाय पर आपके व्यक्तिगत चरित्र का कोई असर नहीं पड़ता—इसे तो आप मानेंगे ?

उत्तर

१—यदि किसी विषय में आप में और आपकी आत्मा में, अर्थात् आपकी कामना और विवेक में, द्वन्द्व हो तो आत्मा से हार मान लेने ही में जीत होती है। आत्म-प्रेरणा के रूप में ईश्वर का संकेत मिलता है। कालिदास ने लिखा है कि संदेहास्पद विषयों में सज्जन लोग अपनी आत्मा की गवाही को ही प्रमाण मानते हैं—

"सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु—
प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तयः।"—कालिदास।

२—अमेरिका के कुछ प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन करके देखा कि हर तैंतीसवे दिन प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में

हर्ष या शोक-भावना की एक प्राकृतिक लहर आती है। हर्ष की भाव-लहर के उठने पर चित्त अकारण आह्लादित हो जाता है, बुद्धि में उदारता, सरसता, विनम्रता आजाती है। शोक की तरग उठने पर अकारण उद्विग्नता, ग्लानि, क्रोध या विरक्ति की वासनायें तीव्र हो जाती हैं। जिस दिन मनोभाव में सहसा ऐसा परिवर्तन ज्ञात हो, उस दिन समझना चाहिये कि भावुकता की प्राकृतिक तरंग उठी है। उस दशा में चित्त-प्रवृत्ति हर्ष या शोक की ओर झुकी हुई मिलेगी। तैंतीसवें दिन चित्त-दशा में वैसे ही परिवर्तन फिर होगा। यह क्रम चलता रहता है, परन्तु यह निश्चित नहीं कि एक बार हर्ष-वेग उठने पर दुबारा भी वही उठेगा। हर्ष के बाद शोक भी उठ सकता है। किसी-किसी को चौतीसवे या पैंतीसवें दिन ये लहरें उठती हैं और उसी क्रम से आगे उठती रहती हैं। पाँचवें सप्ताह में इसका अनुभव अवश्य होता है। भावोन्माद में सावधान रहना चाहिये और सहसा कोई भावुकतापूर्ण कार्य न करना चाहिये।

३—यदि आप असहिष्णु हैं तो आपके मित्रों की सूची में किसी बेहया या अभागे का नाम ही शेष होगा। जो बात-बात में उत्तेजित होता है वह पागलपन की सड़क पर निराशा की मोटर पर सवार होकर चलता है।

४—यदि लोग आपकी दुःशीलता के कारण आतंकित रहते हैं तो आप किसी संक्रामक रोग से कम भयंकर न होंगे। यह मानव-स्वभाव है कि जो जिससे भयभीत या शंकित रहता है वह उससे प्रेम नहीं करता। यदि आप इतने दुर्मुख हैं कि लोग आपसे बातें करने में डरते हैं तो आपको समाज से सच्ची सहानुभूति नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसे स्वभाव के व्यक्तियों को तुलसी ने खल-वर्ग में माना है—

"वचन-वज्र जेहि सदा पियारा ।
सहसनयन पर-दोष निहारा ॥" —मानस

५—यदि आप कर्कश-भाषी हैं तो आपकी बातों का किसी पर प्रभाव न पड़ता होगा। मनोहर शब्दों में कठोर तर्क उसी प्रकार प्रभावशाली होता है जैसे सुन्दर नेत्रों में कटाक्ष। शब्दों की हवाई बन्दूक दागने से जीवन-संग्राम में विजय नहीं मिलती।

६—यदि आप दूसरों की प्रशंसा करने में असमर्थ और उनकी निन्दा करने में सर्व-समर्थ हैं तो अवश्य ही आपका हृदय दुर्भावनाओं से भरा रहता होगा। लोग आपके पास बैठने में घबराते होंगे और आपका विश्वास भी कम करते होंगे। निन्दक दूसरों की कालिमा अपने मुँह में लगाये घूमता है, इसको सत्य मानिये।

७—किसी सभ्य समाज में यदि आप दूसरों के भेद जानने का प्रयत्न करेंगे, अकारण दो आदमियों की बातें सुनने का प्रयत्न करेंगे, दूसरों की चिट्ठियाँ पढ़ने का प्रयत्न करेंगे, दूसरों से कान में या धीरे-धीरे बाते करने का प्रयत्न करेंगे तो अवश्य ही लोग आपको भेद-पूर्ण दृष्टि से देखेंगे। संभव है, आप घबराहट के कारण भौंचक्के होकर दूसरों को आँखें फाड़-फाड़-कर देखते हों, जिसके कारण लोग आपको जासूस-जैसा समझते हों। कुछ भी हो, शंका-पूर्ण दृष्टि से देखा जाना अपमानजनक होता है।

८—यदि झगड़ों में आपका नाम नारद की तरह नत्थी कर दिया जाता है तो इसका कोई कारण होगा; व्यर्थ ही आप देवर्षि के अवतार न बन गये होंगे। अधिकांश विवादों में पड़ जाने के आप व्यसनी होंगे, अथवा इधर की बात उधर लगाने में प्रसिद्ध या स्वभाव से कलह-प्रिय अथवा पक्षपाती। किसी खास

झगड़े में संभव है, आपका हाथ न हो, परन्तु पहले आप आग लगाने की यथेष्ट कीर्ति अर्जित कर चुके होंगे जिसके कारण कहीं भी आग लगने पर लोगों को आपका ही नाम याद आता होगा। कीर्ति मनुष्य के आगे-आगे दौड़ती है। दूसरों के झगड़ों में न पड़ने ही में बुद्धिमानी है; पड़े भी तो निष्पक्ष होकर।

६—बहुत-से लोगों का ऐसा स्वभाव बन जाता है कि वे दिग्विजय करते हुए चलते हैं, अकारण भी किसी-न-किसी से उलझकर उसको पेरते हैं। कोई झगड़नेवाला नहीं मिलता तो वे किसी पर कल्पित अभियोग लगाकर उसको विवश करते हैं कि वह अखाड़े में आजाय। कुटुम्बियों, सम्बन्धियों, मित्रों, नौकरों आदि पर दैनिक अत्याचार करने का उनको व्यसन होता है। यदि आप ऐसे हैं तो किसी ऐसे आदमी को मित्र या नौकर बनाइये जो अभ्यस्त बेहया हो। उसी को सिल्ली बनकर रोज़ अपनी जिह्वा को पहँट लिया कीजिये। यदि आप ऐसा न करेंगे तो आपको अनिद्रा या अजीर्णता अथवा ज्वर या मधुमेह हो जायगा। शेख़सादी को भी एक ऐसा अमली मिला था जिसका वर्णन उन्होंने गुलिस्तां में किया है। एक बादशाह था जो प्रतिदिन किसी-न-किसी को सताता रहता है। एक दिन एक साधु उससे मिलने आया। बादशाह ने उससे पूछा कि मेरे लिये कौन-सी पूजा सर्वोत्तम होगी? साधु ने कहा—दिन का सोना क्योंकि जब तक आप सोयेंगे कम-से-कम तब तक ग़रीबों की जान साँसत से बची रहेगी और आपको पुण्य मिलेगा।

१०—यदि आप सत्य के ऊपर कल्पना का पहाड़ लादने के आदती होंगे तो सत्य अवश्य ही मर जाता होगा। बातों को मनोरंजक बनाने के लिये जो लोग उनमें कल्पना के पंख लगाते हैं, उनके हाथ से बातें निकल जाती हैं। नमक-मिर्च लगाना, या

बढ़ा-चढ़ाकर बातें करना अथवा तिल का ताड़ बनाना आत्म-सम्मान-नाशी होता है। इसका अभ्यास हो जाने पर वक्ता स्वयं अपनी कल्पित कथाओं को सत्य मानने लगता है और श्रोता-गण उसकी सत्य कथाओं को भी कल्पित समझने लगते हैं।

११—अपनी विफलता का दोप समय या किसी अन्य के सिर मढ़ने से अपनी अकर्मण्यता का विज्ञापन होता है। यदि आप सबल हैं तो आपको सभी सहायक मिलेंगे और आप अतीत को न देखकर भविष्य को देखेंगे—'सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।'

१२—यदि आप सर्वत्र अपनी ही चर्चा करते हैं तो लोग आपसे ऊबते होंगे। अपनी राम-कहानी कहने का व्यसन पड़ जाने पर मनुष्य आत्म-घोष (कौवा) जैसा लगता है जो अपना ही मान रटता है।

१३—यदि आप पर-छिद्रान्वेषी हैं तो समाज आपको मक्खी-जैसा समझता होगा। दूसरों के दुर्गुणों को देखकर कहते फिरना वैसा ही है जैसा गलियों का कूड़ा गाड़ियों में भर-कर ले चलना। उससे अपने गन्दे स्वभाव का विज्ञापन होता है। दूसरों के सद्गुण जिह्वा पर रखना वैसा ही है जैसे कपड़े पर इत्र लगाना। इसके विपरीत दुर्गुणों को जिह्वा पर रखना वैसा ही है जैसे किसी दुर्गन्धित पदार्थ को जेब में भरकर चलना। किसी की निन्दा करने के पूर्व निन्दक स्वयं निन्दा का पात्र हो जाता है।

१४—यदि अपने अतिरिक्त अन्य सभी को आप धूर्त्त या विश्वास के अयोग्य मानते हैं तो आप स्वयं स्वभाव के कच्चे एवं संशयालु होंगे। जो सबको बेईमान समझता या बनाता है, वह स्वयं बेईमान होता है। विश्वास विश्वास से ही जमता है।

जो स्वयं विश्वासपात्र होता है, उसको दूसरे भी विश्वासपात्र मिलते है। जो संदेहग्रस्त होता है, उसको अपने स्त्री-बच्चों के ऊपर भी सन्देह होता है।

१५—यदि आप दूसरों के ही गुणगान करते हैं और स्वय प्रतिष्ठित नहीं हैं तो आपका महत्त्व किसी चारण से अधिक न होगा। यदि आप गुणी हैं तो आपके गुणगायक भी होंगे। दृश्य को दर्शक की कमी नहीं रहती।

१६—आत्म-प्रशंसक हीन कोटि का व्यक्ति होता है। मध्यम कोटि के मनुष्य की प्रशंसा उसके मित्रगण भी करते हैं, उत्तम पुरुप की उसके शत्रु भी करते हैं। कर्ण की प्रशंसा कृष्ण भी करते थे।

"स्वत तथा मित्र-समाज से सदा,
कहाँ नही कौन प्रशसनीय है।
गुणी वही है जिसके प्रभाव की,
करे विरोधीजन भी सराहना॥"

(अंगराज)

१७—यदि आपके मित्रों की संख्या अधिक है तो यह आपकी तेजस्विता, मिलनसारिता और विश्वास-पात्रता का परिचायक है। सज्जन और शूरवीर सदैव अजात-शत्रु होते हैं। यदि आपकी शत्रु-संख्या अधिक है तो आप स्वभाव, व्यवहार, पुरुपार्थ से कुटिल, असभ्य या असमर्थ होंगे। संभवत आप षड्यन्त्री या कटुभाषी या परद्वेषी होंगे। अधिक संभव है कि आप अशक्त अतएव भयशील अतएव महाक्रोधी हों। इस सर्प-स्वभाव के कारण लोग लाठी लेकर आपके पीछे पड़े रहते होंगे। सर्प शरीर से निर्बल, स्वभाव से बहुत भीरु और उत्तेजित होने पर महाक्रोधी और दुस्साहसी होता है। तीनों बातें प्रायः साथ

चलती हैं—'क्षीणा नराः निष्करुणा भवन्ति।' मित्र और शत्रु की संख्या-तुलना करते समय इस बात का ध्यान रखिये कि बीस मित्र बराबर एक शत्रु के।

१८—दुर्बल व्यक्ति को जिस प्रकार साधारण जलवायु के परिवर्तन से जुकाम हो जाता है वैसे ही दुर्बल हृदय वाले साधारण बातों से 'छू' जाते हैं। मिथ्या अहंकार से लोगों को मनोमालिन्य होता है। ऐसे व्यक्तियों को मित्र-संकट सदैव रहता है।

१६—मूर्ख, अकुलीन और अल्पज्ञ का प्रथम चिह्न यह है कि वह अपना ही मिथ्या-विज्ञापन करता रहता है। 'विद्वान् कुलीनों न करोति गर्वं, गुणैर्विहीना बहु जल्पयन्ति' इस सम्बन्ध में महामना सुकरात के इस मत को मानना चाहिए कि संसार में सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने का सरल और निश्चित उपाय यही है कि मनुष्य वास्तव में जैसा हो वैसा ही अपने को व्यक्त करे—

"The shortest and surest way to live with honour in the world is to be in reality what we would appear to be." —Socrates.

जार्ज बर्नार्ड शॉ के इस मत को भी ध्यान में रखना चाहिये कि दरिद्र बने रहने का एक अच्छा उपाय है—अपने को धनी बताना या धनी होने का ढोंग करना—

"A good way of keeping poor is pretending to be rich." —G. B. Shaw

क्षुद्र प्रकृति के व्यक्तियों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे अपने प्रभाव का झूठा विज्ञापन करके दूसरों की दृष्टि में अपने

को उच्च दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। किसी बड़े आदमी की साधारण जान-पहचान का वे अनुचित लाभ लेना चाहते हैं और लेते भी हैं, परन्तु एक अवसर ऐसा आता है जब उनकी रही-सही प्रतिष्ठा भी मिथ्या प्रतिष्ठा के साथ धूल में मिल जाती है।

२०—यदि आप स्वयं कीर्तिवन्त न होकर केवल पूर्वजों की कीर्ति के बल पर अपने को पुजवाना चाहते हैं तो यह आपका भ्रम है। चाणक्य ने लिखा है कि गुणी लोग अपने ही गुणों से प्रकाशित होते हैं, जन्म (अर्थात् जाति-कुल आदि) को कौन देखता है—

"प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो
गच्छन्ति किं जन्मना ॥"

पूर्वजों के यश पर ही रहनेवाले को आलूवर्ग का प्राणी मानते हैं। आलू की तरह उसका सर्वस्व पूर्वजों की मिट्टी के भीतर गड़ा रहता है। स्वयं यशस्वी होने पर पूर्वजों का यश सहायक होता है; न होने पर अपनी महिमा और भी घट जाती है, क्योंकि लोग कहते हैं कि ऐसे उच्च कुल में यह तुच्छ व्यक्ति कहाँ से पैदा हुआ। शॉ ने तो यहाँ तक कहा है कि किसी बड़े आदमी का सम्बन्धी होना बड़ा दुःखदायी है क्योंकि उसी के नाम से हमारा परिचय दिया जाता है, और हमारे स्वतन्त्र व्यक्तित्व की गणना ही नहीं होती—

"It is maddening to be related to a celebrated person and never be valued for own sake."

—G. B. Shaw.

२१—धमकी देने वाला सदा कायर होता है—'Bullies are always cowards'—(Shaw) शक्तिमान् पुरुष धमकी

नहीं देता, वह तो जो चाहता है, उसको करके दिखा देता है। चौकनेवाली बातों से लोगों को आकर्षित करनेवाला झूठा गिना जाता है और प्रायः ईसप की कहानियों में वर्णित गड़रिये की तरह धोखा खाता है। वह गड़रिया रोज "भेड़िया आया, भेड़िया आया" कहकर चिल्लाता था। लोग सहायतार्थ दौड़कर जाते तो देखते कि वहाँ कुछ नहीं था। एक दिन सचमुच भेड़िया आगया। गड़रिया बहुत चिल्लाया, परन्तु लोग यह समझ-कर नहीं गये कि उसकी चौंकाने की आदत ही है। भेड़िया उसको खा गया।

२७—स्वाभाविक भीरुता-वश प्रायः लोग प्रतियोगिता से घबराते हैं और ऐसे ही कामों में हाथ लगाते हैं, जिनमें प्रतियोगिता का भय नहीं रहता। वे डरते हैं कि कहीं विफल होने पर लोग उनकी हँसी न उड़ाएँ। इससे उत्साह, साहस और आत्म-विश्वास की कमी प्रकट होती है। मनस्वी व्यक्ति सदैव प्रतियोगिता का स्वागत करता है क्योंकि उससे आत्म-योग्यता प्रमाणित होती है अपने बलाबल का ठीक पता चल जाता है। अमेरिका के गत प्रेसिडेन्ट रूजवेल्ट ने एक बार अपने राज-सचिव 'कार्डेल हल' से कहा था कि थोड़ी स्पर्द्धा या प्रतियोगिता की भावना उत्साहदायिनी होती है क्योंकि वह प्रत्येक व्यक्ति में यह भावना जाग्रत रखती है कि वह अपने सहकर्मी से अपने को अधिक योग्य प्रमाणित करके दिखलाये; इसके कारण वे सच्चे भी बने रहते हैं—

"A little rivalry is stimulating, you know. It keeps everybody going to prove he is a better fellow than the next man It keeps them honest too."

—Roosevelt.

२३—यदि आप यह सोचते हैं कि भगवान् आपका काम करेगा तो उस सर्वेश को आप अपना कुली बनाते हैं। कोई सत्तामहत्ताधारी किसी का सेवक होना स्वीकार नहीं करता। इस दुस्साहस के लिए सम्भवतः वह आपको दण्ड भी दे। 'होइ है सोइ जो राम रचि राखा'—यह कर्म-हीनों और भाग्य-हीनों का मंत्र है। शुक्र के शब्दों में नपुंसक लोग ही कार्यसिद्धि के लिये देवता के भरोसे बैठते हैं—'क्लीवा दैवमुपासते।' और वन्दनीय बुद्धिमान् लोग पौरुष ही को महत्त्व देते हैं—'धीमंतो वंद्यचरिता मन्यन्ते पौरुष महत्।'

देवता को सहायतार्थ पुकारना अशक्तता का लक्षण है। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि रोग से अशक्त होने पर प्राणी के मुख से स्वभावत. राम-नाम निकलता है। नीति का मत है कि पुरुषार्थी उद्योग से लक्ष्मी को प्राप्त करता है। "देवता देते हैं"—ऐसा कापुरुष लोग कहते हैं; दैव को भूलकर पुरुषार्थ करो और यत्न करने पर भी सफलता न मिले तो देखो कि त्रुटि कहाँ है—

उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैव हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैव निहत्यकुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोष. ॥

तुलसी ने भी लिखा है कि—

"कादर मन कर एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥"

स्वावलम्बन के विना देवता का अनुग्रह भी नहीं मिलता। देवबल होता है, परन्तु वह बाहर से नहीं आता; आत्म-साधना, बुद्धि-प्रयोग से ही उत्पन्न होता है। जो देव-प्रिय होने की आशा में बैठा रहता है वह बकरा, पशु, मूर्ख या पागल ही होता है।

देवप्रिय के ये शाब्दिक अर्थ हैं।

सर्वोत्तम यह है कि आप अपने पुरुषार्थ को उद्दीप्त रखिये। इस विषय में महावीर कर्ण को आदर्श मानना चाहिये। सूत-कुल में पलकर आत्म-पौरुष से उसने आत्मोत्थान किया, राज्य-स्थापना, दिग्विजय किया और निर्भय होकर पुरुषार्थ दिखाते हुए कर्म-क्षेत्र में प्राण-त्याग किया। पुरुषार्थ से उसने देव कृष्ण तक को मोहित और मर्यादा-भ्रष्ट कर दिया। राज-सभा में कृष्ण के समक्ष कुरुराज द्वारा कही हुई अपनी लिखी यह कर्ण-प्रशस्ति हमें इस प्रसंग में याद आती है—

"स्व-बाहु से अर्जित राज्य-कीर्ति के,
स्व-कर्म से सचित भाग्य के धनी।
हठोद्यमी, सत्य-पराक्रमी तथा,
अनन्य दानी नरराज कर्ण हैं॥"

× × ×

"स्वयं विधाता इनके ललाट की,
अदृष्ट-लेखा यदि मेटने लगे।
कभी न होंगे मन में हताश ये,
समर्थ जो हैं पुरुपार्थ-शक्ति से॥"

—अंगराज

२४—जिसके काम में शीत, उष्ण, भय, प्रेम, धन तथा दारिद्र्य बाधक नहीं होते वही पण्डित कहलाता है, ऐसा विदुर का मत है—

"यस्य कृत्य न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भय रति।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते॥"—महाभारत।

उद्योगी पुरुष ऋतु, साधन-असाधन की अपेक्षा नहीं करता। आलसी ही धूप, ठंडक, बरसात और आर्थिक स्थिति से प्रभावित

होता है। उद्योगी का प्रत्येक पल शुभ मुहूर्त्त होता है। उसके लिये कुछ भी भार-स्वरूप नहीं होता क्योंकि वह समर्थ होता है। व्यवसायी के लिये कोई स्थान दूर नहीं होता; विद्वान् को कोई स्थान पराया नहीं होता क्योंकि वह जहाँ जाता है वहीं विद्वत्ता से सबको अपना बना लेता है; प्रियवक्ता को कोई पराया नहीं होता क्योंकि उसकी वाणी में वशीकरण होता है—

"कोऽतिभारः समर्थाना, किं दूर व्यवसायिनाम्
को विदेशः सुविद्याना, क पर प्रियवादिनाम् ॥"—पञ्चतन्त्र।

यदि आप ऐसे नहीं हैं तो निरुद्योगी और खिन्न एवं हताश होंगे।

२५—यदि कामों को करने में आप अपने को असमथ पाते हैं तो यह काम की कठिनाई का नहीं, बल्कि आपकी अयोग्यता, अशक्ता और आत्म-हीनता का विज्ञापक है। कठिनाई का अनुभव बल, उत्साह की कमी और आलस्य से होता है। कार्लाइल के मत से अकर्मण्यता में अनन्त निराशा ही मिलती है—"In idleness there is perpetual despair." उद्योगी व्यक्ति के सामने साध्य-असाध्य का प्रश्न नहीं उठता; उसके लिये तो सभी-कुछ साध्य होता है—

"उद्युक्ताना मनुष्याणा गम्यागम्य न विद्यते।"—मारकण्डेय पुराण।

यदि आप मनस्वी होंगे तो कार्य की महत्ता को पहले देखेंगे और कठिनाइयों की परवाह न करके उसको सफल करने में तत्पर हो जायंगे। मनस्वी कार्यार्थी सुख-दुःख की परवाह नहीं करते—

"मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःख न च सुखं।"—भर्तृहरि।

२६—यदि आपने अपने घर को अपना बन्धनागार बना

लिया तो आप बाहरी जगत् के लिये अनुपयुक्त होंगे । गृह-मोही कभी उन्नति नहीं करता । वह चिरमोही (गधा) होकर घर की माया में बँधकर घर के आँगन में ही नाचता रहता है और उसके लिये 'ज्यों तेली के बैल को घर ही कोस पचास' की उक्ति घटित होती है । वह स्त्री-बच्चों का मुँह देखता हुआ पड़ा रहता है और कुछ दिनों में उसी का लटका हुआ मुँह देखने के योग्य हो जाता है । निर्धन होने पर उसके स्त्री-बच्चे भी उससे विरक्त हो जाते हैं । विना बाहर गये मनुष्य यथाजात (अर्थात् जैसा पैदा होता है वैसा ही मूर्ख) बना रहता है ।

इस सम्बन्ध में हमें अंग्रेजों या मारवाड़ियों का आदर्श सामने रखना चाहिये । 'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाये कवि' की तरह 'जहाँ न जाय गाड़ी, तहाँ जाय मारवाड़ी' की उक्ति कही जा सकती है । मारवाड़ी भी स्वदेश, स्वजाति, स्वकुल का अनन्य प्रेमी होता है, परन्तु वह बैठा नहीं रहता । व्यापार के लिये निकलने पर उसको गृह-मोह नहीं सताता । देश-देशान्तरों में जाकर वह धन-संग्रह करता है और उससे अपने घर की समृद्धि बढाता है । वह सब बातों में दूरदर्शी होता है—दूर के व्यापार-योग्य स्थानों को देखता है, आगे आनेवाले अवसर को पहले ही देख लेता है; किस काम में आगे चलकर लाभ होगा, इसको पहचान लेता है और लक्ष्मी कितनी दूर पर खड़ी है, इसको समझकर ठीक मार्ग पर चलता है ।

२७—यदि आप घर को एक जंजाल मानते हैं तो यह आपकी भूल है । उसी के नियंत्रण से आपकी स्वभावज उच्छृंखलता और पशुता दबी रहती है । वह न होता तो आप अनाथालय में पैदा हुए होते या पले होते । घर कितना भी बुरा हो, वह एक स्थान होता है जहाँ मनुष्य अन्तिम आश्रय लेता है । डॉक्टर जॉनसन

ने सत्य ही लिखा है कि घर में सुखी होना ही हमारी प्रत्येक आकांक्षा का अन्तिम ध्येय होता है—

"To be happy at home is the ultimate result of all ambitions." —Johnson.

यदि घर में आपकी डोरी कोई ठीक से पकड़े रहे, तो आप पतंग की तरह चाहे जहाँ उड़ सकते हैं। डोरी टूटने पर कहीं-न-कहीं गिर जायँगे या अटक जायँगे।

२८—यदि आपकी किसी बात के लोग अनेक अर्थ लगाएँ तो उसका मतलब यह नहीं होगा कि आप असाधारण वक्ता हैं। निश्चय ही, आपकी बातें भ्रम-पूर्ण होंगी, आप स्पष्टवक्ता न होंगे, आपके विचार अनिश्चित होंगे अथवा आप छलवश 'किन्तु' 'परन्तु' के साथ बोलते होंगे। यह भी सम्भव है कि आप मनोभावों को व्यक्त करने की कला न जानते हों।

२९—अँग्रेजी के एक विद्वान् का कथन है कि अधिकांश लोग जब आप से राय लेने आते हैं तो वास्तव में, वे अपने पूर्व निश्चित विचारों के सम्बन्ध में आपकी सहमति लेने आते हैं। इससे उनका कोई लाभ नहीं होता। उनका समर्थन कीजिये तो वे आपकी सम्मति को महामान्य मानेंगे, उनके मत की सत्य आलोचना कीजिये तो वे आपकी बात को व्यर्थ समझेंगे। चतुर व्यक्ति नये विचारों का सदैव स्वागत करता है और लोगों की स्पष्ट सम्मति लेकर अपनी अपूर्णता को पूर्ण करता है।

३०—आपकी बातें सुनते-सुनते यदि श्रोता ऊँघने लगे या अन्यमनस्क हो जाय तो इसका यह अर्थ है कि आप निरर्थक प्रलाप करते हैं, बहुवादी हैं, एक ही बात की पुनरावृत्ति करते हैं या आपकी बातचीत की शैली प्रभावोत्पादक नहीं है अथवा श्रोता की दृष्टि में आप स्वयं प्रभावशाली नहीं हैं। यह भी हो

सकता है कि आप आत्म-प्रशंसा या पर-निन्दा करते हों, जो दूसरे को प्रिय न लगती हो।

३१—खण्डन-मण्डन करने वाला सरस वक्ता नहीं होता। सदा हाँ-में-हाँ मिलाने वाला विचार-हीन होता है। बाल की खाल खींचने वाला संकीर्ण विचारों का माना जाता है और ईंट का जवाब पत्थर से देने वाला उद्दण्ड।

३२—यदि आप लोगों के बीच में झेंपते हैं तो सम्भवतः अत्यधिक एकान्तसेवी, संकोची, अनात्मविश्वासी या मानसिक क्लीव अथवा बहुत दबे हुए व्यक्ति होंगे। आडम्बरी लोग भी झेंपते या भड़कते हैं क्योंकि बहुत बनठनकर निकलने पर भी उनको यह भ्रम बना ही रहता है कि अभी उनका शृंगार अपूर्ण है।

३३—यदि सभा-समाज में आप सबके सामने निर्भय होकर नहीं बैठ सकते तो आप में कोई स्वाभाविक, चारित्रिक या सामाजिक दुर्बलता होगी। सम्भव है, आपकी आर्थिक स्थिति ऐसी हो कि आप दूसरों से अपने को छोटा मानते हों। हो सकता है कि आप स्वभाव से ही उदासीन हों, मलिन या एकान्त-प्रेमी हों। सम्भव है आप षड्यन्त्री हों। यह भी हो सकता है कि आपकी शिक्षा ऐसी हुई हो कि आप दूसरों के पिछलगुए ही बने रहें।

कुछ भी हो, यदि आप यथायोग्य स्थान के अधिकारी बनने का प्रयत्न नहीं करते तो उससे आपकी भीरुता और अयोग्यता प्रकट होती है। उन्नतिशील व्यक्ति अपने को आकर्षण का केन्द्र बनाने का प्रयत्न करता है तथा अवनतिशील व्यक्ति अपने को छिपाने का। प्रेसिडेन्ट रूज़वेल्ट का लड़का अपने पिता की मनोवृत्ति को देखकर उनके विषय में कहता था कि जब वह किसी के विवाहोत्सव में जाते थे

तो उनकी आकांक्षा यह रहती थी कि वे ही वर होते तो कितना अच्छा होता; किसी की शव-यात्रा में सम्मिलित होने पर वे ही शव होते तो कितना आनन्द आता क्योंकि तब सब की दृष्टि उन्हीं पर लगी होती। समाज के सामने अपने को इस तरह खोलने की इच्छा उसी में उठेगी जो उन्नतिकाम हो और जिसका सामाजिक आदर्श ऊँचा हो। ऐसा व्यक्ति विश्वास रखता है कि चाहे हजार आँखें उसकी ओर देखें, उसका रूप कलंक-हीन लगेगा। जिसके हृदय में भय का दुर्विचार रहता है वही अपराधी बनकर कोने मे बैठता है।

३४—जिसमें आत्म-सम्मान नहीं होता, वही सबके सामने हाथ जोड़े खड़ा रहता है। स्वावलम्बी पुरुष स्वात्माभिमानी होता है। अकर्मण्य, आलसी, कापुरुष और अपराधी लोग ही बात-बात में द्रवित होते हैं। यदि आत्म-प्रभाव द्वारा आप अपनी टोपी या पगड़ी की मर्यादा नहीं बचा सकते तो अच्छा होगा कि उसके स्थान पर किसी का जूता धारण करें।

३५—नतमस्तक होना या कमर झुकाकर चलना निश्चय ही अशक्तता का लक्षण है। प्रमाण प्रत्यक्ष है—वृद्धावस्था में मनुष्य ज्यों-ज्यों आशक्त होता है त्यों-त्यों उसकी कमर झुकती जाती है और गर्दन भी। मेरुदण्ड को उन्नत और भालखण्ड को उच्च रखने से पुरुषार्थ प्रकट होता है। आत्म-संयमी, मनस्वी एवं शक्तिशाली ही अपने शरीर को दण्डवत् खड़ा रख सकता है; अपराधी, भीरु एव कापुरुष अकारण दण्डवत् करने का या पैर पड़ने का आदती हो जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि शरीर चाहे छोटा हो या बड़ा, वह जब सीधा उठा रहता है तभी मनुष्य का व्यक्तित्त्व प्रभावशाली होता है। उसी समय ज्ञात होता है कि उस मनुष्य के उन्नत शरीर के रूप में उसकी

मनुष्यता या आत्म-शक्ति का मानदण्ड सामने है। अपने ही छन्दोबद्ध शब्दों में हम इसी को अधिक आकर्षक ढंग से यों कहते हैं—

"उठा हुआ काञ्चन-शैल-शृंग-सा,
शरीर था शोभित अंगराज का।
प्रमाण था आत्म-विकास का यथा;
मनुष्यता-मापक मानदण्ड था।"—अंगराज।

२६—यदि आपको मित्रता निभाने में सदैव कठिनाई जान पड़े तो प्रथम अपने स्वभाव को दोष दीजिये। सम्भवतः आप स्वार्थ-वश किसी से मित्रता स्थापित करते होंगे और स्वार्थ भग्न होने पर आपकी मित्रता भी खण्डित हो जाती होगी। हो सकता है कि आपके स्वभाव में अहंकार, कृतघ्नता, दुर्विनीतता और दम्भ हों जिनके कारण जल्दी-जल्दी आपको मित्र-संकट भोगना पड़ता हो। यह भी सम्भव है कि आप विना सोचे-विचारे किसी को भी सामने पाकर उसको अपना मित्र वना लेते हों। और बाद में धोखा खाकर चेतते हों। कुछ भी हो, इतना मानना चाहिये कि मित्रता बार-बार बदलने की वस्तु नहीं है। उसको निभाने ही से अपना गौरव बढ़ता है और अपनी शक्ति-प्रतिष्ठा स्थिर होती है। यदि आपका स्वभाव निर्दोष है तो ऐसे ही व्यक्ति को मित्र बनाइये जो सुख में साझीदार होने का दुष्प्रयत्न न करे और विपत्ति में पूरा साथ दे। स्वयं भी इसी आदर्श का पालन कीजिये और सयत्न मित्रता की रक्षा कीजिये क्योंकि 'सर्वथा सुकरं मित्रं, दुष्करं प्रतिपालनम्।'—इस सम्बन्ध में इस उक्ति को याद रखिये—

"सज्जन ऐसा कीजिये, ढाल सरीखा होय।
सुख मे तो पीछे रहे, दुख में आगे होय॥"

३७—यदि आपके कुछ मित्र ऐसे हैं जिनसे आप लुक-छिपकर ही मिलते हैं तो आपका जीवन भेदपूर्ण होगा। आप कुचक्री हो सकते हैं, आपकी लीलाये विचित्र हो मकती हैं। एक अँग्रेजी कहावत है कि मनुष्य अपनी उस संगति के कारण पहचाना जाता है जिसको कि वह समझता है कि कोई जानता नहीं—

"A man is known by the company he thinks nobody knows he is keeping."

३८—यदि किसी मनोरंजक कला से आपको स्वाभाविक अनुराग नहीं है तो आप महाशुष्क होंगे और अविश्वास के पात्र भी। आपके स्वभाव में कठोरता, जड़ता, निराशा, मलिनता होगी और विचारों में सकीर्णता। भर्तृहरि ने कुछ सोच-समझकर ही कहा था कि साहित्य-संगीत-कला से हीन मनुष्य विना॰ सींग-पूँछ का पशु होता है—

"साहित्य-सगीत-कला-विहीनः,
साक्षात पशु पुच्छ-विपाणहीन ।"

३९—ईश्वर-वन्दना के बाद समाचार-पत्र पढ़ना ही आज-कल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम है। यदि आप उनको नहीं पढ़ते तो समय से पीछे रहेंगे। यदि उनमें बेसिर-पैर की बाते ही पढते हैं तो अपनी ज्ञान-हत्या करते हैं। समाचार-पत्रों से देश-समाज और मानव-विचारों की प्रगति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

४०—यदि आप अत्याचारी के सामने झुक जाते हैं तो आप कापुरुष, निर्वीर्य होंगे। यदि अपने समक्ष झुकने वाले के सामने शेर बन जाते हैं तो आप हृदय से शृगाल होंगे। झरबेरी के जंगल में शेर बन जाने से बिल्ली शेर थोड़ी बन जाती है। सौजन्य और बड़प्पन इसमें होता है कि जो आपका सम्मान

करता है उसका आप भी सम्मान करें। शेखसादी का उपदेश है कि जो तुम्हारे सामने झुकता है, उसके सामने तुम और भी झुक जाओ। निर्बल पर क्रूरता करके आप उसको किसी समय जीवन से हताश बना देंगे और इसको स्मरण रखिये कि जीवन से हताश व्यक्ति का आक्रमण बड़ा भयंकर होता है। तुलसीदास की इन पंक्तियों को इस सम्बन्ध में याद रखिये—

"अति सघर्षण करै जो कोई।
अनल प्रकट चन्दन ते होई॥"—मानस।

४१—सुप्रसिद्ध विद्वान् गेटे ने लिखा है कि मनुष्य अपने स्वभाव या चरित्र का ऐसा स्पष्ट विज्ञापन और किसी क्रिया से नहीं करता जैसा कि किसी वस्तु-विशेष की ओर देखकर हँसने से—

"By nothing do men show their character moie than by the things they laugh at."

कैसे अवसर पर मनुष्य को हँसी आती है और कैसे आती है—इसी से उसके स्वभाव का पता चलता है। सभ्य व्यक्ति हास्य-विनोद में भी सभ्य रहता है। निर्लज्ज व्यक्ति दूसरों का उपहास करता है, दूसरों की त्रुटियों पर क्रूरता की हँसी हँसता है। गम्भीर, अस्वस्थ, चिन्तित या मलिन स्वभाव के व्यक्ति कम हँसते हैं। असभ्य, अकर्मण्य, निश्चिन्त, चंचल और विनोदी स्वभाव के लोग अट्टहास करते हैं। शीलवान और सुकुमार स्वभाव के व्यक्ति मुस्कान-प्रेमी होते हैं। धूर्त्त और चाटुकार केवल कंठ से हँसते हैं तथा सहृदय और निर्भीक व्यक्ति हृदय के भी नीचे नाभि से। बड़ों के साथ खिलखिलाना अनाधिकार चेष्टा है; नौकरों या हीन व्यक्तियों के साथ हास्य-व्यंग्य करने से प्रभुत्व घटता है। लक्ष्मण ने शूर्पणखा से व्यंग्य

किया था तो राम ने उनको यही उपदेश दिया था कि दुष्ट-बुद्धि और निम्नकोटि के मनुष्यों के साथ परिहास न करना चाहिये—

क्रूरैरनार्यैं, सौमित्रो, परिहास कथचन ।"—रामायण ।

४२—यदि स्थानीय समारोहों में आप अप्रयास आमंत्रित होते हैं तो हम मानेंगे कि समाज में आपका एक स्थान है। आमंत्रित होकर जाने पर यदि आपका यथोचित सत्कार न हो तो हम समझेंगे कि आप केवल पड़ोसी होने के नाते या समारोह की जनसंख्या बढाने के लिए ही बुलाये गये थे। यदि कहीं जाकर आप स्वयं अपने को धन्य मानते हैं तो समझ लीजिए कि आप अभी सम्मान के योग्य नहीं हैं। यदि दूसरे लोग आपके दर्शनों से अपना अहोभाग्य समझें तो प्रथम तो उनकी सज्जनता को श्रेय दीजिये, तदुपरान्त सन्तोष कीजिये कि आप नगण्य नहीं हैं।

४३—अनुभवी डॉक्टरों का कहना है कि तीन बीमारों के पीछे एक ऐसा बीमार होता है जिसको वास्तव में कोई बीमारी नहीं होती। अतएव कल्पित बीमारी से पीड़ित होकर निरुत्साह न बनिये। ठीक-ठीक देख लीजिये कि आपका मन बहाना करके सुस्ताना तो नहीं चाहता।

४४—यदि आपके कान में कोई बात पहुँचते ही नगर भर में फैल जाती है तो आप बड़े भयंकर जीव होंगे। कोई आपका विश्वास न करता होगा। मंत्र को गुप्त रखने से मनुष्य का बड़प्पन प्रकट होता है। बहुत-से लोग बड़ी-से-बड़ी बात को पचा लेते हैं; वे महापुरुष होते हैं। हलके लोग छोटी बातें पाकर भी चिनगारी से पेट्रोल के पीपे की तरह जलने लगते हैं।

४५—यदि आप बच्चों के बाप बने रहना चाहते हैं तो उनके अध्यापक न बनिये। अध्यापक बनते ही आप उनके प्रेम

से वंचित हो जायँगे और आपकी पदवी आप से छिन जायगी।

४६—यदि आप अपनी स्त्री के स्वामी हैं तो सुखी होंगे, सखा होंगे तो सखी जैसे बनकर रहते होंगे क्योंकि स्त्रियों के सखा नहीं होते। दास होंगे तो मर्द नहीं बल्कि लतमर्द होंगे।

४७—यदि आप किसी चंचला के कथित पति हैं तो आपके हृदय-आकाश में दुःख के धाराधर दिन-रात उमड़े रहते होंगे। यदि आप चण्डेश हैं तो चण्डेश (शिव) की तरह दिन में कई बार हलाहल घूँटते होंगे। भगवान् आपको शान्ति दें। शान्ति-याचना के पूर्व न्यायपूर्वक एक बात को देख लीजिये कहीं आप ही ने तो अपनी नारी-उपासना से अपनी पत्नी को स्वेच्छा-चारिणी और अभिमानिनी नहीं बना दिया है। यह भी देख लीजिये कि कहीं आपका पुरुषत्व तो नहीं खण्डित है। इसका भी पता लगा लीजिए कि आपकी स्त्री पहले सुशीला होकर आपके साथ विवाहित होने पर तो दुःशीला नहीं होगई। यदि आप निर्दोष हैं तो किसी दुष्टा के कारण अपने जीवन को नष्ट न कीजिए।

४८—यदि आपके घर में पधारते ही आतंक का राज्य स्थापित होजाय तो आप से बड़ा अभागा कौन होगा? आप अवश्य कायर होंगे और बाहर का क्रोध आकर घर में अपने आश्रितों पर उतारते होंगे। 'ठोकर लगी पहाड़ की फोड़े घर की सिल' की उक्ति आप ही के किसी पूर्वज के लिये लिखी गई होगी।

४९—शत्रु-नाश के निमित्त देवोपासना निष्फल होती है। साधु-महात्मा की तरह विश्वात्मा भी किसी अपकर्म में सहायक नहीं होता। अच्छा हो, यदि उतने समय में आप डंड-बैठक करें, जिससे आपके सुदृढ़ शरीर को देखकर आपके शत्रु आपसे

भयभीत हों। प्रार्थना में बड़ा बल होता है, परन्तु तभी जब उसके साथ सद्भावना हो।

५०—यदि आप स्वयं ही अपने आदर्श हैं तो बहुत उन्नति न कर सकेंगे। अपने ही पैरों की ओर देखने वाला व्यक्ति आगे का मार्ग कैसे देखेगा?

५१—अनधिकारी होते हुए भी कोई उच्च पद पाकर यदि आप पद का मद प्रदर्शित करते हैं तो आपकी दशा उस बौने जैसी होगी जो पहाड़ की चोटी पर खड़ा होकर यह सोचता हो कि नीचेवाले उसको विशालकाय समझते होंगे। दुबला-पतला आदमी यदि हाथी पर बैठा दिया जाय तो क्या वह मोटा हो जायगा? अयोग्य होकर भी यदि आप किसी युक्ति से उच्च पदस्थ हो गये हैं तो आपको अभिमान न करना चाहिए। राज-महल के कँगूरे पर बैठने पर भी कौवा गरुड़ की पदवी नहीं पा सकता—

"प्रासादशिखरस्थोपि काको न गरुडायते।"

५२—एक अंग्रेजी कहावत है कि यदि कोई व्यक्ति इसकी चिन्ता न करे कि अमुक कार्य करने का श्रेय किसको मिलेगा तो वह प्रत्येक कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है। बहुत-से कार्य इसलिए बिगड़ते हैं कि इनमें से प्रत्येक यह चाहता है कि सारा श्रेय उसी को मिले, इसलिए सब एक-दूसरे के साथ पूर्ण सहयोग नहीं करते। यदि आप सफलता चाहते हैं तो श्रेय के शेयर (हिस्से) औरों को बाँटिये जिससे वे भी उस काम में हाथ बँटायें।

५३—यदि आप शीघ्र रीझने वाले होंगे तो आपको बहुत-से वादे भी करने पड़ते होंगे और आप उनको पूरे भी न कर पाते

होंगे। एक बात और याद रखिये—शीघ्र वरदानी को कोई-न-कोई शीघ्रकोपी उसी प्रकार मिल जाता है जैसे शिव को भस्मासुर मिल गया था।

५४—स्वप्न में भी यदि आप भयानक दृश्य देखते हैं तो उससे अपनी मानसिक भीरुता का अनुमान कीजिए। यदि आप सुन्दरी स्त्रियों को देखते हैं तो अपनी अतृप्त प्रेम-वासना की ओर ध्यान दीजिये। यदि स्वप्न में प्रीतिभोज ही दिखलाई पड़ें तो समझिये कि आपको तृप्तिदायक भोजन नहीं मिल रहा है। बे-सिर-पैर के स्वप्न दिखाई पड़ें तो अपनी पाचन-शक्ति और चित्त की अस्तव्यस्तता को सुधारिये। प्रत्येक दशा में मन के बोझ को उतारिये। प्रगाढ़ निद्रा में स्वप्न घातक होते हैं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक पहले स्वप्न-विज्ञान पर विश्वास नहीं करते थे। अब वे बड़े-बड़े ग्रंथ लिखकर यह प्रमाणित करते हैं कि स्वप्नों से आपकी पूरी मनोदशा पढ़ी जा सकती है क्योंकि स्वप्नावस्था में चतुर चेतन मन प्रसुप्त रहता है अतएव भीतर की वृत्तियाँ बुद्धि-कौशल से छिपाई नहीं जा सकतीं। वे स्वप्न-मंच पर खुलकर क्रीड़ा करने लगती हैं।

५५—दंभी और मूर्ख लोग चलते समय पैर पटकते हैं। सुशील व्यक्ति मृदुगति से चलता है। सामुद्रिक मत से पैर पटक-कर चलना दुर्भाग्य-सूचक होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि चोरों की तरह दबे पाँव चलने से आप सौभाग्यशाली माने जायँगे। अभिप्राय यह है कि न राक्षस-गति से चलिये, न चोर-गति से, बल्कि मनुष्य की तरह संतुलित गति से चलिये।

५६—यदि आप व्यवसायी हैं और बहुत-से ग्राहकों के साथ व्यवहार करते हैं तो आपके लिये विनम्र, सुशील और मृदुभाषी होना आवश्यक है। आप गम्भीर या अहंकारी बनकर बैठेंगे तो

ग्राहक खो देंगे। एक अनुभवी व्यक्ति ने कहा कि जो हँसमुख न हो, उसे दूकानदारी का काम न करना चाहिये। ग्राहक आपके माल पर उतना ही रीझते हैं जितना आपके शिष्ट व्यवहार पर। वे आपकी वस्तु का ही नहीं, बल्कि आपकी सरलता और सज्जनता का भी मूल्य देना चाहते हैं। बड़ी कम्पनियों के विक्रय-विभाग में आजकल लड़कियाँ विक्रयिका बनाकर नियुक्त की जाती हैं। इसका रहस्य यही है कि वे अपनी स्वभाव-सुलभ कोमलता से ग्राहक को आकर्षित कर लेती हैं।

५७—एक विलायती समाज-शास्त्री ने गृह-कलह-निवारणार्थ कुछ नियम प्रकाशित किये हैं। उनमें एक यह है कि प्रतिमास अपनी स्त्री-बच्चों को कुछ पैसे जेब-खर्च के तौर पर दे देने चाहिएँ, जिसे वे अपना समझकर खर्च करने या बचाने के लिए स्वतत्र हों। इससे उनके मन में यह बात नहीं जमने पाती कि वे एक-एक पैसे के लिये आप पर अवलम्बित हैं। ऐसा न करने से उनके मन में आपके प्रति ईर्ष्या-द्वेष की भावनाएँ उठ सकती हैं।

५८—यदि आप किसी औपधि या चूर्ण का सेवन नियमित रूप से करते हैं तो आप शरीर से अस्वस्थ या स्वभाव से व्यसनी होंगे। औषधियाँ जब दैनिक आहार बन जाती हैं तो शरीर की स्वाभाविक क्रिया मन्द पड़ जाती है। स्वाभाविक आहार अन्न ही है।

५९—किसी कार्य में विफल होकर हताश हो जाना कापुरुषता है। गिरने में हानि नहीं है, गिरकर पड़े रहने में हानि होती है। निरुद्योगी व्यक्ति एक बार गिरकर वहीं कराहता पड़ा रहता है; शूरवीरों के तो कबन्ध भी खड़े होकर लड़ते हैं।

६०—यदि कभी-कभी आपके मन में आत्म-घात के विचार उठते हैं तो सत्य मानिये, आपकी आत्मा अपराधी है, आप

अकर्मण्य, स्वार्थी, साहसहीन, क्रूरबुद्धि हैं। आपको अवसर मिले तो आप किसी की हत्या करके अपने स्वार्थ की सिद्धि कर लेंगे। ऐसा अवसर नहीं मिलता, इसलिये आप अपनी हत्या करके अपनी हत्या-प्रवृत्ति को शान्त करना चाहते हैं। आपका गृह-जीवन विफल होगा। शारीरिक व्यथा कितनी भी भयंकर हो, उसके कारण आत्म-घात का विचार नहीं उठता। केवल मानसिक पीड़ा, ग्लानि लज्जा, भीरुता, असहन-शीलता, असमर्थता और क्रोधाधिक्य में आत्मनाशी विचार उठते हैं। अतएव अपनी मनोव्याधियों का उपचार कीजिये। उपचार यही है कि आशा को बलवती बनाकर किसी काम में लग जाइये।

६१—कभी-कभी ऐसा होता है कि छोटे-छोटे कार्यों में हमें निरन्तर सफलता मिलती जाती हैं और जहाँ सफलता की आशा नहीं रहती वहाँ भी सफलता मिल जाती है। उस समय यह मानना चाहिए कि समय अपने अनुकूल है, अपना भाग्योदय हो रहा है। उस समय कोई भी महत्वपूर्ण कार्य करने से सफलता मिलने की अधिक आशा होगी। इसीलिए तत्वज्ञों ने कहा है कि जब समय मुस्कराता हुआ मिले तो उससे अधिकाधिक लाभ ले लेना चाहिए। दैष्टिक विधान (भाग्य-विधान या पूर्वनिश्चित् कर्म) में कोई विश्वास करे या न करे, इतना मानना पड़ेगा कि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ चुपचाप भी आकर हमारी जीवन-दशा पर प्रभाव डालती हैं। वायु-मंडल में असंख्य तरंगें हैं जो हमारे शरीर को ही नहीं, जीवन को स्पर्श करके उसकी गति में साधक या बाधक बन जाती हैं।

६२—यदि आप अत्यधिक आशावादी हैं तो कल्पनाजीवी होंगे और परिणामतः निराशा के बहुत-से झोंके निरन्तर सहते

होंग, क्योंकि कल्पना-जगत् के निर्मित और अतिरंजित सुख प्रत्यक्ष जगत् में नहीं मिलते। 'मति अति रंक मनोरथ राऊ' की मनोवृत्ति वाले ही उग्र आशावादी होते हैं। वे मनमोदक खाते हैं, आकाश-गंगा में नहाते हैं, मृग-मरीचिका का जल पीते हैं और आकाश-कुसुम लेकर पश्चिम दिशा में सूर्य भगवान् का आह्वान करते हैं। ऐसे लोगों के चरण प्रायः ग़लत रास्ते पर पड़ते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि कहीं और तैरती रहती है। निराशावादी कर्म को अधर्म समझता है, कल्पित भय से पीड़ित और संदेह-ग्रस्त रहता है। वह सर्वथा विश्वासशून्य होता है।

६३—वर्तमान काल में रहने पर न तो अधिक प्राचीन और न अधिक अर्वाचीन होना चाहिये। समय के साथ चलना चाहिये। देश-काल सभी परिवर्तनशील हैं और परिवर्तन संसार का निश्चित धर्म है। अतएव सामयिक रीति-नीति का अनुकरण करना चाहिये। शेख़सादी की यह बात एक अंश तक मान्य है कि जब तू कानों के देश में पहुँचे तो तू भी अपनी एक आँख बन्द करले। इसका अर्थ यह नहीं है कि विलायत जाने पर अपनी जातीयता और सभ्यता का परित्याग कर देना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि व्यावहारिक जगत् में 'कालानुवर्त्ती भव।' इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि प्राचीनता और आधुनिकता का विषम सम्मिश्रण न हो। यदि आप हवन करते हैं तो घी से कीजिये वनस्पति घी से नहीं, मन्दिर में जाते हैं तो शंख बजाइये मोटर का 'हार्न' नहीं, दफ्तर जाते हैं तो जूते पहनकर जाइये, खड़ाऊँ नहीं।

६४—व्यक्तिगत चरित्र का प्रभाव जीवन के प्रत्येक कार्य पर पड़ता है। चरित्र तो व्यक्ति के साथ लगा ही रहता है। एक अंग्रेज़ी विचारक के अनुसार जो व्यक्ति निजी जीवन में दुर्जन

रहता है वह सामाजिक जीवन में सज्जन नहीं हो सकता क्योंकि स्थान-परिवर्तन होने पर भी व्यक्ति तो वही रहता है—

"He who acts wickedly in private life can never be expected to show himself noble in public conduct...for it is not the man, but only the place that is changed."

निवेदन

अपने गुणों-अवगुणों को इन उत्तरों से नापिये और देखिये कि आप कहाँ छोटे पड़ते हैं। इनके आधार पर आप दूसरों को भी देखिये। परन्तु सर्वप्रथम आत्म निरूपण कर लीजिये। आत्म-वंचना से आप स्वयं धोखे में रहेंगे। यदि आप स्वयं अपने को सुधारे बिना यह चाहें कि समाज आपके बनावटी रूप को असली मान ले तो यह आपका आत्म-विभ्रम है। समाज के सूक्ष्म-दर्शक यंत्र के आगे मानव-चरित्र की छोटी-छोटी बातें भी स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। आप मुँह में ताला लगाकर बैठें, तो आपके व्यवहार-कर्म आपकी आत्म-कहानी सबको सुनाने लगते हैं—'करतूती कहि देत आप कहिये नहिं सांई।'

मंगल-सूत्र

(१)

असतो मा सद्गमय।—असत् से हमें सत् की ओर ले चलो॥
तमसो मा ज्योतिर्गमय।—अंधकार से हमें प्रकाश में ले चलो॥
मृत्योर्मा अमृतं गमय।—मृत्यु से हमें अमरता की ओर ले चलो॥

—बृहदारण्यक उपनिषद्

(२)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति॥ —ऋग्वेद।

भावार्थ—"तुम्हारा अभिप्राय एक समान हो, तुम्हारे अंतःकरण एक समान हों, और तुम्हारा मन एक समान हो, जिससे तुम्हारा सुसाह्य होगा, अर्थात् संघशक्ति की दृढ़ता होगी।"

(३)

'सत्यं हि परमं बलं'—सत्य ही परम बल है। भीष्म ने युधिष्ठिर को अपनी मृत्यु के पूर्व यह उपदेश दिया था।

(४)

'मनस्ते महदस्तु च'—तू सदैव अपने मन को महान् बनाये रख। युधिष्ठिर के लिये कुन्ती का यही अन्तिम उपदेश था।

(५)

'जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम्'—चाहे हमारे प्राण भले ही जायँ, पर अपनी कीर्ति की रक्षा करना मेरा व्रत है। सूर्य ने जब महारथी कर्ण से कहा कि तू अपने कवच-कुण्डल इन्द्र को दान में न देना नहीं तो आयुर्बल क्षीण हो जायगा, और जीवन ही नष्ट हो जायगा तो मरने पर तेरी कीर्ति किस काम आयेगी—'मृतस्य कीर्त्या किं कार्यम्'—तब कर्ण ने उपर्युक्त उत्तर दिया था।

(६)

उच्छ्र्यस्व महते सौभगाय—(ऋग्वेद)—महान् सौभाग्य की प्राप्ति के लिए उन्नतिशील बनो।

(७)

नमृत्येवेऽवतस्थे कदाचन—(ऋग्वेद)—मैं मरने के लिये कदापि नहीं पैदा हुआ हूँ।

(८)

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥—ऋग्वेद

हे देवगण! हम अपने कानों से कल्याणकर वचन सुनें, हम नेत्रों से मंगलमय वस्तुएं देखें, हम शरीर से दृढ़ और ससत्त्व होकर तुम्हारी स्तुति करके ईश्वर द्वारा निर्धारित आयु को भोगें।

(९)

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—(पतंजलि)—चित्त की वृत्तियों को वश में रखना ही योग है।

(१०)

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत्। —महाभारत

दुःख को दूर करने की एक ही अमोघ औषधि है—मन से दुःखों की चिन्ता न करना।

(११)

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥—गीता

मनुष्य को उचित है कि वह स्वयं ही आत्मोद्धार करे और अपनी अवनति अपने-आप न करे। मनुष्य अपना मित्र या शत्रु स्वयं ही होता है।

उद्योग करते रहो

(१)

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः। चरैवेति, चरैवेति ॥

भावार्थ—जो मनुष्य बैठा रहता है, उसका सौभाग्य भी बैठा रहता है। जो उठकर खड़ा हो जाता है, उसका सौभाग्य भी खड़ा हो जाता है। जो स्वयं शिथिल रहता है, उसका सौभाग्य भी सोता रहता है। जो उठकर चल पड़ता है, उसका सौभाग्य भी सक्रिय हो जाता है—इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

(२)

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदम्बरम्।
सूर्यस्य पश्यश्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्। चरैवेति, चरैवेति ॥

भावार्थ—जो मनुष्य गतिवान् रहता है, वही मधु पाता है, वही स्वादिष्ट फल खाता है। परिश्रमी सूर्य को देखो जो कभी आलस्य नहीं करता। अतएव चलते रहो, चलते रहो।

(३)

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्। चरैवेति, चरैवेति ॥
—ऐतरेय ब्राह्मणः

भावार्थ—पड़े सोते रहना कलियुग है, ऊँघते रहना ही द्वापर है, उठ बैठना ही त्रेता है और चल पड़ना ही सतयुग है। अतः चलते रहो, चलते रहो।

(४)

उदीर्घ्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥
—ऋग्वेद

मनुष्यो! उठो, हमारे शरीरों को संचालित करनेवाला प्राण उदय होगया, अंधकार विनष्ट हो गया, प्रकाश आ गया है। उषा ने सूर्य की यात्रा का मार्ग बना दिया है। जिस देश में उषा अन्न देकर हमारी वृद्धि करती है, हम उसी ओर जायँ। अर्थात्, प्रभात होते ही कार्यक्षेत्र में प्रवेश करो।

(५)

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥—पंचतन्त्र

कार्य मनोरथ से नहीं, उद्यम से सिद्ध होते हैं। सोते हुए सिंह के मुँह में मृग अपने-आप नहीं चले जाते।

बुद्धि-बल

(१)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥—गीता

हे पार्थ! जिस बुद्धि से यह ज्ञान होता है कि किस कार्य

को करना चाहिये, और किस कार्य से अलग रहना चाहिये, कौन-सा काम करने के योग्य है और कौन-सा नहीं, कहाँ डरना चाहिये और कहाँ नहीं तथा किस बात से हम बँध जायँगे और किससे स्वतंत्र हो जायँगे, वह सात्विक बुद्धि है।—निश्चित निर्णय करने वाली सद्बुद्धि।

(२)

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥—गीता

धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य का ठीक-ठीक निरूपण जो बुद्धि न कर सके उसको राजसी कहते हैं—संदेह-ग्रस्त बुद्धि।

(३)

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥—गीता

जो बुद्धि धर्म को अधर्म मानकर सभी बातों में विपरीत निर्णय करती है उसको तामसी बुद्धि कहते हैं—दुर्बुद्धि।

(४)

मोक्षस्य न हि वासेऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥—शिव-गीता

मोक्ष किसी स्थान पर रक्खा हुआ नहीं मिलता और न उसको ढूँढ़ने के लिए किसी दूसरे गाँव को ही जाना पड़ता है। हृदय की अज्ञान-ग्रंथि का नष्ट होना ही मोक्ष कहा जाता है।

(५)

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता।
ईर्ष्यामानो विचित्कसा कृपा असूया जुगुप्सता।
द्वादशैते बुद्धिनाश हेतवो मानसामलाः ॥—कालिकापुराण

शोक, क्रोध, लोभ, काम, मोह, आलस्य, ईर्ष्या, मान, संदेह, पक्षपात, गुणवान् के प्रति दोषारोपण, निन्दा—यह बारह मानस-मल हैं जिनके कारण बुद्धि नष्ट होती है।

(६)

यः सततं परिपृच्छति शृणोति सन्धारयत्यहर्निशम्।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धिः ॥—पंचतन्त्र

जो सदा पूछता, सुनता, रातदिन धारण करता है, उसकी बुद्धि सूर्य की किरणों से कमलिनी के समान बढ़ती है।

(७)

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥—महाभारत

बुद्धि से कार्य करने वाले श्रेष्ठ होते हैं, बाहु से कर्म करने-वाले मध्यम श्रेणी के। जंघा पीड़ित करने वाले निकृष्ट होते हैं—वे केवल भार ढोते हैं।

(८)

बुद्धेर्बुद्धिमतांलोके नास्त्यगम्यंहि किंचन।
बुद्ध्या युतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणयः ॥—पंचतंत्र

बुद्धिमानों की बुद्धि के सम्मुख संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। बुद्धि से ही शस्त्रहीन चाणक्य ने सशस्त्र नन्द का नाश कर डाला।

(९)

दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां दूरे हिनस्ति स।—पंचतन्त्र

बुद्धिमान् की भुजायें बड़ी लम्बी होती हैं, जिनसे वह दूर से वार करता है!

(१०)

शस्त्रैर्हता नहि हता रिपवो भवन्ति,
प्रज्ञाहतास्तु रिपवः सुहता भवन्ति।
शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेव,
प्रज्ञा कुलञ्च, विभवञ्च, यशश्च हन्ति ॥—पंचतन्त्र

शस्त्र से शत्रु का पूर्ण विनाश नहीं होता। बुद्धि-द्वारा नष्ट किये हुए शत्रु का लोप ही हो जाता है। शस्त्र से पुरुष का शरीर ही नष्ट होता है; बुद्धि के प्रहार से तो वंश, वैभव, कीर्ति सभी विनष्ट हो जाते हैं।

वाणी और यश

(१)

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रासखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥
—ऋग्वेद

जिस प्रकार सूप से सत्तू निकाला जाता है, बुद्धिमान् लोग उसी प्रकार बुद्धि-बल द्वारा परिष्कृत भाषा को प्रकट करते हैं। उस समय उनको अपने अभ्युदय का ज्ञान रहता है। उनकी वाणी में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

(२)

सर्वे नन्दति यशसागते न सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥
—ऋग्वेद

यश मित्र का काम करता है, वह सभा-समाज में प्रधानता प्राप्त कराता है। इसको प्राप्त करके सभी प्रसन्न होते हैं क्योंकि

यश के द्वारा दुर्नाम दूर होता है, अन्न प्राप्त होता है, शक्ति मिलती है और सब तरह से लाभ होता है।

आत्म-शक्ति

(१)

शक्ति विना महेशानि ! सदाऽहं शवरूपकः।
शक्तियुक्तो यदा देवि शिवोऽहं सर्वकामदः ॥—पद्मपुराण

शिव कहते हैं—हे पार्वती ! शक्ति के विना हम भी शव के समान हैं। शक्ति-युक्त होने पर ही हम शिव और सभी कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ बनते हैं।

(२)

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्त्तारमिच्छन्ति, षण्ढं पतिमिव स्त्रियः।—पंचतन्त्र

जिसके प्रसन्न होने से किसी का लाभ नहीं होता और क्रुद्ध होने से किसी की हानि नहीं होती, ऐसे नपुंसक पति को स्त्रियाँ भी अपना स्वामी नहीं बनाना चाहतीं।

कर्म ही धर्म है

अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणः पापाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥—विष्णुपुराण

अपने (स्वधर्मोक्त) कर्मो को छोड़ (केवल) कृष्ण-कृष्ण कहते रहने वाले लोग हरि के द्वेषी और पापी हैं, क्योंकि स्वयं हरि का जन्म भी तो धर्म की रक्षा के लिये ही होता है।

—गीता-रहस्य

पाप-पुण्य

(१)

अष्टादशपुराणानां सारं सारं समुद्धृतम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

दूसरों के प्रति उपकार करना ही पुण्य और दूसरों को कष्ट देना ही पाप है; यही अठारह पुराणों का सार है।

(२)

न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्त्तते ॥—महाभारत

दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार न करे जो स्वयं अपने ही को प्रतिकूल जान पड़े। यही समस्त धर्मशास्त्र का सार है; अन्य व्यवहार तो स्वार्थ-वश होते हैं।

(३)

यदन्येषां हितं न स्यात आत्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथंचन ॥—महाभारत

अपने जिस कर्म से दूसरों का लाभ नहीं होता और जिसके करने में स्वयं अपने को लज्जा-संकोच मालूम होता है उसको कभी न करना चाहिये।

सत्पुरुष के लक्षण

(१)

यस्यप्रसादे पद्मास्ते , विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे, सर्वे तेजोमयो हि सः ॥—हितोपदेश

जिसकी प्रसन्नता से लक्ष्मी की वृद्धि होती है, जिसके पराक्रम का परिणाम विजय होता है, जिसके क्रोध में दूसरों के प्राण तक नष्ट करने के शक्ति होती है, वही महातेजस्वी होता है।

(२)

'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'

जो उदारचरित होते हैं, सारा संसार ही उनका कुटुम्ब होता है।

(३)

अधमा कलिमिच्छन्ति, सन्धिमिच्छन्ति मध्यमा।
उत्तमा मानमिच्छन्ति, मानो ही महतां धनम् ॥

—गरुड़ पुराण

नीच पुरुप सदा झगड़ा पसन्द करते हैं; मध्यम कोटि के मनुष्य किसी भी तरह से शान्ति के लिये लालायित रहते हैं, श्रेष्ठ पुरुप सम्मान-प्राप्ति की कामना करते हैं। आत्म-सम्मान ही महापुरुषों का धन होता है।

(४)

सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः।
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ॥ —रामायण

सीता ने राम के सम्बन्ध में हनूमान से कहा—राम सब के प्रिय, साधु, बलवान् आत्मावाले, तत्कालोचित कर्म में कुशल और नदियों से समुद्र की तरह सदा सज्जनों से घिरे रहते हैं।

(५)

कार्यसिद्धिर्मतिश्चैव तस्मिन् वानरपुङ्गवे।
व्यवसायश्च वीर्यश्च श्रुतं चाहि प्रतिष्ठितम् ॥—रामायण।

सुग्रीव ने हनूमान के सम्बन्ध में राम को बताया कि उसमें कार्य-सिद्धि की बुद्धि (उपायशक्ति) है, उद्योग, बल और पांडित्य सभी हैं।

(६)

पात्रे त्यागी, गुणेरागी, भोगी परिजनैः सह।
शास्त्रे बोद्धा, रणे योद्धा, पुरुषः पंचलक्षणः ॥

सुपात्र के प्रति दानी होना, गुणानुरागी होना, स्वजनों के

साथ सुख-दुख भोगना, शास्त्र का ज्ञानी होना, युद्ध में पराक्रमी होना—यही पाँच पुरुष होने के लक्षण हैं।

(७)

स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एकः सतां अग्रणीः।

—भर्तृहरि

जिसने परमार्थ को ही अपना स्वार्थ बना लिया है, वह सर्व-श्रेष्ठ सत्पुरुष है।

(८)

विपदि धैर्यमथाभ्युदयेक्षमा, सदसि वाक्पटुता युधिविक्रमः।

यशसिचाभिरतिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

—भर्तृहरि

विपत्ति में धैर्य रखना, ऐश्वर्यशाली होने पर भी क्षमावान् होना, सभा में वाक्पटुता दिखाना, युद्ध में पराक्रम दिखाना, कीर्ति-अर्जन में अनुराग रखना, विद्याव्यसनी होना—ये गुण महात्माओं में स्वभाव से ही होते हैं।

(९)

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रम विधिः।
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृते॥
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभि भवसाराः परकथाः।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥—भर्तृहरि

दान को गुप्त रखना, अपने घर आये हुये पुरुष का सत्कार करना, परोपकार करके मौन रहना, दूसरे के किए हुए उपकार को सभा में वर्णन करना, धन पाकर गर्व न करना और पराई चर्चा में उसके निरादर की बात बचाकर कहना, यह तलवार की धार के समान कठिन व्रत सत्पुरुषों को किसने बताया है।

(१०)

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं ।
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ॥
विपद्युच्चैः स्थैर्यं पदमनुविधेयं च महतां ।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधारा व्रतमिदम् ॥

सज्जन अपने प्राण भले ही त्याग दें, पर वे नीच कर्म नहीं करते, वे दुष्ट जनों के सामने हाथ नहीं फैलाते, अल्पधन होने पर मित्र से भी याचना नहीं करते हैं। विपत्ति में भी वे महान् बने रहते हैं और सत्पुरुषों का ही आचरण करते हैं। सज्जनों के लिए यह कठिन व्रत किसने निर्दिष्ट किया है—अर्थात् ये तो उनके स्वाभाविक गुण होते हैं।

(११)

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखं।—भर्तृहरि

मनस्वी और कार्यार्थी लोग दुःख और सुख में एक-से रहते हैं, उनकी परवाह नहीं करते हैं।

(१२)

महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम्—बड़े आदमी बड़े आदमियों के साथ ही वीरता दिखाते हैं।

(१३)

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्
आशु ग्रंथस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥—विदुर

जो वाणी-व्यवहार में कुशल, यथातथ्य वर्णन करनेवाला, तर्क-वितर्क में प्रवीण, प्रतिभाशाली, ग्रंथ-अभिप्राय को शीघ्र समझनेवाला होता है, वही पण्डित कहलाता है।

राष्ट्र-भारती की कुछ सूक्तियाँ

१—रहिमन मोहिं न सुहाय, अमी पियावत मान बिन।
वरु विष देय बुलाय, मान-सहित मरिबो भलो॥
—रहीम

२—आवत ही हरषे नहीं, नैनन नहीं स्नेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसे मेह॥—तुलसी

३—तुलसी तृण जल कूल को, निरधन निपट निकाज।
कै राखे कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज॥—तुलसी

४—प्रेम बैर अरु पुण्य-अघ, जस अपजस जय-हान।
बात-बीज इन सबन को, तुलसी कहहिं सुजान॥—तुलसी

५—गुनी जनन के हृदय को, बेधत है सो कौन।
असमझवार सराहिबो, समझवार को मौन॥ —अज्ञात

६—तुलसी असमय के सखा, धीरज, धरम, विवेक।
साहित, साहस, सत्यव्रत, राम भरोसो एक॥—तुलसी

७—कलह न जानब छोट करि, कलह कठिन परिनाम।
लगति अगिनि लघु नीच गृह, जरत धनिक धनधाम॥
—तुलसी

८—काहु न कोऊ सुख दुखकर दाता।
निज कृत करम भोग सब भ्राता॥ —तुलसी

९—जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ बिपति निधाना॥ —तुलसी

१०—जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तरवारि का, पड़ा रहन दो म्यान॥ —कबीर

११—जिन ढूँढा तिन पाइया, गहिरे पानी पैठ।
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठ॥ —कबीर

१२—नाँव न जाने गाँव का, बिन जाने कित जावँ।
चलता-चलता जुग भया, पाव कोस पर गाँव॥—कबीर

१३—धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥ —कबीर

१४—आब गया, आदर गया, नैनन गया सनेह।
ये तीनों तब ही गये, जबहिं कहा कछु देह॥ —कबीर

१५—कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें, संत सुभाव गहौंगो॥
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो॥
बिगतमान सम सीतल मन परगुन औगुन न कहौंगो।
परिहरि देहजनित चिन्ता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
'तुलसीदास' प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो॥
—तुलसी

१६—कुलबल जैसो होय सो, तैसो करिहै बात।
बणिक पुत्र जानै कहा, गढ़ लेवे की बात॥

अँग्रेजी की कुछ सूक्तियाँ

(१)

A single man without a family and traditions, who has a fanatical belief in a higher mission may go beyond the limits of human law.

—Manstein, Commander-in-Chief, German Army.

मैनस्टीन ने 'न्यूरमबर्ग ट्रायल' में हिटलर के सम्बन्ध में गवाही देते हुए कहा था—

एक अकेला मनुष्य जिसके पीछे कोई वंश या कुल-परम्परा नहीं, जिसे उच्चतर आदर्श की प्रबल आकांक्षा हो, साधारण मानव-धर्म का अतिक्रमण कर सकता है।

(२)

The crowd loves the strong man, the crowd is like a woman —Mussolini.

जनता बलवान पुरुष को चाहती है; वह स्त्री की तरह होती है।

(३)

The heights by great men reached and kept,
Were not attained by sudden flight.
But they, while their companions slept,
Were toiling upwards in the night.

—Longfellow.

महान् व्यक्तियों ने जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है, वह उन्हें एकाएक एक ही प्रयास में नहीं मिल गई है। जब उनके अन्य साथी लोग सोये पड़े थे तो वे चुपचाप आत्मोत्थान के लिये प्रयत्नशील थे। इस प्रकार वे उच्चता के शिखर पर पहुँचकर उच्च बन सके।

(४)

But for me and for us all, reverses are nothing but strokes of the whip, and it is practically these which we needed to drive us forward.

—Hitler.

मेरे लिये और हमारे सबके लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ और कुछ नहीं केवल चाबुक के प्रहार हैं और वस्तुतः आगे बढ़ने के लिये हमें इन्हीं की आवश्यकता थी।

(५)

A people which is not convinced of its own value can never achieve anything. —Hitler.

जो जाति अपने गौरव को नहीं समझती, वह कभी उन्नति नहीं कर सकती।

(६)

The punishment suffered by the wise who refuse to take part in Government is to live under the Government of bad men —Plato.

ऐसे बुद्धिमान् व्यक्ति, जो गवर्नमेन्ट के संचालन में स्वयं नहीं भाग लेते, दुष्ट मनुष्यों द्वारा शासित होने का दंड भोगते हैं।

(७)

A bad man is worse when he pretends to be a saint. —Bacon.

जो दुष्ट होकर भी साधु होने का ढोंग करता है, वह महा-दुष्ट है।

(८)

Liberty is not merely a privilege to be conferred, it is a habit to be acquired

Llyod George.

स्वतन्त्रता केवल दूसरों द्वारा प्राप्त होने वाला एक विशेषाधिकार नहीं है, बल्कि वह एक स्वभाव-सुलभ गुण है जिसका अभ्यास करना पड़ता है।

(९)

We know accurately only when we know little; with knowledge doubt increases.—Goethe

जब हम ज्ञान के भार से दबे नहीं रहते तो जितना जानते हैं उसको शुद्ध और निर्दोष रूप में अर्थात् पूर्णरूपेण जानते हैं; ज्ञान की अजीर्णता के साथ चित्त में भ्रम-सन्देह की भी वृद्धि होती है।

(१०)

Even the best things are not equal to their fame. —Thoreou

सर्वोत्तम वस्तुएं भी अपनी प्रसिद्धि के समान श्रेष्ठ नहीं होतीं।